UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186635

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H320 अ97 N Accession No. H 2258

Author गुप्त रामनारायण

Title नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

This book should be returned on or before the date last marked below.

नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त

लेखक

राजनारायण गुप्त

एम० ए० (**अर्थशास्त्र और राजनीति**), एल-एल० बी०,
लेखक, भारतीय संविधान तथा नागरिक जीवन,
भारतीय नागरिकता और हमारा नया संविधान,
आदर्श नागरिकता, हमारा नया संविधान,
Principles of Civics, Indian
Constitution & Civic Life etc.

किताब महल, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४८
द्वितीय संस्करण, १९५०
तृतीय संस्करण, १९५१
चतुर्थ संस्करण, १९५२
पंचम संस्करण, १९५३
षष्ठम संस्करण, १९५४

प्रकाशक--किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक--पं० पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, बनारस।
B-E-E-G-H-J

छठें संस्करण की प्रस्तावना

पुस्तक के प्रस्तुत संस्करण में बहुत से संशोधन किये गये हैं। अनेक अध्यायों में बहुत-सी नई सामग्री जोड़ी गई है। सन् १९५८ की परीक्षा में पूछे जानेवाले प्रश्नों का उत्तर संबंधित अध्यायों में दे दिया गया है। अध्यायों के प्रबंध में भी कुछ आवश्यक परिवर्तन किए गये हैं, उदाहरणार्थ ९ वें और १० वें अध्यायों की संख्या २१ और २२ कर दी गई है जिससे अध्यापक इन विषयों को उसी क्रम में पढ़ा सकें जिसमें उनका उल्लेख पाठ्य-क्रम में किया गया है। मुझे पूर्ण आशा है कि इस संशोधित रूप में पाठक इस पुस्तक को पहिले से कहीं अधिक उपयोगी पायेंगे।

लखनऊ, **राजनारायण गुप्त**

ता० ३०-७-५८

पाँचवें संस्करण की प्रस्तावना

'नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त' का पंचम संशोधित संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। लेखक उन सभी विद्यार्थियों एवं इस विषय के अध्यापकों का हृदय से आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक को अपनाकर उसे उत्साहित किया है।

लखनऊ, १२।६।५३ **राजनारायण गुप्त**

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त' का प्रथम २००० पुस्तकों का संस्करण एक वर्ष में ही समाप्त हो गया, यह इस पुस्तक की लोकप्रियता तथा उपयोगिता का समुचित प्रमाण है। लेखक नागरिकशास्त्र के उन सभी अध्यापकों का हृदय से आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक को अपने पाठ्य-क्रम में स्थान देकर उसे इस बात का अवसर प्रदान किया कि वह इस पुस्तक का दूसरा संशोधित संस्करण इतना शीघ्र निकाल सके। प्रस्तुत संस्करण में बहुत-सी नई सामग्री जोड़ दी गई है तथा भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा नये संविधान के लागू होने से उत्पन्न स्थिति का पूर्ण विवरण भी दे दिया गया है। इस संस्करण में राजनीतिक शब्दों का प्रयोग उसी भाषा में किया गया है जिसमें कि वह भारत के नये हिन्दी संविधान में प्रयोग में लाये गये हैं। इस प्रकार अंग्रेजी राजनीतिक शब्दों का अनुवाद प्रामाणिक कहा जा

सकता है। पुस्तक के अंत में अंग्रेजी तथा हिन्दी में ऐसे सब शब्दों की सूची दे दी गई है जो साधारणतया नागरिक तथा राजनीति शास्त्र के अध्ययन में प्रयोग में आते हैं। आशा है इससे पाठकों को इन गूढ़ विषयों को हिन्दी में अध्ययन करने में आसानी होगी। पुस्तक अत्यन्त ही सरल तथा रोचक भाषा में लिखी गई है और आशा है कि इस कारण नागरिक-शास्त्र के अध्ययन में उन सब विद्यार्थियों को भी सुविधा रहेगी जिनका हिन्दी का ज्ञान अभी सीमित है। मुझे पूर्ण आशा है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक संशोधित संस्करण को पहले से कहीं उपयोगी पायेंगे।

नई दिल्ली, **राजनारायण गुप्त**

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना से

अब तक नागरिकशास्त्र पर अंग्रेजी भाषा में ही पुस्तकें मिलती थीं क्योंकि विद्यार्थियों को यह विषय अंग्रेजी में ही पढ़ाया जाता था। परन्तु हिन्दी हमारे देश की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है इसलिए इस विषय पर अब कुछ पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई हैं। परन्तु इनमें से अधिकतर पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें बोर्ड द्वारा स्वीकृत एफ० ए० के पाठ्य-क्रम का कोई ध्यान नहीं रखा गया है और जिन्हें एफ० ए० परीक्षार्थियों के लिए उपयुक्त और प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इन सब बातों पर ध्यान दिया है। एफ० ए० के विद्यार्थियों और जनसाधारण को इस विषय का समुचित ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक सरल हिन्दी में लिखी गई है। प्रयत्न इस बात का किया गया है कि कोई भी विषय, जिस पर परीक्षा में प्रश्न पूछे जाने हैं, अछूता न रह जाय। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उन प्रश्नों की एक सूची भी दे दी गई है जो अब तक उस अध्याय के विषय के सम्बन्ध में यू० पी० की एफ० ए० की परीक्षा में पूछे गये हैं।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने अनेक प्रामाणिक (Standard) अंग्रेजी तथा हिन्दी की पुस्तकों से सहायता ली है। इसलिए मैं उन सभी पुस्तकों के लेखकों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत कृति में जिस उद्देश्य को सामने रखा गया है वह कहाँ तक सफल हुआ है, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। परन्तु यदि इस पुस्तक से कुछ भी सुविधा विद्यार्थियों को इस विषय के समझने में मिल सकी तो लेखक अपने परिश्रम को सार्थक समझेगा।

नई दिल्ली, **राजनारायण गुप्त**

ता० १ जनवरी, १९४८

विषय-सूची

अध्याय १—**नागरिकशास्त्र का अर्थ, क्षेत्र तथा दूसरे विषयों से संबंध**—नागरिकशास्त्र क्या है ? नागरिकशास्त्र की परिभाषा, नागरिकशास्त्र की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ, नागरिकशास्त्र का क्षेत्र (Scope), नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला ?, नागरिकशास्त्र की अध्ययन-विधि, नागरिकशास्त्र का मानव-ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध, नागरिकशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता, भारत-वासियों के नागरिकशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्त्व। **पृष्ठ १**

,, २—**व्यक्ति और समाज**—समाज का अर्थ, समाज की आवश्यकता, समाज और मनुष्य के सम्बन्ध का स्वरूप, समाज का मूल, समाज का विकास, वर्तमान समाज का संगठन । **पृष्ठ २२**

,, ३—**व्यक्ति और उसके संघ** (Association)—संघ का अर्थ, संघों की आवश्यकता, संघों का वर्गीकरण, विभिन्न प्रकार के संघों के प्रति भक्ति का प्रश्न । **पृष्ठ ४७**

,, ४—**व्यक्ति और उसका परिवार**—परिवार की परिभाषा, परिवार का विकास, परिवार के सदस्यों के कर्तव्य तथा अधिकार, पारिवारिक जीवन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें । **पृष्ठ ५८**

,, ५—**नागरिक और नागरिकता**—नागरिक तथा नागरिकता की परिभाषा, नागरिकता का विकास, नागरिकता का निर्णय, नागरिकता की प्राप्ति, नागरिकता का लोप. भारतीय नागरिकता, अच्छी नागरिकता, आदर्श नागरिकता के लिए आवश्यक गुण, आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएँ दूर करने के उपाय। **पृष्ठ ६७**

,, ६—**अधिकार और कर्तव्य**—अधिकारों की परिभाषा, अधिकारों का विकास, अधिकारों की आवश्यकता, अधिकार और कर्तव्यों का पारस्परिक संबंध, अधिकारों के प्रकार, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार, भारतीय जनता के अधिकार, नागरिकों के राज्य के प्रति कर्तव्य । **पृष्ठ ९२**

,, ७—**स्वतंत्रता**—स्वतन्त्रता का स्वभाव, स्वतन्त्रता शब्द का भ्रममूलक अर्थ, स्वतन्त्रता शब्द का सही अर्थ, सार्वभौमिकता तथा स्वतन्त्रता, कानून और स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता की आवश्यकता, स्वतन्त्रता का वर्गीकरण। **पृष्ठ १२४**

अध्याय ८—समानता—समानता शब्द के विषय में भ्रमात्मक धारणाएँ, समानता का सही अर्थ, समानता का वर्गीकरण, समानता और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध, समानता की आवश्यकता। **पृष्ठ १३३**

,, **९—राज्य और उसके तत्व**—राज्य की परिभाषा, राज्य की कुछ अन्य शब्दों से भिन्नता, राज्य का समाज से अन्तर, राज्य और संघ का अन्तर, राज्य और सरकार का अन्तर, राज्य और राष्ट्र का अन्तर, राज्य और देश का अन्तर, क्या उपनिवेश राज्य हैं ?, राज्य की आवश्यकता, राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है, राज्य की आज्ञा पालन करना क्यों आवश्यक है ? **पृष्ठ १३९**

,, **१०—राज्य की उत्पत्ति**—दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त, पितृप्रधान सिद्धान्त, मातृप्रधान सिद्धान्त, राज्य-निर्माण के अंग। **पृष्ठ १५५**

,, **११—संप्रभुता अथवा सार्वभौमिकता**—सार्वभौमिकता का अर्थ, सार्वभौमिकता के अङ्ग, सार्वभौमिकता की परिभाषाएं, सार्वभौमिक सिद्धांत की आलोचना, सिद्धान्त का औचित्य, सार्वभौमिक सत्ता के प्रकार। **पृष्ठ १६६**

,, **१२—विधि अथवा कानून**—कानूनों का स्वभाव, कानूनों के प्रकार, कानून और नैतिकता, भौतिक तथा सामाजिक कानून, कानून के स्रोत, अच्छे और बुरे कानूनों में अन्तर, वह अवस्थाएं जिनमें नागरिक कानूनों की अवहेलना कर सकते हैं। **पृष्ठ १७५**

,, **१३—राज्य का संविधान**—शासन संविधान का अर्थ, संविधान की आवश्यकता, संविधानों के प्रकार, विकसित और निर्मित संविधान, लिखित और अलिखित संविधान, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान, एकात्मक और संघात्मक संविधान, संघात्मक संविधान की विवेचना। **पृष्ठ १८९**

,, **१४—राज्यों और शासन का वर्गीकरण**—वर्गीकरण का आधार, अरस्तू का वर्गीकरण, शासनों का प्राचीन वर्गीकरण, राजतन्त्र कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र, शासनों के गुण और दोष तथा उनकी विस्तृत विवेचना, प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ, प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्तें, प्रजातन्त्र का भविष्य, प्रजातन्त्र के आधुनिक प्रकार, प्रस्तावाधिकार, लोकमत संग्रह, प्रत्यावर्तन, जनमत संग्रह, प्रजातन्त्र शासनों का आधुनिक वर्गीकरण, अध्यक्षात्मक तथा मंत्रिमंडलात्मक शासन, उनके गुण तथा दोष, संघीय तथा एकात्मक शासनों के गुण तथा दोष। **पृष्ठ २०१**

,, **१५—राज्य का स्वभाव, उद्देश्य तथा कार्य**—राज्य कृत्रिम है अथवा स्वाभाविक ?, राज्य का उद्देश्य, राज्य के कार्य रूपी सिद्धान्त, व्यक्तिवादी सिद्धान्त, समाज-

वादी सिद्धान्त, आदर्शवादी सिद्धान्त, राज्य के आवश्यक तथा ऐच्छिक कर्तव्य । पृष्ठ २३५

अध्याय १६—**अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त और शासन के मुख्य अङ्ग**—अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त, सिद्धान्त की आलोचना तथा औचित्य, स्वतन्त्र न्याय विभाग की आवश्यकता, व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी तथा न्याय समिति का सङ्गठन और उनके कार्य, द्वितीय सभा का प्रश्न, उसके लाभ तथा हानि । पृष्ठ २५२

,, १७—**प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था**—मताधिकार का प्रश्न, वयस्क मताधिकार, स्त्री मताधिकार, शिक्षित मताधिकार, धनी मताधिकार, चुनावों के तरीके, अल्पसंख्यक जातियों को प्रतिनिधित्व देने के तरीके, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष चुनाव, आदर्श चुनाव प्रथा । पृष्ठ २६८

,, १८—**राजनीतिक दल**—दलों के निर्माण के आधार, विभिन्न देशों के राजनीतिक दल, भारत के राजनीतिक दल, दल प्रथा के लाभ तथा हानियाँ । पृष्ठ २८७

,, १९—**जनमत**—जनमत का महत्त्व, जनमत और प्रजातन्त्रीय शासन, जनमत और तानाशाही, जनमत क्या है ?, जनमत के निर्माण में रुकावटें, सही जनमत बनाने की शर्तें, जनमत को बनाने तथा व्यक्त करने के साधन । पृष्ठ ३००

,, २०—**स्थानीय स्वराज्य**—स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता, स्थानीय स्वराज्य की विभिन्न संस्थाएँ, अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त स्थानीय संस्थाओं के कार्य, भारतीय स्थानीय संस्थाएँ । पृष्ठ ३०८

,, २१—**राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता**—राष्ट्रीयता की परिभाषा, राष्ट्र क्या है ? राष्ट्रीय भावना के विभिन्न अंग, भारतवर्ष एक राष्ट्र है अथवा नहीं ? राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का महत्व, अंतर्राष्ट्रीयता, दोनों मतों का समन्वय । पृष्ठ ३१६

,, २२—**सामाजिक शक्तियाँ**—शिक्षा, शिक्षा और प्रजातन्त्रवादी शासन, शिक्षा किस प्रकार की हो, प्रारंभिक शिक्षा, मौलिक शिक्षा, माध्यमिक और उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा, भारतवर्ष की दशा, दंड, दंड की व्याख्या, दंड का प्रयोजन, दंड के सिद्धान्त, सम्पत्ति, सम्पत्ति की उत्पत्ति, व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से लाभ तथा हानियाँ । ३२६

,, २३—**नागरिक आदर्श**—नागरिक जीवन में अधिकारों का स्थान, मनुष्य जीवन का शक्ति आदर्श, सेवा या कर्तव्य पालन का आदर्श । पृष्ठ ३४१

उपसंहार—अंग्रेजी में प्रयोग होनेवाले राजनैतिक शब्दों का हिंदी में अनुवाद । पृष्ठ ३४५

अध्याय १

नागरिकशास्त्र का अर्थ, क्षेत्र तथा दूसरे विषयों से संबंध

§ १. नागरिकशास्त्र क्या है ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है और समाज में ही बड़ा होकर अपने जीवन का विकास करता है। वह समाज को छोड़ नहीं सकता। जिस प्रकार एक मछली पानी से अलग अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग होकर न जीवित रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। घर में, स्कूल में, गाँव में, कारखाने में, खेत में, मन्दिर में, दफ्तर में अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर रहता, काम करता और कमाता है। इस प्रकार एक साथ रहना और एक दूसरे के सहयोग से मिल-जुलकर काम करना मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी देन है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हमारे सामाजिक जीवन या एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने में किसी प्रकार का संघर्ष पैदा नहीं होता। मनुष्य की बहुत-सी इच्छाएँ और उद्देश्य इस प्रकार के होते हैं कि वे दूसरे मनुष्यों की इच्छाओं और उद्देश्यों से समानता नहीं रखते। उदाहरण के लिए एक मनुष्य पुस्तकों से प्रेम रखता है, दूसरा उन्हें जरा भी पसन्द नहीं करता। कुछ लोग शराब पीना पसन्द करते हैं, दूसरे इसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग मांस खाना चाहते हैं, दूसरे इसे छूते तक नहीं। इस प्रकार यह हो सकता है कि असमान इच्छा रखनेवाले मनुष्यों में झगड़ा हो जाय।

झगड़ों के और भी अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग एक प्रकार से अपने भगवान की पूजा करते हैं और दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोग ठीक इसके विपरीत ढङ्ग से। हमारे देश के हिन्दू और मुसलमानों की आरती और नमाज का झगड़ा इसी प्रकार के संघर्ष का एक उदाहरण है। समाज में मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए सामग्री की कमी और सरकार के कुप्रबन्ध के कारण भी अनेक प्रकार के झगड़े हो जाया करते हैं। अकाल के समय एक-एक अन्न के दाने को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों का एक दूसरे के साथ लड़ना और सरकार के प्रबन्ध में जरा सी शिथिलता आ जाने पर जगह-जगह लड़ाई, दंगों और फिसाद का होना इसी बात का द्योतक है।

झगड़े और संघर्ष से मनुष्य के सामाजिक जीवन को भारी ठेस पहुँचती है। मनुष्य एक दूसरे से प्रेम करने की अपेक्षा घृणा करने लगते हैं। वह अपने भाइयों की सहायता

करने की अपेक्षा उनके विनाश के उपाय सोचने लगते हैं। सामाजिक जीवन में संघर्ष से आपस का स्नेह और विश्वास उठ जाता है, मनुष्य की नारकीय प्रवृत्तियाँ जागृत हो उठती हैं, उसके अन्दर से देवी गुणों का लोप होने लगता है, समाज की उन्नति भी रुक जाती है और देश की शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है।

नागरिकशास्त्र इसी प्रकार के संघर्ष, कलह, झगड़े और सामाजिक विषाद को दूर करने की विद्या है। यह वह विज्ञान है जो मनुष्यों को आपस में मिल-जुलकर रहना, एक दूसरे से प्रेम करना, एक दूसरे के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करना और एक दूसरे के सहयोग से जीवन में उन्नति करना सिखाता है। हम अपने जीवन को पूर्णरूप से किस प्रकार सुखी और समृद्ध बना सकते हैं, अपने व्यक्तित्व का किस प्रकार पूर्णरूप से विकास कर सकते हैं और अपने आपको किस प्रकार एक आदर्श समाज का नागरिक बना सकते हैं—ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें स्पष्ट उत्तर देता है।

नागरिकशास्त्र की परिभाषा

नागरिकशास्त्र की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ लेखकों का मत है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान है।"[१] दूसरे लेखकों का मत है कि नागरिकशास्त्र वह विद्या है जो "हमारे अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान कराती है।"[२] एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक गोल्ड (Gould) का कहना है कि नागरिक-शास्त्र "उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई मनुष्य या स्त्री अपने कर्तव्य की पूर्ति कर सके और एक राजनीतिक सम्प्रदाय के सदस्य होने के लाभ प्राप्त कर सके।"[३] एक दूसरे विचारक डा० ई० एम० ह्वाइट का कहना है, "नागरिक शास्त्र मानव ज्ञान की वह शाखा है जो नागरिकों से संबंधित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक और धार्मिक) पर विचार करती है। इसके साथ ही वह नागरिकता के अतीत, वर्तमान, भविष्य, स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं का विश्लेषण करती है।"[४] प्रसिद्ध भारतीय लेखक पुन्ताम्बेकर का कथन है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।"[५] यदि हम इन ऊपर दी हुई

१ "Civics is the science of citizenship."

२ "Civics is the science of rights and duties of man."

३ "Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfil the duties and receive the benefits of membership of a political community." (P. G. Gould).

४ "Civics is that more or less useful branch of human knowledge which deals with everything (e. g. Social, political, intellectual, economic and even religious aspects) relating to a citizen; past, present and future, local, national and human." (Dr. E. N. White)

५ "Civics is the science and philosophy of citizenship."

नागरिकशास्त्र की परिभाषाओं में से प्रत्येक परिभाषा का विश्लेषण करें तो हमें इस बात का ज्ञान हो जायगा कि नागरिकशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान करना है जिनके द्वारा वह समाज में सबसे अच्छा सुखी, उपयोगी और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिए हमारी राय में इस विज्ञान की सबसे सुन्दर परिभाषा यह है कि "नागरिकशास्त्र वह विज्ञान है जो सबसे अच्छे सामाजिक जीवन की दशाओं का अध्ययन करता है।"[१]

हम अपने पड़ोसियों के साथ कैसे रहें, किन बातों से हमारा और हमारे पड़ोसियों का जीवन सुन्दर और सुखी हो सकता है, किन बातों को पूरा करने से हम अपने और अपने पड़ोसियों के बीच का भेद-भाव तथा संघर्ष मिटा सकते हैं, किन बातों को पूरा करने से हम इस पृथ्वी पर एक सच्चे स्वर्ग की स्थापना कर सकते हैं, ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें सही उत्तर देता है। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र हमारे जीवन के उन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देता है जिन पर मनुष्य की सामाजिक उन्नति और शांति निर्भर है।

§ २. नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

प्रत्येक शास्त्र का अपना क्षेत्र होता है। कोई शास्त्र जड़ पदार्थों का अध्ययन करता है तो कोई जीव-जन्तुओं का। कोई शास्त्र रेखाओं का ज्ञान करता है तो कोई अंकों का। कोई शास्त्र मनुष्य-जीवन के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है तो कोई राजनीतिक पहलुओं का। यह सच है कि इन शास्त्रों का और विशेषकर सामाजिक विज्ञानों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हम एक सामाजिक विज्ञान और दूसरे सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र के बीच कोई लोहे की दीवार खड़ी नहीं कर सकते। किन्तु फिर भी प्रत्येक विज्ञान की अपनी एक परिधि होती है—एक सीमा होती है। उस सीमा के बाहर की चीजों का वह विज्ञान अध्ययन नहीं करता।

नागरिकशास्त्र के विज्ञान की भी एक परिधि है। पुराने जमाने में लोगों का विचार था कि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध केवल मनुष्य के नागरिक जीवन से है। वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस प्रकार का गलत विचार पुराने लेखकों में इस प्रकार हुआ कि नागरिकशास्त्र का जन्म ग्रीस और रोम के नगरों में हुआ था। उस जमाने में मनुष्य का सामाजिक जीवन शहर की चहारदीवारी तक ही सीमित होता था। शहर के बाहर न आने-जाने के साधन थे, न तार-टेलीफोन और न पुलिस और फौज का ही प्रबन्ध। इस कारण मनुष्य का सारा जीवन नगर में ही व्यतीत होता था और उस जमाने के नागरिक और सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का अन्तर न था। अतः रोम और ग्रीस के विचारकों ने यही समझा कि नागरिकशास्त्र केवल नगर के सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का ही अध्ययन करता है।

१ "Civics is the science which studies the conditions of the best possible social life."

परन्तु आजकल के जमाने में सामाजिक जीवन नगर की चहारदीवारी में ही बन्द नहीं, आज तो वह सारे भूमण्डल पर ही फैल गया है। एक प्रकार से यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि आज सारी पृथ्वी ही एक नगर बन गई है। यातायात के साधनों की क्रान्ति ने देश-देश के फ़ासलों का अन्त करके उनको एक ही सामाजिक जीवन का अंग बना दिया है। आज अमरीका में बैठे हुए एक मनुष्य का रेडियो पर दिया गया भाषण हम तुरन्त ही अपने घर में बैठकर सुन सकते हैं। यदि हमें इङ्गलैण्ड पहुँचना हो तो कुछ ही घंटों की हवाई जहाज़ की उड़ान के पश्चात् हम लंदन या मानचैस्टर के शहरों की सैर कर सकते हैं। देश-विदेश की बनी हुई चीजें कुछ ही दिनों में हमारे नगरों में पहुँच जाती हैं। इसलिए यह कहना उचित होगा कि आजकल हमारा सामाजिक जीवन उतना ही व्यापक बन गया है जितना भूमण्डल का क्षेत्र। अतः **नागरिकशास्त्र आजकल मनुष्य के केवल नागरिक जीवन का ही अध्ययन नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है,** फिर वह सामाजिक जीवन चाहे घर का हो अथवा बाहर का, गाँव का हो अथवा नगर का, देश का हो अथवा सारे संसार का।[1]

नागरिकशास्त्र मनुष्य के वर्तमान सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—इतना ही नहीं, नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन सारी संस्थाओं का भी अध्ययन करता है जिनको वह अपने जीवन को नियमित और संगठित बनाने के लिए, जाने या अनजाने, जन्म देता है। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र, विवाह-पद्धति, शिक्षा, सम्पत्ति, दण्ड, कानून, शासन-संगठन, इत्यादि ऐसी सारी संस्थाओं का अध्ययन करता है जिनका मनुष्य के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह शास्त्र मनुष्य की उन सारी संस्थाओं—जैसे कुटुम्ब, राज्य, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं, सांस्कृतिक संगठन इत्यादि का भी अध्ययन करता है जिनको मनुष्य अपने जीवन का विकास करने के हेतु जन्म देता है।[2]

नागरिकशास्त्र मनुष्य के भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान सामाजिक जीवन से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी दृष्टि डालता है। ऐसा करना नागरिकशास्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ऐसा न करने पर वर्तमान सामाजिक जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। आज का सामाजिक जीवन हमको भूतकाल की देन है। अतः हमको यह जानना आवश्यक है कि किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, वह किन

१ "Civics studies not only the village and the city but also the nation and the world."

२ "Civics studies all the associations, institutions and communities with which man is connected in his social life."

परिस्थितियों में पैदा हुआ और वह उनको कहाँ तक सफलता के साथ पूरा कर सका। तभी हम सामाजिक संस्थाओं और सभाओं के महत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र को एक सरसरी नजर भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी डालनी पड़ती है।

नागरिकशास्त्र भविष्य का आदर्श निश्चित करता है—नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान और भूतकाल से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भविष्य से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका ध्येय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसी अवस्थाओं का अध्ययन करना है जिनमें सामाजिक जीवन अच्छे से अच्छा हो सके। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र इस बात पर ध्यान देता है कि हमारा भविष्य का समाज कैसा हो और वह किस प्रकार हो। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि **नागरिकशास्त्र समाज का वह निरीक्षण है जो समाज-सेवा में लगाया जाता है।**[1] वह समस्त समाज के भूतकालीन और वर्तमान स्वरूप का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि भावी समाज एक निरंतर आनंद और प्रेम के वातावरण में फल फूल सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह ग्राम और नगर, देश और दुनिया, घर और बाहर, खेत-कारखाने, मन्दिर और रंगभूमि, भूत, वर्तमान और भविष्य सबके ही जीवन से सम्बन्धित है।[2] दूसरे शब्दों में इसका क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के समान विस्तृत और उनका सहगामी है।[3]

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र व्यापक ही नहीं, वरन् बढ़ता ही जा रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की सभ्यता का विकास होता है त्यों-त्यों नागरिकशास्त्र का क्षेत्र भी बढ़ता है। इसलिए यह कहना उचित होगा कि नागरिकशास्त्र केवल एक स्थायी विज्ञान ही नहीं, वरन् प्रगतिशील विद्या है।

§ ३. नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला?

नागरिकशास्त्र विज्ञान है

नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति में यह विज्ञान है और कुछ की सम्मति में नहीं। जो विद्वान् नागरिकशास्त्र को विज्ञान नहीं बताते वे विज्ञान शब्द का अर्थ केवल यह समझते हैं कि विज्ञानशास्त्र वह विद्या है जो अपनी अध्ययन वस्तु के व्यवहार के विषय में निश्चित और

---

१ "Civics is social survey applied to social service"—*Ward.*

२ White defines civics as "that branch of human knowledge which studies everything appertaining to citizenship—past, present and future, local, national and human."

३ "Civics is co-extensive with civilisation and citizenship."—*W. I. Gould.*

स्थिर सिद्धान्त निर्धारित कर सके, जैसे भौतिकशास्त्र (Physics) या रसायनशास्त्र (Chemistry) में हम कह सकते है कि चीजें गरम करने से फैलतीं और ठंडा करने से सिकुड़ती हैं, या दो अंश हाइड्रोजन और एक अंश ऑक्सीजन मिलाने से पानी बन जाता है। भौतिक और रसायनशास्त्र के यह नियम अटल हैं, उनमें कभी किसी प्रकार की ग़लती नहीं हो सकती। सामाजिकशास्त्रों के नियम इस प्रकार सत्य नहीं हो सकते। अनुभव के आधार पर हम ऐसे नियम तो अवश्य बना सकते हैं जो अधिकांश दशाओं मे सत्य हों परन्तु हम ऐसे नियम नहीं बना सकते जिनके बारे में हम कह सकें कि वह शत-प्रतिशत सत्य है और उनमें कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र के एक नियम का हम इस प्रकार उल्लेख कर सकते है कि यदि किसी देश में सच्चा प्रजातंत्र शासन हो तो वहाँ की जनता सुखी रहती है। परन्तु यह नियम जरूरी नहीं कि प्रत्येक देश और प्रत्येक प्रजातंत्रवादी शासन के लिए सही साबित हो। संसार में कितने ही प्रजातंत्रवादी देश हैं जहाँ जनता सुखी नहीं और इसके अनेक कारण हैं। इसलिए सामाजिक शास्त्रों के नियमों के विषय में यह कहना उचित होगा कि वह संभावनाएँ तो बतला सकते है परन्तु एक निश्चित व सर्वथा सत्य नियम नहीं बना सकते। इसी कारण नागरिकशास्त्र और दूसरे सामाजिक शास्त्रों के विषय में कुछ विद्वानों का कहना है कि इन शास्त्रों को विज्ञान (Science) का नाम ही नहीं देना चाहिए। परन्तु यह मत ठीक नहीं।

किसी शास्त्र का वैज्ञानिक होना इस बात पर निर्भर नहीं कि उसके सिद्धान्त सर्वथा सत्य हैं या नहीं। विज्ञान का असली अर्थ तो वह विद्या है जिसका अध्ययन एक क्रमबद्ध नियम के अनुसार किया जा सके और जो कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर सके।[१] गार्नर के मतानुसार "विज्ञान वह क्रमबद्ध ज्ञान है जो उचित प्रकार के निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन तथा वर्गीकरण द्वारा प्राप्त हुआ हो।"[२] नागरिकशास्त्र इस दृष्टि से विज्ञान है कि उसकी एक निश्चित शास्त्रीय अध्ययन पद्धति है, और उसमें ऐसे नियमों की खोज की जाती है जिन पर चलकर मनुष्य एक आदर्श नागरिक जीवन व्यतीत कर सके, तथा समाज में स्थाई शांति और आनन्द का वातावरण निर्माण हो सके। यह सच है कि नागरिक शास्त्र के नियम अटल और निश्चित नहीं होते, परन्तु कुछ भौतिक विज्ञान भी ऐसे होते हैं जिनके नियम निश्चित नहीं है परन्तु जिनकी वैज्ञानिकता के विषय में किसी को सन्देह नहीं होता। उदाहरणार्थ मैटीयॉरॉलौजी (Meteorology) शास्त्र मौसम के विषय का अध्ययन करता है और अपने सिद्धान्तों के आधार पर मौसम के विषय में पूर्वानु-

१ "Science is body of systematized knowledge. It is something which lays down a relationship between a cause and an effect.

२ Science is a knowledge relating to a particular subject acquired by a systematic observation, experience or study which have been coordinated, systematized and classified." (Garner)

मान करता है। कई बार यह अनुमान गलत भी निकलते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उक्त शास्त्र एक अन्धे की सूझ के समान है, वरन् इसका अर्थ तो यही है कि इस शास्त्र का विषय इतना विषम है कि उसके सम्बन्ध में हम अभी संभावना ही व्यक्त कर सकते हैं। ऐसे ही और भी बहुत से ज्ञान हैं जिनका हम विधिपूर्वक अध्ययन करते हैं और जो जीवन के लिए उपयोगी हैं परन्तु जो निश्चित सिद्धान्त न बनाकर केवल संभावित सिद्धान्त ही निश्चित करते हैं, ऐसे शास्त्रों को विज्ञान न मानना भारी भूल है। वास्तव में वह सब विज्ञान हैं, कारण उनका क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित स्वरूप है और उनके सिद्धान्त निरीक्षण, प्रयोग, तथा दार्शनिक विवेचन पर आधारित होते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान नहीं वरन् कला है।

नागरिकशास्त्र कला भी है

कला का अर्थ वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग है।[1] मनुष्य एक अच्छा नागरिक, नागरिकशास्त्र के ज्ञान से या इस शास्त्र की मोटी-मोटी पुस्तकों के पढ़ने से नहीं बनता किन्तु इस ज्ञान को अपने रोजाना के जीवन में परिणत करने से बनता है। यह बात ठीक है, परन्तु इससे यह मतलब निकालना कि नागरिकशास्त्र केवल एक कला है, विज्ञान नहीं, सर्वथा अनुचित है। संगीत एक कला भी है और विज्ञान भी। संगीत का विज्ञान हमें राग-रागिनियों की पहचान और स्वरों का शुद्ध स्वरूप सिखाता है। संगीत की कला का सम्बन्ध गाने से है। संगीतशास्त्र के पंडित के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह एक अच्छा गायनाचार्य भी हो, परन्तु एक अच्छे गायक के लिए संगीत-शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। ठीक इसी प्रकार नागरिकशास्त्र एक विज्ञान भी है और कला भी। एक अच्छे नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह नागरिकता के नियम भी जानता हो और उन पर ठीक प्रकार से अमल भी करता हो। नागरिकशास्त्र का अध्ययन निश्चित विधियों से किया जा सकता है, इसलिए वह विज्ञान है, और एक अच्छा नागरिक बनने के लिए मनुष्य को नागरिकता के सिद्धान्तों को ठीक रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है, इसलिए नागरिकशास्त्र एक कला भी है।

सामाजिक और भौतिक शास्त्रों के नियमों में अन्तर

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिए कि नागरिक-शास्त्र और भौतिकशास्त्र के नियमों में किसी प्रकार का भेद नहीं। भौतिकशास्त्रों के सिद्धान्त बहुत कुछ अमिट होते हैं। उन नियमों में न तो समय ही कोई परिवर्तन ला सकता है और न स्थान ही। सामाजिक शास्त्रों के नियम, जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रकार अमिट नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त तो केवल अधिक से अधिक संभावनाओं को व्यक्त कर सकते हैं, निश्चितता को नहीं।[2] नागरिकशास्त्र दूसरे सामाजिक शास्त्रों की तरह इस प्रकार एक अनिश्चित विज्ञान है। इसके कारण आगे दिये जाते हैं :—

---

१ "Art is the application of knowledge to real life."

२ "Social sciences indicate the highest possibilities but cannot lay down certainties.

(१) भौतिकशास्त्र ऐसे विषयों का अध्ययन करते हैं जिनके व्यवहार या गुण समय अथवा स्थान बदलने पर नहीं बदलते। वह हर स्थान पर और हर समय में वैसे ही बने रहते हैं। उदाहरणार्थ आक्सीजन के गुण भूतकाल में भी वही थे जो आज हैं और भविष्य में भी वही रहेंगे। इसी प्रकार उसके गुण भारत में भी वही हैं जो अमरीका में हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र की अध्ययन-वस्तु है, मनुष्य का सामाजिक जीवन और यह जीवन समय और देश के अनुसार बदलता रहता है। वह कल कुछ और था, आज कुछ और है और आगे कुछ और होगा। वह भारत में एक प्रकार का है और अमरीका में दूसरी प्रकार का। अतः नागरिकशास्त्र इसके विषय में ऐसे सिद्धान्त नहीं बना सकता जैसा कि भौतिकशास्त्र अपने विषयों के सम्बन्ध में बना सकते हैं।

(२) भौतिकशास्त्र अपने अध्ययन में ऐसी विधियों को काम में लाते हैं जिनसे कि उनके निश्चयों में भूल की मात्रा नहीं के बराबर हो। वह प्रयोगशाला में उन विषयों के व्यवहारों अथवा गुणों का अध्ययन अपने अनुकूल पैदा की हुई दशाओं में कर सकते हैं। अपने प्रयोगों को बार-बार दोहरा कर उनके परिणामों की तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार भूल की मात्रा को मिटा सकते हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र का विद्वान् ऐसी विधियों का पालन नहीं कर सकता। इसके अनेक कारण हैं। समाज की परिस्थितियाँ मनुष्य के हाथ में नहीं और इस कारण वह यह नहीं कह सकता कि जो परिणाम उसके सामाजिक प्रयोगों से हुए हैं वह कहाँ तक उसके प्रयोग से पैदा हुए और कहाँ तक वह समाज की परिस्थितियों का परिणाम है। उदाहरणार्थ हम यदि एक नये प्रकार का कानून बनाते हैं और उसके बनाने के बाद समाज में कुछ परिवर्तन होता है तो हम यह नहीं कह सकते कि कहाँ तक वह परिवर्तन उस कानून के कारण हुआ और कहाँ तक वह समाज की अन्य परिस्थितियों का परिणाम है।

(३) भौतिकशास्त्र अपने प्रयोगों में सही यंत्रों, जैसे केमीकल बैलेंस इत्यादि की सहायता ले सकता है परन्तु सामाजिक विज्ञानवेत्ता के पास ऐसे नापने या तौलने के औजार नहीं होते। इस प्रकार सामाजिक विज्ञानों में भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक गलतियों की संभावना होती है।

§ ४. नागरिकशास्त्र की अध्ययन-विधि

नागरिकशास्त्र के अध्ययन में हम निम्नलिखित विधियों का प्रयोग करते हैं :—

(१) **ऐतिहासिक**—सामाजिक जीवन के तथ्य को समझने के लिए इतिहास हमें बड़ी सहायता देता है। हमारी जितनी भी सामाजिक संस्थाएँ अथवा सभाएँ हैं वह सब हमें भूतकाल से प्राप्त हुई हैं। भूतकाल में वह मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के हेतु जाने या अनजाने पैदा हुई थीं। अतः उन सबका मूल्य समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह पता लगावें कि वह किन दशाओं में और

किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैदा हुई और कहाँ तक वह इन बातों को पूरा करने में सफल हुई। इन सब बातों का ज्ञान हमें इतिहास से ही हो सकता है। अतः इतिहास की सहायता से हम इन सब का ठीक-ठीक महत्व समझ सकते हैं। साथ ही इतिहास की सहायता से भविष्य के लिए भी इन संस्थाओं का अच्छी प्रकार निर्माण कर सकते हैं। हमको इतिहास बतलाता है कि मनुष्यों की सामाजिक संस्थाओं का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। हम उन सिद्धान्तों को, जो उसकी प्रगति और उन्नति में सहायक हुए, रख सकते हैं और जो उसमें बाधक हुए उन्हें बदल सकते हैं। इस प्रकार इतिहास की सहायता से हम सामाजिक जीवन को समझ सकते हैं और उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगा सकते हैं।

परन्तु इतिहास की सहायता हमको निष्पक्ष रूप से लेनी चाहिए। हमारा प्रयत्न तो केवल यह होना चाहिए कि हमको सत्य का पता लग जाय, यह नहीं कि इतिहास की सहायता से हम अपनी इच्छित बातों को सिद्ध करें।

(२) **अवलोकन अथवा पर्यवेक्षण अर्थात् संस्थाओं और सभाओं के आधुनिक कार्य की प्रत्यक्ष देखभाल**—ऐतिहासिक विधि के प्रयोग से सामाजिक जीवन को हम एक हद तक ही समझ सकते हैं। उसका पूर्णरूप से अध्ययन करने के लिए हमें दूसरे तरीकों का भी आसरा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ वर्तमान संस्थाओं का अवलोकन करने के लिए इतना ही आवश्यक है जितना उनका ऐतिहासिक विज्ञान। मनुष्य किन संस्थाओं का सदस्य है, वह संस्थाएँ क्या-क्या उपयोगी कार्य करती हैं, उनमें से कौन-सी संस्थाएँ बुरी हैं, इत्यादि; यह वह प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को समुचित ज्ञान होना चाहिए। परन्तु हमारा अवलोकन पक्षपातरहित होना चाहिए। यदि हम पक्षपात के साथ कोई देख-भाल करेंगे तो हम सच्चाई का पता न लगा सकेंगे। हमें बिना किसी पूर्वनिर्धारित निर्णय के ही, किसी संस्था अथवा सभा का काम देखना चाहिए और साथ ही यह देखभाल काफी समय तक होनी चाहिए। थोड़े दिनों की देखभाल में त्रुटि रह सकती है।

(३) **तुलना**—देखभाल की विधि से हम सामाजिक जीवन के विविध अंगों के विषय में बहुत-सी सामग्री इकट्ठी कर सकते हैं परन्तु यह नहीं जान सकते कि उस प्रकार की संस्थाओं और सभाओं का दूसरे देशों में क्या स्वरूप है। अपने देश की संस्थाओं और सभाओं की उपयोगिता जानने के लिए हमें उसी प्रकार की दूसरे देशों की संस्थाओं का भी अध्ययन करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम विवाह या तलाक प्रथा की अच्छाई और बुराई जानना चाहें तो हम तब तक इस बात का ठीक पता नहीं लगा सकते जब तक कि हम इसके परिणामों को प्रत्येक देश में देखकर और उनकी आपस में तुलना करके यह पता न लगा लें कि अमुक परिणाम प्रत्येक देश में मिलते हैं। एक देश के परिणामों के आधार पर ही उसको अच्छा या बरा समझना ठीक न होगा, क्योंकि यह

सम्भव है कि उस देश में वह परिणाम विवाह-प्रथा या तलाक की अच्छाई अथवा बुराई से न होकर किसी दूसरे कारण से ही हुए हों। परन्तु यदि एक ही जैसे परिणाम सभी देशों में मिलते हों तो हम कह सकते हैं कि विवाह-प्रथा के ही वह परिणाम हैं। इसलिए हमें तुलनात्मक विधि का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

(४) **प्रयोग-विधि**—नागरिकशास्त्र में हम उस प्रकार के प्रयोग तो नहीं कर सकते जैसे कि हम भौतिकशास्त्रों में कर सकते हैं; क्योंकि नागरिकशास्त्र के प्रयोगों की वस्तु अर्थात् मनुष्य के सामाजिक जीवन की दशा सदा एक-सी नहीं रहती। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम नागरिकशास्त्र में प्रयोगविधि अपना ही नहीं सकते। हम सामाजिक जीवन में बराबर ही प्रयोग करते रहते हैं। कोई नया कानून, नई धनोत्पादनविधि आदि सामाजिक जीवन में प्रयोग ही हैं और उनके परिणामों की बुनियाद पर ही हम इसी प्रकार की और संस्थाएँ बनाते हैं। अतः प्रयोगविधि से भी हम सामाजिक जीवन के तथ्यों को समझ सकते हैं।

(५) **दार्शनिक विधि**—उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त हम नागरिकशास्त्र के अध्ययन में दार्शनिक मार्ग (Philosophical Method) का भी अवलंबन करते हैं। नागरिकशास्त्र में हम अच्छा और बुरा क्या है इस प्रश्न का हल करते हैं। यह प्रश्न दार्शनिक तत्वों की सहायता से ही हल किये जा सकते हैं। इस विधि के अन्तर्गत कुछ अटूट सत्यों के आधार पर, जैसे प्रत्येक मनुष्य अपना भला स्वयं जानता है, वह स्वतंत्रता-प्रेमी है, इत्यादि, राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त इसी विधि पर आश्रित है। इस विधि का सबसे अधिक प्रयोग प्लेटो, रूसो तथा मिल आदि लेखकों ने किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र में बहुत कुछ हम उन्हीं विधियों को अपनाते हैं जिनका कि हम भौतिकशास्त्र में पालन करते हैं और हर प्रकार से इस बात का प्रयत्न करते हैं कि हमारे निश्चयों में भूल की मात्रा कम से कम हो।

§ ५. मानव-ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

नागरिकशास्त्र मानव-ज्ञान की एक शाखा है। मानव-ज्ञान तत्वतः एक है परन्तु सुविधा के हेतु वह शाखाओं में बाँट दिया गया है। अतः मानव-ज्ञान की इन सब शाखाओं में परस्पर घनिष्ठ संबंध रहता है। प्रत्येक शाखा को दूसरी शाखाओं से अपने विषय को समझने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। नागरिकशास्त्र भी अपने विषय को समझने में दूसरे सामाजिक और भौतिक शास्त्रों से बड़ी सहायता प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में अन्य शास्त्रों की नींव पर बहुत कुछ नागरिकशास्त्र के तथ्य स्थिर हैं। आगे के पृष्ठों में नागरिकशास्त्र के अन्य निकटतम शास्त्रों के साथ संबन्ध का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

नागरिक शास्त्र और इतिहास

इतिहास मनुष्य जीवन के उत्थान पतन की कहानी है। इतिहास हमें बताता है कि मनुष्य का भूतकालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, कलात्मक तथा बौद्धिक स्वरूप क्या था, तथा पिछले समय में उसने किस प्रकार की संस्थाओं को जन्म दिया था। सभ्यता तथा संस्कृति के उदय की कहानी हमें इतिहास में ही मिलती है। परिस्थितियों से बाध्य होकर मनुष्य की कौन-सी सस्थाएं नष्ट हो गई तथा कौन-सी आज भी कायम हैं, पिछले काल में क्रांतियों का क्या स्वरूप था तथा लड़ाई-झगड़े क्यों होते थे, राज्य के संगठन का क्या स्वरूप था तथा देश का शासन किस प्रकार किया जाता था—इन सब बातों का ज्ञान हमें इतिहास के अध्ययन से ही होता है। एक प्रकार से हम इतिहास को नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की प्रयोगशाला कह सकते हैं। इतिहास हमें बताता है कि दास-प्रथा तथा इसके पश्चात् सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद का किस प्रकार अन्त हुआ; निरकुश शासनों की प्रणाली के स्थान पर प्रजातन्त्रवाद का किस प्रकार जन्म हुआ; खुली प्रतियोगिता तथा पूंजीवादी शासन-व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का किस प्रकार उदय हुआ। इन सब तथ्यों को जानने के पश्चात् ही हम नागरिक जीवन के सही आदर्शों को निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इतिहास रूपी जड़ का नागरिक शास्त्र फल है। इतिहास के अध्ययन से ही नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त निर्धारित किए जाते हैं तथा वह कहाँ तक सही साबित हो सकेंगे इसका अनुमान लगाया जाता है।

इतिहास हमें भूतकाल का ही ज्ञान कराने में सहायता नहीं देता, वरन् भविष्य का आदर्श निश्चित करने में भी पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। वह हमें बतलाता है कि पिछले जमाने में मनुष्य के सामाजिक प्रयोगों का क्या परिणाम हुआ तथा भविष्य में एक आदर्श समाज की ओर बढ़ने के लिए हमें किस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए।

परन्तु यहाँ हमें इतिहास और नागरिकशास्त्र का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। इतिहास में नामों, तिथियों तथा स्थानों की भरमार रहती है, नागरिकशास्त्र का इनसे विशेष संबंध नहीं है। न ही वह युद्धों के विस्तृत वर्णन, या राजाओं के उत्थान पतन से ही विशेष संबंध रखता है। परन्तु फिर भी इतिहास नागरिकशास्त्र की पृष्ठभूमि एवं नींव का काम देता है।

नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र मनुष्य के उन सम्बन्धों और कार्यों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति, धन के विभाजन, धन के उपभोग और धन के विनिमय से होता है। धन का समाज की शांति और सुख से बहुत गहरा सम्बन्ध है। समाज का कोई भी मनुष्य उस समय तक सुखी और संतुष्ट नहीं रह सकता जब तक उसे पेट भरने के लिए

रोटी और तन ढाँकने के लिए कपड़ा नही मिलता। ऐसा मनुष्य न केवल अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी में ही दुखी रहता है वरन् वह समाज की शांति को भी खतरे में डाल देता है। एक कहावत प्रसिद्ध है, "भूखा मरता क्या पाप नहीं कर सकता।" रोटी मिल जाने के पश्चात् ही मनुष्य चरित्र-निर्माण, लोक-सेवा, देश-सेवा और आदर्शवादिता की बातें सोचता है। रोटी के बिना मनुष्य न धर्म की ही बातें सोच सकता है और न एक आदर्श सामाजिक जीवन की ही। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य को एक सुखी और समृद्ध जीवन बिताने के लिए धन कमाना सिखाता है। नागरिकशास्त्र समाज के प्रत्येक मनुष्य के जीवन को सुखी और सन्तुष्ट देखना चाहता है। इन दोनों विद्याओं का इसलिए बहुत गहरा सम्बन्ध है। नागरिक-जीवन उस समय तक सुखी नहीं हो सकता जब तक उसका संगठन अर्थशास्त्र के नियमों के आधार पर न किया जाय।

परन्तु इन सब बातों का यह अर्थ कदापि नहीं कि अर्थशास्त्र और नागरिकशास्त्र में किसी प्रकार का भेद नहीं। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य धन की उत्पत्ति है, किन्तु नागरिकशास्त्र का मूल सिद्धान्त आदर्श सामाजिक संगठन है। अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातों जैसे विनिमय, दर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियम, बजट इत्यादि से नागरिकशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं और इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की बहुत-सी बातों से अर्थशास्त्र का। परन्तु फिर भी यह कहना ठीक ही होगा कि अर्थशास्त्र नागरिकशास्त्र की, इतिहास के पश्चात्, दूसरी नींव है।

नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान (Psychology) वह विद्या है जो मनुष्य के मन के व्यवहार की जाँच-पड़ताल करती है। यह मनुष्य की भावनाओं, स्वाभाविक वृत्तियों और आन्तरिक वेदनाओं आदि का अध्ययन करती है। यह बात तो स्वयं-प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन मनुष्य के इन्ही मानसिक व्यवहारों पर निर्भर है। मन की गति को समझे बिना सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने का प्रयास सर्वथा ही निष्फल है। इतना ही नहीं, वरन् मानसिकशास्त्र के ज्ञान के बिना सामाजिक जीवन का समझना भी असंभव है। अतः नागरिकशास्त्र सही नतीजों के लिए मानसिकशास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाता है और सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में मानसिकशास्त्र के सिद्धान्तों का ध्यान रखता है। उदाहरणार्थ मानसिक शास्त्र हमें बताता है कि बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करने से वह सफल नागरिक बन सकते हैं, मानसिक विकारों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है, कारखानों के मजदूरों के साथ कैसा वर्ताव करना चाहिए, इत्यादि। इन सब बातों के ज्ञान से नागरिकशास्त्र को सहायता मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान से नागरिकशास्त्र को मानसिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसकी सहायता से नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की सफलता और

उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का निर्णय करता है। यहाँ हम यदि इस प्रकार कहें तो अनुचित न होगा कि आज तक सामाजिक जीवन के विषय में जितने विद्वानों ने भी विचार किये हैं उन सबने अपने पूर्व अनुमानित सिद्धान्तों पर ही अपने इस विचार की नीव रखी है। इससे बड़ा अनहित हुआ है और सामाजिक जीवन के विषय में बहुत-सी भूलें हो गई हैं। अतः इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम अब मनोविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों को ही ठीक मानकर उनकी नींव पर ही अपने नागरिकशास्त्र के निश्चयों को स्थिर करें। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि मनोविज्ञान नागरिकशास्त्र की तीसरी नीव है।

नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का शास्त्र है। यह सामाजिक जीवन की उत्पत्ति, उसका विकास, उसका संगठन और उसके ध्येय का अध्ययन करता है। यह रीति-रिवाज, विश्वास, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास का उल्लेख करता है। एक प्रकार से तो समाजशास्त्र को सब सामाजिक शास्त्रों की जननी कहा जा सकता है। समाजशास्त्र इन सब शास्त्रों की नींव का तो काम करता ही है, इसके नियम इन सब शास्त्रों को अपना विषय समझने में भी सहायता देते हैं। नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र से सामाजिक विकास के कानूनों का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः समाजशास्त्र नागरिक-शास्त्र की एक महत्वपूर्ण नीव है। इसकी सहायता के बिना नागरिकशास्त्र अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखामात्र मानना भूल होगी; क्योंकि समाजशास्त्र का संबंध जीवन को अच्छे या बुरे बनाने से नहीं। वह तो जैसा सामाजिक जीवन है या रहा, उसी का अध्ययन करता है, उसके पुन-र्निर्माण का प्रयत्न नहीं करता। इसके विपरीत नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगाता है। अतः यह समाजशास्त्र से भिन्नता भी रखता है

नागरिकशास्त्र और आचार या नीतिशास्त्र

नीति या आचारशास्त्र (Ethics) वह विद्या है जो मनुष्य को अच्छे और बुरे कामों की पहचान करना सिखाता है। यह शास्त्र आदर्श अच्छाई (Ideal good) का अध्ययन करता है और मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही जीवनों की आलोचना करता है। इसका क्षेत्र, इसी कारण, नागरिकशास्त्र से भी अधिक विस्तृत है। नागरिकशास्त्र केवल मनुष्य के सामाजिक जीवन की अच्छाइयों का अध्ययन करता है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अवस्थाओं से नहीं। किन बातों पर चलने से मनुष्य एक आदर्श नागरिक बन सकता है और किस प्रकार के व्यवहार से वह अपने और समाज के पतन का कारण बन जाता है, इन बातों का ज्ञान नागरिकशास्त्र आचारशास्त्र से ही प्राप्त करता है। अतः नागरिकशास्त्र को आचारशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत सहायता मिलती है। यह उसके सिद्धान्तों को ही ध्यान में रखकर अपने आदर्श निश्चित करता है। परन्तु इतना होने पर भी दोनों ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं।

नागरिकशास्त्र और राजनीति

राजनीतिशास्त्र राज्य (State) का विज्ञान है। यह हमें राज्य की उत्पत्ति, विकास, स्वभाव, ध्येय, संगठन आदि के विषय में ज्ञान देता है। राज्य सामाजिक जीवन में बहुत ही महत्त्व रखता है। किसी देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना राज्य का ही कार्य है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि राज्य सामाजिक जीवन की अच्छाई की पहली नीव है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह सभ्यता और समाज का रक्षक और पोषक है। अतः राज्य का पूरा ज्ञान नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक है। राजनीति के ज्ञान के बिना जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयास अंधकार में छलांग लगाने के समान है। जब तक किसी देश में उचित राजनीतिक व्यवस्था न हो और लोगों को यथेष्ट राजनीतिक अधिकार व स्वतन्त्रता प्राप्त न हो तब तक उच्चकोटि की नागरिकता का विकास होना ही असंभव है। इस प्रकार राजनीति ही लोगों को उच्चकोटि के नागरिक बनाने की सुविधाएँ देती है।

कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि नागरिकशास्त्र कोई अलग शास्त्र ही नहीं, वह तो राजनीतिशास्त्र की ही एक शाखा है, जो राज्य द्वारा निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का अध्ययन करती है। सम्भवतः उनका यह विचार नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अंग्रेजी नामों के एकार्थी होने से ही उत्पन्न हुआ है। अंग्रेजी में नागरिकशास्त्र का नाम सिविक्स (Civics) है और राजनीतिशास्त्र का नाम पॉलिटिक्स (Politics) है। सिविक्स का धात्वर्थ है 'शहर सम्बन्धी बातें' और पॉलिटिक्स का धात्वर्थ भी यही है। पहला शब्द लैटिन भाषा का है और दूसरा ग्रीक भाषा का। इन नामों के आशय की समानता के भ्रम में पड़कर कुछ पुराने लेखकों ने कह दिया है कि सिविक्स, पॉलिटिक्स से कोई भिन्न शास्त्र नहीं। परन्तु वास्तव में नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र की एक शाखा नहीं, वरन् एक अलग ही विज्ञान है। राजनीतिशास्त्र में मनुष्य का हम केवल एक राज्य का सदस्य होने के नाते अध्ययन करते हैं। इसके विपरीत सिविक्स में हम मनुष्य का दूसरी सामाजिक संस्थाओं और सभाओं का सदस्य होने के नाते भी अध्ययन करते हैं। मनुष्य जीवन में केवल राज्य-निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का ही प्रश्न नहीं उठता, वरन् दूसरी संस्थाओं द्वारा निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का भी प्रश्न उठता है। राजनीतिशास्त्र इन संस्थाओं का अध्ययन नहीं करता। अतः नागरिकशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से इस दशा में अधिक विस्तृत और व्यापक है। संक्षेप में नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र से निम्न-लिखित बातों में भिन्नता रखता है :—

(१) नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र है समाज के सारे अङ्ग। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है केवल राज्य का संगठन।

(२) नागरिकशास्त्र केवल नगर और राष्ट्र के सामाजिक जीवन का ही विवेचन नहीं करता, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन का भी। राजनीतिशास्त्र केवल राष्ट्रीय जीवन और एक राज्य का दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध का अध्ययन करता है।

(३) नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का अध्ययन है किन्तु राजनीतिशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई के मुख्य साधन राज्य का—अध्ययन है।

नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र की परिभाषा करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह वह शास्त्र है जो मनुष्य का भगवान के साथ सम्बन्ध निर्धारित करता है। यह उन नियमों का विवेचन करता है जिनके पालन करने से मनुष्य अपने सृष्टि-कर्ता को प्रसन्न कर सकता है और सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा सकता है। इसका मुख्य ध्येय है मनुष्य को इहलोक और परलोक में अनन्त सुख और शांति प्रदान करना और इस ध्येय की प्राप्ति के निमित्त मनुष्य-जीवन के लिए नियम बनाना। नागरिकशास्त्र, जैसा कि हम देख चुके हैं, सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि इन दोनों ज्ञानों में परस्पर बहुत कुछ समता है क्योंकि मनुष्य का धार्मिक जीवन बहुत कुछ उसके सामाजिक जीवन पर ही निर्भर है। यदि सामाजिक जीवन बुरा हुआ तो मनुष्य का धार्मिक जीवन कदापि अच्छा नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामाजिक जीवन भी बहुत कुछ ऐसे गुणों पर निर्भर है जिनका धर्मशास्त्र मनुष्यों में प्रसार और संचार करता है। अतः दोनों बहुत कुछ एक से ही विषय से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि धर्मशास्त्र और नागरिकशास्त्र एक ही चीज हैं। इन दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं :—

(१) नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का अध्ययन करता है। इसके विपरीत धर्मशास्त्र मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की अच्छाई से सम्बन्ध रखता है।

(२) नागरिकशास्त्र मनुष्य के केवल इस जीवन की अच्छाई से सम्बन्ध रखता है और धर्मशास्त्र विशेषकर मनुष्य की मृत्यु के पश्चात्कालीन जीवन की अच्छाई का ध्यान करता है।

(३) नागरिकशास्त्र अधिकतर मनुष्य के अपने पड़ोसी के साथ सम्बन्ध का विवेचन करता है किन्तु धर्मशास्त्र मनुष्य के परमात्मा के साथ सम्बन्ध का मुख्यरूप से वर्णन करता है।

नागरिकशास्त्र और भूगोलशास्त्र

भूगोलशास्त्र किसी देश के जल-वायु नदी, पहाड़ आदि का अध्ययन करता है और साथ ही इन बातों का भी विवेचन करता है कि इन चीज़ों का मनुष्य के वैयक्तिक तथा

सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह बात तो प्रत्यक्ष है कि भौतिक वातावरण का हमारे सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः इस प्रभाव के जाने बिना सामाजिक जीवन का निर्माण ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इस प्रकार नागरिकशास्त्र को भूगोलशास्त्र से अपने निश्चय स्थिर करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। भूगोल विद्या से हमको उन प्रभावों का ज्ञान हो जाता है जिन्हें मनुष्य का भौतिक वातावरण उसके सामाजिक जीवन पर डालता है।

नागरिकशास्त्र और जीवन-विज्ञान (Biology)

सामाजिक जीवन मनुष्य जीवन का एक अङ्ग है। सामाजिक जीवन में बहुत कुछ वही नियम लागू होते हैं जो जीवन के विकास में काम आते हैं। जीवन-विज्ञान मनुष्य के विकास का अध्ययन करता है और उन नियमों का पता लगाता है जो जीवन के विकास में काम आते हैं। इन नियमों के ज्ञान से नागरिकशास्त्र को अपने विषय के अनुसंधान में सहायता मिलती है। नागरिकशास्त्र, अपने सिद्धान्तों को निश्चित करने में जीवन विज्ञान के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता।

अतः हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी सामाजिक और भौतिक शास्त्रों से है जो मनुष्य-जीवन के भिन्न-भिन्न अङ्गों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करते हैं।

§ ६. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

नागरिकशास्त्र का अध्ययन हर एक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, कारण, यह सामाजिक निर्माण का विज्ञान है। जिस प्रकार कोई भी मकान उस समय तक टिकाऊ नहीं रह सकता जब तक वह भवन-निर्माण कला (Engineering) के सिद्धान्तों के आधार पर न बनाया गया हो, ठीक उसी प्रकार सामाजिक जीवन उस समय तक आदर्शमय नहीं बनाया जा सकता जब तक उसका निर्माण नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की नींव पर न किया गया हो।

आज से तीन सौ वर्ष पूर्व शाहजहाँ ने एक पत्थर का सुन्दर भवन बनाकर और उसे सजाकर यह समझा था कि उसने पृथ्वी पर स्वर्ग बना लिया। परन्तु उसका यह विचार भ्रमपूर्ण ही था क्योंकि स्वर्ग बनाना तो दूर रहा, वह स्वयं ही कारागार का बन्दी बना और उसका जीवन पीड़ा की एक कहानी बन गया। मनुष्य की पृथ्वी पर स्वर्ग स्थापित करने की इच्छा सदा ही रही है परन्तु वह अब तक सफल न हो सकी। इसका कारण यह है कि मनुष्य ने स्वर्ग बनाने का प्रयास भ्रमपूर्ण उपायों से किया। यदि पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकती है तो वह केवल सामाजिक जीवन के तथ्यों को समझकर ही संभव है और वह तथ्य हमें नागरिकशास्त्र से ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक देश और काल में, सब नर-नारियों के लिए आवश्यक है।

आधुनिक संसार में तो नागरिक-विज्ञान का अध्ययन और भी आवश्यक हो गया है। इसका यह कारण है कि आज मनुष्य की शक्ति वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण बहुत बढ़ गई है और उस शक्ति का दुरुपयोग मनुष्य की सभ्यता और सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त ही घातक सिद्ध हो सकता है। अतः उस शक्ति के सदुपयोग के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों पर चला जाय। इतना ही नहीं, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, आज सारी जातियों का सामाजिक जीवन एक दूसरे से इतना मिला हुआ है कि यदि कोई भी जाति किसी प्रकार की भूल करती है तो उससे सभी जातियों को हानि उठानी पड़ती है। इस कारण भी यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त सबको ज्ञात हों।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन से अच्छे नागरिकों में किस प्रकार सहायता मिलती है ?

नागरिकशास्त्र का अध्ययन श्रेष्ठ नागरिकता के विकास के लिए अनिवार्य है। इस शास्त्र के अध्ययन के बिना मनुष्य उन तथ्यों को नहीं जान पाता जिन पर समाज की संस्कृति और सभ्यता निर्भर है। यह शास्त्र उन सिद्धान्तों का विवेचन करता है जिन पर चल कर कोई भी मनुष्य एक आदर्श सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है तथा अपनी जाति, राष्ट्र और समाज की उन्नति में योगदान दे सकता है। इस शास्त्र की शिक्षा के बिना मनुष्य एक सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं बनता। संक्षेप में इस शास्त्र के अध्ययन से होनेवाले लाभों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) सर्वप्रथम नागरिकशास्त्र मनुष्य तथा समाज के जीवन को प्रेम, सत्य, अहिंसा तथा शांति के अमिट सिद्धान्तों पर निर्माण करना सिखाता है। हम किस प्रकार अपने अंदर उन गुणों का विकास कर सकते हैं जिससे हमारा नित्य का जीवन सुखमय तथा सुन्दर बन सके, यह ज्ञान हमें नागरिकशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होता है।

(२) दूसरे, नागरिकशास्त्र मनुष्य को उसके भिन्न-भिन्न समुदायों तथा संस्थाओं जैसे कुटम्ब, नगर, जाति, राष्ट्र तथा समस्त मानव-समाज के प्रति कर्तव्यों का ज्ञान कराता है और उसे इस बात की भी शिक्षा देता है कि यदि दो या दो से अधिक संस्थाओं के बीच उसके कर्त्तव्यों में संघर्ष हो तो वह किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

(३) यह विज्ञान मनुष्य में प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, सेवा, बलिदान और बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करता है। संक्षेप में यह शास्त्र हमें जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान कराता है जिन पर आदर्श नागरिकता अवलंबित है।

(४) यह विज्ञान मनुष्यों को अपने अधिकारों का ज्ञान तथा उनकी रक्षा के लिए लड़ने तथा आन्दोलन करने की शिक्षा प्रदान करता है। एक अधिकारहीन मनुष्य समाज में पशुवत् जीवन ही व्यतीत कर सकता है, एक सुखी तथा समृद्धशाली जीवन नहीं।

(५) यह विज्ञान हमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान भी कराता है और उनको हल करने की क्षमता प्रदान करता है।

(६) अन्त में यह विज्ञान हमें अपने देश की शासन-व्यवस्था का ज्ञान कराता है तथा हमें इस योग्य बनाता है कि बड़े होकर हम अपने राज्य के कामों में भाग ले सकें तथा अपने देश की सेवा कर सकें।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगिता—वैसे तो नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों का जानना सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है परन्तु विद्यार्थियों के लिए उसका अध्ययन और भी अधिक उपयोगी है। एक कवि ने कहा है कि 'बालक—मनुष्य का पिता होता है।' इसका मतलब यही है कि बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल होता है। जो भी आदतें और भावनाएँ मनुष्य के बचपन में पड़ जाती हैं वह उसके सारे जीवन में प्रभावशाली रहती हैं। अतः यह आवश्यक है कि युवकों और युवतियों को नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त बचपन में ही सिखा दिये जायँ जिससे उनका प्रभाव इनके जीवन पर अमिटरूप से पड़ सके।

आज के विद्यार्थी हमारे देश के भावी नागरिक हैं। आज जो बच्चे स्कूल और कालेज की बेंचों पर बैठकर अपना पाठ्यक्रम याद करते हैं वही आगे आनेवाले युग में विधान सभा, मंत्रिमंडल जिला और म्युनिसिपल बोर्ड और शासन की दूसरी संस्थाओं के चालक होंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे विद्यार्थी शासन की पेचीदगियों और नागरिक जीवन के तथ्यों से भली प्रकार परिचित हो जायँ जिससे वे आगे आनेवाले युग में एक आदर्श समाज का निर्माण कर सकें।

विद्यार्थी, अपने देश में एक स्वस्थ नागरिक जीवन की उन्नति में, अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं, कारण विद्यार्थी ही आनेवाले युग की रूपरेखा निश्चित करते हैं। यदि हमारे आज के विद्यार्थी स्वस्थ नागरिक जीवन के तथ्यों को भलीभाँति समझते हैं, तथा अपने वर्तमान जीवन में उन नैतिक आदर्शों पर चलने का प्रयास करते हैं जो अच्छे सामाजिक जीवन की जड़ हैं तो हमारा भावी समाज एक आदर्श प्रेमरत, सहयोगी, संघर्ष-रहित तथा शान्तिमय समाज बन सकता है। इसलिए हमारे विद्यार्थियों को चाहिए कि वह छात्रकाल में संयम, अनुशासन, सहयोग, प्रेम, सेवा, बलिदान तथा भ्रातृत्व के भाव निर्माण करें और संयमिनता, सांप्रदायिकता, द्वेष, मिथ्याभिमान, स्वार्थपरिता तथा दंभ का सर्वथा त्याग करें। उन्हें चाहिए कि वह अध्ययन में ही अधिक मन लगावें और किसी प्रकार की दलगत नीति के फेर में न पड़ें। विद्यार्थी-जीवन चरित्र निर्माण का काल होता है और जो भी आदतें इस जीवन में पड़ जाती हैं, वह सारी उम्र साथ रहती हैं। हमें चाहिए कि इस काल में हम अपनी समाज, जाति तथा राष्ट्र की समस्याओं का अध्ययन करें और उन्हें किस प्रकार सुलझाया जा सकता है इस प्रश्न पर गूढ़तापूर्वक विचार करें।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की भारतीय विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगिता—हमारे देश के विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन और भी आवश्यक है।

हमारा देश सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुआ है। हमारी स्वतंत्रता कुछ ही वर्षों पुरानी है। इस स्वतन्त्रता को सदा बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकारों को समझें और उनका पालन करना सीखें। कल तक, जब हम गुलाम थे तो हम कह सकते थे कि हमें अंग्रेजों ने किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी। उन्होंने हमें सदा पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। भारतवर्ष में किसी भी बुराई के लिए हम अपने विदेशी शासकों को दोषी ठहरा सकते थे। परन्तु आज जब हम आजाद हैं तो अपने दोषों के लिए हम दूसरों पर लांछन नहीं लगा सकते। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक की भाँति आचरण करें। हम एक आज़ाद देश के नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को समझें और सदा इस प्रकार का प्रयत्न करें कि हमारे देश का गौरव तथा शान बढ़े और दूसरे देश के लोग यह न कह सकें कि भारतवर्ष आजादी प्राप्त करने के योग्य नहीं था और उसके नागरिक अपने कर्तव्यों को नहीं समझते।

भारत की एक प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता है। हमारा इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल है। हमें चाहिए कि अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को याद करें और अपने चरित्र के बल से संसार को यह दिखा दें कि भारतवर्ष आज भी आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में संसार का गुरु बन सकता है। संसार की आँखें आज भारत की ओर लगी हैं। दुनिया के दूसरे देश देख रहे हैं कि हम अपनी आजादी का किस प्रकार प्रयोग करते हैं और किस प्रकार अपनी नई ज़िम्मेदारियों को निभाते हैं। कभी-कभी हमारे देश में साम्प्रदायिकता का भूत सर उठाने लगता है। आज़ादी प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद हमारे देश में जो गुन्डागर्दी और अंधी साम्प्रदायिकता का ताडव नृत्य रचा गया उसे देखकर संसार के सभ्य देश हमारी पुरानी सभ्यता और हमारी आध्यात्मिकता की डींग की खिल्ली उड़ाते हैं और हमारे प्यारे देश को तरह-तरह के अभियोग लगाकर बदनाम करते हैं। नागरिक-शास्त्र की सच्ची शिक्षा ही ऐसे संकट-काल में हमारे देशवासियों को उनके असली कर्तव्यों का ज्ञान करा सकती है और हमको साम्प्रदायिकता के विषैले वातावरण से निकाल-कर मानवता के पुण्य क्षेत्र में डाल सकती है।

एक स्वतन्त्र देश के नागरिक होने के नाते आज हमारी अनेक ज़िम्मेदारियाँ हैं। हमें अपनी सरकार स्वयं चलानी है, हमें शासन की पेचीदगियों को समझना है और अपने देश में एक सच्चे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्रवादी शासन का निर्माण करना है। हमें मताधिकार का उचित उपयोग सीखना है, अपने देश से निर्धनता और निरक्षता को मिटाना है। इस सब के लिए हमें नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेना है।

संसार के किसी दूसरे देश में आज इतनी सामाजिक कुरीतियाँ देखने में नहीं आतीं जितनी कि हमारे देश में। आज स्वतन्त्र होने पर भी हम जाति-पाँति, छूत-छात, परदा और

इसी प्रकार की दूसरी बीमारियों में फँसे हैं। इन सबको दूर करने के लिये भी और अपने देश में एक नए प्रगतिशील समाज की स्थापना करने के लिए हमें नागरिकशास्त्र की शिक्षा की नितांत आवश्यकता है।

भारत के विभिन्न संप्रदायों के बीच सामंजस्य तथा उत्तम भाव उत्पन्न करने के लिए विद्यार्थी बहुत सबल कार्य कर सकते हैं। स्कूल और कालेजों में विभिन्न धर्मों, विश्वासों तथा मतों के लोग शिक्षा प्राप्त करते हैं; छात्रालयों में भी हर प्रकार के विद्यार्थी एक साथ रह कर शिक्षाध्ययन करते हैं। ऐसे सब विद्यार्थियों को चाहिए कि वह आपस का जातीय भेद-भाव भुलाकर एक दूसरे के साथ सगे भाइयों जैसा व्यवहार करें। उन्हें चाहिए कि वह झूठे जातीय अभिमान तथा वंशीय उच्चता के भावों का सर्वथा त्याग कर दें और यह समझें कि उनकी सहायता किसी उच्च वर्ण या जाति में उत्पन्न होने के कारण नहीं, वरन् उनके अपने कर्मों पर निर्भर रहती है। यदि उन्होंने प्रेम, दया, सहयोग, सेवा, बलिदान तथा त्याग का मार्ग अपनाया तो वह समाज में ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकेंगे और यदि व्यर्थ के जातीय अभिमान तथा दंभ में पड़े रहे तो आज के प्रजातन्त्रवादी युग में उन्हें कोई कौड़ी के भाव भी नहीं पूछेगा और उन्हें अपना जीवन नारकीय परिस्थितियों में व्यतीत करना पड़ेगा। हमारे विद्यार्थियों को चाहिए कि वह अच्छे कामों के द्वारा समाज में ऊँचे उठने का प्रयत्न करें, अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाएं तथा पुराने हानिकारक रूढ़िवादी विचारों का सर्वथा त्याग कर दें। अपने नाम के आगे जातीय चिह्न लगाने से भी उन्हें बचना चाहिए। आज हमारे समाज में कुछ ऐसा फैशन-सा चल पड़ा है कि जब तक नाम के आगे कोई उपनाम शर्मा, वर्मा, गुप्ता, टंडन, माथुर, यादव, नेहरू, पटेल इत्यादि न लगाया जाय, लोग यही समझते हैं कि उनका नाम अधूरा है। परन्तु इस उपनाम के लगाने से विद्यार्थियों को अपनी जाति तथा धर्म का सदा बोध रहता है और वह दूसरी जाति या धर्म के विद्यार्थियों के साथ आत्मीयता का भाव निर्माण नहीं कर पाते। विद्यार्थियों को यह भी चाहिए कि वह अपने फ़ालतू समय में समाज के पिछड़े हुये वर्गों को प्रगतिशील लोगों के समान जीवन स्तर पर लाने के लिए शिक्षा प्रसार तथा सामाजिक उत्थान का कार्य करें। इस प्रकार का कार्य करने से हमारे भारतीय समाज की-सी जातीय बुराइयाँ दूर हो जायँगी।

योग्यता-प्रश्न

१. नागरिकशास्त्र के विषय की व्याख्या कीजिए और इसका क्षेत्र बताइये। (यू० पी० १९२०, ४६, ४८, ५१)

२. कॉलिजों में नागरिकशास्त्र के पढ़ाने की क्या आवश्यकता है? (यू० पी० १९३१, ३३)

३. 'नागरिकशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र' का अध्ययन ठीक भौतिकशास्त्र और

रसायनशास्त्र की शैलियों के अनुसार होना चाहिए, इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

४. आधुनिक सामाजिक जीवन में नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्त्व है? नागरिकशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३४, ३६, ३९)

५. नागरिकशास्त्र को परिभाषा क्या है? नागरिकशास्त्र का समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और इतिहास से क्या संबंध है, स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९४१)

६. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते है? इसका इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र से क्या संबंध है? (यू० पी०, १९३८, १९४४, १९५३)

७. राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्रों से नागरिकशास्त्र के क्षेत्र की भिन्नता स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९४१)

८. क्या नागरिकशास्त्र एक विज्ञान अथवा कला है अथवा दोनों है?

९. नागरिकशास्त्र के नियमों का स्वरूप क्या है? भौतिक विज्ञानों के नियमों से उनमें क्या भिन्नता है?

१०. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्त्व है? यह शास्त्र इतिहास और अर्थशास्त्र से किस प्रकार संबंधित है? (यू० पी०, १९४७, १९४९)

११. 'सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में लगाना ही नागरिकशास्त्र है,' इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९५०)

१२. नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है। इस कथन को समझाइये और बताइये कि इस शास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ है? (यू० पी०, १९५२)

१३. भारत के विभिन्न संप्रदायों के बीच अधिक उत्तम भाव उत्पन्न करने और सामंजस्य स्थापित करने के लिए भारत के विद्यार्थी क्या-क्या काम कर सकते है? (यू० पी०, १९५३)

१४. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते है? यह बताइये कि नागरिकशास्त्र के अध्ययन से अच्छे नागरिक बनने में क्या सहायता मिलती है? (यू० पी०, १९५४)

१५. विद्यार्थी जीवन में आप अपने देश में एक स्वस्थ नागरिक जीवन की उन्नति म किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? (यू० पी०, १९५४)

अध्याय २

व्यक्ति और समाज

समाज का अर्थ

मानव-जीवन की अपनी एक महान् विशेषता है, वह यह कि मनुष्य एक साथ रहते हैं और समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साथ ही काम करते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य बहुत अधिक संख्या में गाँवों और नगरों में रहते है। वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साथ ही साथ काम करते हैं और आवश्यक सामान तैयार करते हैं। वे अपने बचे हुए समय को आनन्दपूर्वक व्यतीत करने के लिए एक साथ खेलते है। वे नाना प्रकार के शत्रुओं से बचने के लिए एक दूसरे की सहायता प्राप्त करते हैं। मनुष्य आपस में ऐसे लोगों का पालन भी करते हैं जो अपना निर्वाह स्वयं नहीं कर सकते। माता-पिता अपने बच्चों का उस समय तक लालन-पालन करते है जब तक वे स्वयं अपनी रक्षा करने के योग्य नहीं बन जाते। डाक्टर उन लोगों की चिकित्सा करते है जो शरीर से अस्वस्थ हों। सारांश यह है कि मनुष्य एक दूसरे के साथ अनेक कारणों से रहते है।

इस प्रकार साथ रहने और काम करने से मनुष्यों में आपसी बहुत से सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध क्षणिक या स्थायी, संगठित या असंगठित ,कई प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे दो मनुष्यों में क्षणिक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जो एक रेल के डिब्बे में मिलकर किसी समान हित के विषय पर बातचीत करते हैं। दो मित्रों की आपस में स्थायी मित्रता होती है। एक विद्यार्थी का अपने कालेज के साथ सङ्गठित सम्बन्ध रहता है, परन्तु सार्वजनिक सभा में बैठे हुए एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से असङ्गठित सम्बन्ध रहता है। दो या दो से अधिक मनुष्यों के इस प्रकार के प्रत्येक सम्बन्ध को सामाजिक कहा जा सकता है। इस प्रकार समाज भिन्न-भिन्न मानव प्राणियों के आपसी बहुत से सम्बन्धों का मेल है। इसलिए समाज की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि **समाज मनुष्य के उन हर प्रकार के संबंधों और सब प्रकार की संस्थाओं का समूह है जिनको मनुष्य अपने समान उद्देश्यों की प्राप्ति रक्षा तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए जन्म देता है।** समाज शब्द का अर्थ इस प्रकार बहुत व्यापक है, मनुष्य की सारी संस्थाएं, यहाँ तक कि राज्य (State) भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

समाज के आधारभूत तत्व

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्यों के ऐसे समूह को ही समाज कहा जाता है जो शांतिमय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन व्यतीत करने का इच्छुक हो। लोगों के किसी आकस्मिक

जमाव को समाज नहीं कहा जाता। जब एक विशाल जनसमुदाय एक दूसरे के सहयोग से जीवन व्यतीत करने का इच्छुक होता है और वह प्रेम पूर्ण तथा संघर्ष रहित जीवन में ही अपनी भलाई देखता है तो समाज का जन्म हो जाता है। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का है कि वह शांति चाहता है और दूसरों के साथ रहने, सहने, खेलने तथा सहयोग में ही आनंद का अनुभव करता है। कोई मनुष्य अकेला रहना पसंद नहीं करता। इसलिए समाज का अर्थ 'मनुष्यों का आपस में एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहना है।' डाक्टर जेन्क्स के शब्दों में समाज मनुष्यों की मैत्रीपूर्ण अथवा शांतिमय जीवन की दशा का नाम है।[1] मैकाइवर ने समाज की परिभाषा करते हुये लिखा है कि 'मनुष्यों का एक दूसरे के साथ ऐच्छिक संबंध ही समाज है'।[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज में निम्न तत्वों का होना आवश्यक है :—

(१) एक विशाल जनसमूह,

(२) जनसमूह में एक शांतिपूर्ण तथा सहयोगात्मक जीवन व्यतीत करने की स्वाभाविक इच्छा, तथा।

(३) इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए एक निश्चित सामाजिक योजना तथा प्रबंध।

समाज के आकार का विकास दूसरी संस्थाओं की तरह धीरे-धीरे ही हुआ है। वैसे समाज मनुष्य के स्वभाव में ही व्याप्त है। समाज उतना ही पुराना है जितना मानव जीवन, परन्तु आरंभ में समाज का आकार छोटा था। पहिले मनुष्य परिवारों के समूह में रहते थे, फिर बहुत से परिवारों के मिलने से जातियाँ बनी, जातियों से ग्रामों का निर्माण हुआ और फिर धीरे-धीरे बड़े-बड़े राष्ट्र समाज बन गये। आजकल सारा विश्व ही एक मानव समाज का अंग बन गया है, कारण संसार के सभी मनुष्य आपस के सहयोग तथा प्रेम के साथ रहना चाहते हैं। सामाजिक संगठन के लिए किसी राजनीतिक या सरकारी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। जब सब मनुष्य सहयोग तथा अपनी आंतरिक नैतिक भावना से आपस का संबंध कायम रखते हैं तो समाज का संगठन काम करने लगता है। समाज एक शाश्वत और स्थाई संस्था है। इसकी तुलना शरीर के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार शरीर में विभिन्न अवयव होते हैं, उसी प्रकार समाज में भिन्न-भिन्न समुदाय तथा संस्थाएं होती हैं जिनका उद्देश्य शरीर रूपी समाज का भला करना होता है।

---

१ "The term Society means harmonious at best peaceful relationship"—Jenks

२ Society includes every willed relationship of man to man."
—Mac Iver.

§ १. समाज की आवश्यकता

प्रश्न उठता है कि मनुष्य के लिए समाज में रहना क्यों आवश्यक है ? समाज में रहने से मनुष्य को बहुत-सी चिन्ताओं और आपत्तियो का सामना करना पड़ता है। क्या हम इन चिन्ताओं और आपत्तियों मे दूर समाज को छोड़कर जङ्गल के किसी कोने में अपना जीवन व्यतीत नही कर सकते ? क्या मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि वह सामाजिक जिम्मेदारियाँ, नाना प्रकार के दुःखों, असफलताओं और बाधाओं के बोझ से बरी होकर एकान्तवास कर सके ? क्या वर्तमान समाज में व्यक्ति को पागल बना देनेवाली मुसीबतों का ध्यान करते हुए, मनुष्य के लिए एकान्तवास अच्छा नहीं ? ये और इसी प्रकार के अनेक प्रश्न संसार के सभी विचारकों के मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा किया करते हैं। इस समस्या पर विशेषकर भारतीय विचारकों ने बहुत मनन किया है। इनमें से बहुत से विचारक तो इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि एकान्त जीवन व्यतीत करना और मानव समाज मे कोई भी सम्बन्ध न रखना मानव प्राणियों के लिए सबसे अच्छा जीवन है। परन्तु उनकी यह राय ठीक नही जान पड़ती क्योंकि इसमें मनुष्य की आवश्यकताओं और उसके स्वभाव पर विचार नहीं किया गया। मानव-जीवन का निर्माण ही इस प्रकार हुआ है कि मनुष्य बिना समाज की सहायता के न जीवित ही रह सकता है और न अपनी सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति कर सकता है।

भौतिक जीवन के लिए समाज की आवश्यकता—मनुष्य समाज के सहयोग के बिना जीवित नहीं रह सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **मनुष्य की रोटी और कपड़े की आवश्यकता**—प्रत्येक मनुष्य को जीवन व्यतीत करने के लिए रोटी और तन ढांकने के लिए कपड़े की आवश्यकता पड़ती है। भोजन के बिना मनुष्य कुछ दिनों तक तो शायद अपने जीवन को चला सके परन्तु कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही स्वस्थ क्यों न हो, कुछ दिनों बाद बिना भोजन किये जीवित नहीं रह सकता। भूख लगने पर मनुष्य को अपने लिए खाद्य सामग्री जुटानी ही पड़ती है। यह सामग्री मनुष्य दूसरों के सहयोग के बिना प्राप्त नही कर सकता। अनाज पैदा करने, बोने या कपड़ा तैयार करने में अनेक मनुष्यों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जंगली अवस्था में भी मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना न शिकार ही मार सकता है और न पेड़ों से फल ही तोड़ सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते है जब कि परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं कुछ भी काम नहीं कर सकता। बीमारी या बुढापे की ही अवस्था ले लीजिए। ऐसी दशा में मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। यही दशा मनुष्य की बचपन में भी होती है। बच्चे को अपने जीवन के लिए अपनी माँ के सहारे ही रहना पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए समाज की आवश्यकता पड़ती है।

(२) **जंगली जानवरों से रक्षा**—रोटी खाकर मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु इससे वह अपने आपको जंगली जानवरों के आक्रमण से नहीं बचा सकता। प्रकृति ने मनुष्य को तेज दाँत और पंजे प्रदान नहीं किये जिनकी सहायता से वह जंगली जानवरों के आक्रमणों से अपने आपको बचा सके। इन जानवरों के आक्रमणों से बचने का उपाय तो केवल मनुष्यों की संख्या-वृद्धि और बनावटी औजारों का प्रयोग है। 'सहयोग एक महान् शक्ति है और फूट कमजोरी' यह कहावत ऐसी ही दशाओं में सही नजर आती है। बन्दूक और राइफल तथा इसी प्रकार के दूसरे औज़ार बनाने के लिए बहुत से आदमियों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह स्पष्ट है कि केवल समाज ही मनुष्य को वह शक्ति प्रदान करता है जिसके द्वारा वह संसार के पाशविक शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकता है।

(३) **बुरे मौसम से बचाव**—अन्त में मनुष्य को ऐसे स्थान की आवश्यकता पड़ती है जहाँ वह बिना किसी आक्रमण और छेड़-छाड़ के डर के रह सके। इस प्रकार का स्थान मनुष्य को मकान की चहारदीवारी में ही मिल सकता है। मकान मनुष्य की रक्षा केवल जंगली जानवरों से ही नहीं करता वरन् वह उसे वर्षा, तूफ़ान, बिजली और बर्फ से भी बचाता है। लेकिन मकान एक ही आदमी द्वारा अन्य व्यक्तियों की सहायता के बिना नहीं बनाया जा सकता। उसको बनाने के लिए बहुत से औजारों की जरूरत पड़ती है और ये औज़ार बहुत से आदमी एक साथ मिलकर ही बना सकते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सहयोग ही जीवन का प्रधान स्रोत है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को अपना जीवन बनाये रखने के लिए समाज की आवश्यकता पड़ती है। जीवन के संग्राम में उन्हीं प्राणियों को अधिक सफलता मिलती है जिनका किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन रहा हो। एकान्त-जीवी प्राणियों के लिए सदा भय बना रहता है। उदाहरण के लिए शेर और भालुओं की अपेक्षा पक्षियों और मधुमक्खियों को इस जीवन-संग्राम में अधिक सफलता मिली है। मनुष्य इन प्राणियों से भी अधिक समुन्नत सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अतः दूसरे प्राणियों की अपेक्षा उसका जीवन बहुत अधिक सुरक्षित बन गया है।

समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है

मनुष्य समाज में केवल इसलिए ही नहीं रहता कि उसका जीवन समाज के बिना अधिक संभव नहीं, वरन् इसलिए भी रहता है कि वह यहाँ अपनी भावनाओं और इच्छाओं को पूरी कर सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान का दावा है कि मनुष्य में कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं जैसे पैतृक प्रवृत्ति, संग्रह की प्रवृत्ति, आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, क्षुधा शान्त करने की प्रवृत्ति, अनुकरण की प्रवृत्ति, प्रेम, घृणा और क्रोध की प्रवृत्ति, दूसरों के ऊपर अपने विचार प्रगट करने की प्रवृत्ति, ख्याति प्राप्त करने की प्रवृत्ति, उपकार की प्रवृत्ति, खेलने, हँसने तथा दूसरों पर हुक्म चलाने की प्रवृत्ति इत्यादि।

मनुष्य की यह मौलिक भावनाएँ एकान्त जीवन में कभी व्यक्त नहीं हो सकतीं। इन भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसे समान शरीर और समान मस्तिष्कवाले प्राणियों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, पैतृक प्रवृति की संतप्ति के लिए एक पुरुष का स्त्री के साथ रहना आवश्यक है। संभवतः इसी प्रवृति के कारण मनुष्य के पहले संगठन अर्थात् परिवार का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि पितृभाव की सन्तुष्टि के लिए मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता पड़ती है। आदेश देने का भाव तभी पूरा हो सकता है जब एक मनुष्य दूसरों पर शासन करता है। खेलने का भाव दूसरों के साथ रहकर ही पूरा हो सकता है। अनुकरण, संग्रह, हँसने, खेलने इत्यादि की प्रवृतियाँ भी समाज में ही व्यक्त हो सकती हैं। प्रेम और घृणा, क्रोध और मोह और इसी प्रकार की दूसरी स्वाभाविक भावनाएँ भी समाज में ही पूर्ण हो सकती हैं। सारांश में इन सब भावनाओं को पूर्ण करने के लिए दूसरों की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपने समान प्राणियों की उपस्थिति में ही पूर्ण, संतुष्ट और प्रसन्न रह सकता है। निर्जन एकान्तवासी मनुष्य बहुत ही दुखी और दयनीय प्राणी होता है। उसका जीवन निस्सार और भारस्वरूप बना रहता है। यही कारण है कि किसी भी अपराधी को एकान्त कारावास का दंड देना अन्य सभी दंडों से अधिक कड़ा समझा जाता है। इसलिए बिना किसी अतिशयोक्ति की आशंका के यह कहा जा सकता है कि नरक की सबसे उचित व्याख्या 'अनन्त एकाकीपन' ही है। वास्तविकता यह है कि समान प्राणियों की उपस्थिति से ही मनुष्य को आनन्द और सन्तोष प्राप्त होता है। यह बात उस समय पूर्णरूप से स्पष्ट होती है जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बहुत दिन के बाद मिलता है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य की वास्तविकता उस समय भी ज्ञात होती है जब विदेश में एक मनुष्य अपने देशवासी से मिलकर एक अद्भुत आनन्द प्राप्त करता है। इन सब बातों से प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरिस्टोटल की कहावत "मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है"[१] में कितना तथ्य भरा है।

समाज मनुष्य की भलाई के लिए आवश्यक है

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सभ्यता, संस्कृति, प्रचुरता, सुख और शान्ति का जीवन केवल समाज के अन्दर ही सम्भव है। मनुष्य एकाकी जीवन व्यतीत तो कर सकता है परन्तु जैसा हॉब्स (Hobbes) ने कहा है इस प्रकार का जीवन "गंदा, जङ्गली और क्षणिक" होता है। इस प्रकार के जीवन में न सुख और शान्ति ही संभव है और न सभ्यता और संस्कृति का विकास ही। सहयोग और आपस के मेल-जोल के द्वारा मनुष्य को वह सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं जिनकी सहायता से वह सृष्टि का मुकुटमणि बन सकता है।

(१) समाज सभ्यता की उन्नति करता है—सर्व प्रथम सामाजिक जीवन के कारण सभ्यता की उन्नति होती है। सभ्यता का अर्थ है मनुष्य का अपने निकट वातावरण पर,

१ 'Society is natural for man.'

चाहे वह भौगोलिक हो अथवा सांस्थानिक, अधिकाधिक आधिपत्य प्राप्त करना। सभ्यता मनुष्य की उस शक्ति में सन्निहित रहती है जिसकी सहायता से वह सांसारिक जीवन का पुनर्निर्माण कर अपने जीवन को सुखी और सुरक्षित बना सकता है। वह रेलगाड़ी, भाप से चलनेवाली मशीनें, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, बैंक और दूसरे अनेक सुख के साधन उत्पन्न कर सकता है। परन्तु वातावरण पर इस प्रकार का नियन्त्रण उसी दशा में संभव हो सकता है जब कि मनुष्य उनके गुप्त भेदों को जान सके और अपने ज्ञान के द्वारा उस वातावरण को अधिकाधिक उपयोगी बनाने की क्षमता धारण कर सके। मनुष्य सहयोग के द्वारा ही इस प्रकार के ज्ञान और क्षमता को प्राप्त कर सकता है।

(२) **यह ज्ञानोपार्जन में सहायता देता है**—सहयोग के द्वारा मानवसमाज ज्ञान का वह भंडार प्राप्त कर सकता है जिसे मनुष्य एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। एक अकेले मनुष्य के लिए, चाहे वह कितना ही अधिक बुद्धिमान् क्यों न हो, अपने छोटे से जीवन में सारी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। उदाहरण के लिए वह तारागण और आकाश, पशु और मनुष्य, जमीन और समुद्र आदि विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। सारांश में वह पक्का ज्योतिषी, प्राणिशास्त्री, गणितज्ञ, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ आदि सब एक साथ ही नहीं बन सकता। वह तो केवल एक ही विज्ञान और उसके भी कुछ ही अंश का अच्छी तरह से अध्ययन कर सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अकेला ही रहता तो वह प्रकृति की गुप्त बातों का बहुत थोड़ा अंश ही जान पाता। परन्तु आज तो मनुष्य के पास ज्ञान का एक भारी भंडार जमा हो गया है। वह सब इसीलिए हुआ कि मनुष्य समाज के साथ रहता आया है। मनुष्यों ने अपने परिश्रम का बँटवारा करके विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन किया है और इस प्रकार युगों के हजारों वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के परिश्रम के जोड़ से मानव-ज्ञान आज बढ़ता और फैलता हुआ प्रतीत होता है।

(३) **सामाजिक जीवन से ज्ञान की अनन्त काल तक रक्षा होती है**—यदि मनुष्य एकान्त जीवन व्यतीत करता तो उसका ज्ञान उसके जीवन के अन्त के साथ ही नष्ट हो जाता। वह अपने ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लोगों तक नहीं पहुँचा सकता था। परन्तु सामाजिक जीवन के कारण यह संभव बन जाता है। आज संसार में लाखों और करोड़ों वर्ष का संचित मानव-ज्ञान सुरक्षित है, वह केवल इसी कारण कि मनुष्य ने सामाजिक जीवन व्यतीत किया है। आज एक मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका संचित ज्ञान दूसरे लोगों की निधि बन जाता है।

(४) **सामाजिक जीवन ज्ञान प्राप्त करने और सत्य का पता लगाने के लिए समय प्रदान करता है**—एक एकान्तवासी मनुष्य को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इतना अधिक समय और शक्ति लगानी पड़ती है कि उसे विज्ञान और कला के अध्ययन के लिए जरा भी समय नहीं मिल पाता। परन्तु सामाजिक मनुष्य

के लाभों का विभाजन इस प्रकार होता है कि यदि कुछ आदमी भोजन-सामग्री उत्पन्न करने में लग जाते हैं तो दूसरे समाज की बाहरी और भीतरी शत्रुओं से रक्षा करते हैं और दूसरे लोग अपना सारा समय ज्ञानोपार्जन में व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार सामाजिक ज्ञान की वृद्धि बराबर होती रहती है।

सामाजिक जीवन एक और प्रकार से भी मनुष्य की सहायता करता है। समाज में रहकर एक मनुष्य का मस्तिष्क दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क के सम्पर्क में आता है, इस प्रकार विचारों में संघर्ष पैदा होकर नये विचारों का प्रादुर्भाव होता है और कितने ही नये प्रकार के आविष्कारों की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन मानव जीवन की जड़ माना जाता है।

(५) सामाजिक जीवन संस्कृति की उन्नति और भाषा का विकास करता है—मानव-प्रवृत्ति का 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की आराधना करना ही संस्कृति कहलाता है। चित्रकारी, गायन और नृत्य-कलाओं का जन्म समाज में ही होता है। इस प्रकार समाज सांस्कृतिक जीवन की जड़ है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए समाज माध्यम का काम करता है। एकान्तवासी मनुष्य संभवतः कोई भी भाषा नहीं सीख सकता। फलस्वरूप उसकी सांस्कृतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत समाज मनुष्य को भाषा सिखाता है और उसके माध्यम के द्वारा अपने भाव और विचार प्रकट करने में सहायता प्रदान करता है। एक प्रसिद्ध लेखक मैकाइवर (MacIver) ने कहा है—"समाज मानव-भावनाओं का आश्रयस्थल है।" इसका अर्थ यही है कि समाज एक पीढ़ी की संस्कृति को सुरक्षित रख उसे आगे आनेवाली पीढ़ी को प्रदान कर देता है और इस प्रकार ज्ञान का स्रोत कभी सूखने नहीं पाता।

(६) समाज मनुष्य की आर्थिक उन्नति करता है—समाज आर्थिक प्रचुरता भी प्रदान करता है। एक साथ काम करने से मनुष्यों ने उत्पादन के प्रश्न को सफलतापूर्वक हल कर लिया है। पहले आदमी अपने परिश्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं को भी पूर्ण नहीं कर सकते थे। उन्हें अकाल का सदा डर बना रहता था। परन्तु वर्तमान समय में वैज्ञानिक तरीकों से इतनी अधिक चीजें पैदा की जा सकती हैं कि वे आवश्यकता से भी अधिक होती हैं।

(७) सामाजिक जीवन से व्यवस्था में भी सहायता मिलती है—राज्य समाज का एक अंग है। राज्य का ठीक संगठन होने पर ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रह सकती है। सामाजिक जीवन हमें राज्य के नियमों को समझाकर उनका पालन करना सिखाता है और इस प्रकार समाज में शांति और सुव्यवस्था कायम करने में सहायता देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'समाज व्यक्तित्व का विस्तार है', 'व्यक्तिगत समानता का वाहन है' और 'मनुष्य के जीवन के विकास का आधार' है। वह "मनुष्य के रीति-रिवाजों और विशुद्ध विश्वासों का रक्षक है और जीवन के अनुभवों का योग है"। वह मनुष्य को न केवल वर्तमान में ही सुखी और सफल जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करता है, वरन् अपने आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी ज्ञान का अमूल्य भंडार प्रदान करता है। वह मनुष्य को अपने चारों ओर एक नई सृष्टि का निर्माण करने में सहायता पहुँचाता है और उसे प्रकृति की शक्तियों का स्वामी बनाता है। वह उसे बिजली पर आधिपत्य प्राप्त करने, नदी पर पुल बनाने, रेगिस्तानों को पार करने, पहाड़ों पर चढ़ने और आसमान में उड़ने की शक्ति प्रदान करता है। संक्षेप में समाज मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि बना देता है।

§ २. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का स्वरूप

मनुष्य की अपेक्षा समाज की अधिक प्रधानता होने के कारण लोगों को ऐसा न समझ लेना चाहिए कि वह उन मनुष्यों की अपेक्षा जो उसमें रहते हैं, अधिक अच्छा है या उनसे भिन्न है। समाज, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानवजीवन की एक दशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह केवल रहने का एक तरीका है। **जब कभी मनुष्य एक साथ रहते या किसी समान उद्देश्य के लिए मेल से काम करते हैं तभी वे समाज कहलाते हैं।** इस प्रकार मनुष्यों की समष्टि को ही समाज कहते हैं। समाज मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में रहता है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते हैं। अवसर पाकर वह विचार बाह्य जगत् में संस्थाओं और समुदायों का रूप धारण कर लेते हैं। शिक्षा की आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य शिक्षालय, स्वास्थ्यप्रद जीवन व्यतीत करने के लिए व्यायामशाला और हँसी-खेल के लिए क्लब आदि बनाता है। यदि मनुष्य इन भावनाओं को हृदय से सर्वथा निकाल दे तो समाज का अस्तित्व ही न रह सकेगा, उसका अन्त हो जायगा। कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर विचारों का एक समाज है और बाहरी समाज उसी का क्रियात्मक रूप है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं। मेल और एक दूसरे पर अवलम्बित रहने के दृष्टिकोण से वह मनुष्य का ही एक स्वरूप है। दूसरे शब्दों में मानव-जीवन के दो स्वरूप हैं—सामाजिक और व्यक्तिगत। सामाजिक स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी काम मेल के साथ करता है और व्यक्तिगत स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी कार्य स्वयं अकेला ही करता है। इस प्रकार समाज मनुष्य के विरुद्ध कोई चीज नहीं है। वह व्यक्तिगत जीवन को पूरा करता है और उसकी श्रीवृद्धि करता है।

समाज का आङ्गिक या आवयविक सिद्धान्त

परन्तु उपरोक्त मत से भिन्न, एक दूसरा मत भी है जो समाज को एक बिल्कुल स्वतन्त्र चीज समझता है। इस मत के अनुयायी समाज को उन मनुष्यों से बिल्कुल पृथक समझते

के कार्यों का विभाजन इस प्रकार होता है कि यदि कुछ आदमी भोजन-सामग्री उत्पन्न करने में लग जाते हैं तो दूसरे समाज की बाहरी और भीतरी शत्रुओं से रक्षा करते हैं और दूसरे लोग अपना सारा समय ज्ञानोपार्जन में व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार सामाजिक ज्ञान की वृद्धि बराबर होती रहती है।

सामाजिक जीवन एक और प्रकार से भी मनुष्य की सहायता करता है। समाज में रहकर एक मनुष्य का मस्तिष्क दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क के सम्पर्क में आता है, इस प्रकार विचारों में संघर्ष पैदा होकर नये विचारों का प्रादुर्भाव होता है और कितने ही नये प्रकार के आविष्कारों की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन मानव जीवन की जड़ समझा जाता है।

(५) सामाजिक जीवन संस्कृति की उन्नति और भाषा का विकास करता है—मानव-प्रवृत्ति का 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की आराधना करना ही संस्कृति कहलाता है। रेखा-चित्रकारी, गायन और नृत्य-कलाओं का जन्म समाज में ही होता है। इस प्रकार समाज सांस्कृतिक जीवन की जड़ है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए समाज माध्यम का काम करता है। एकान्तवासी मनुष्य संभवतः कोई भी भाषा नहीं सीख सकता। फलस्वरूप उसकी सांस्कृतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत समाज मनुष्य को भाषा सिखाता है और उसके माध्यम के द्वारा अपने भाव और विचार प्रकट करने में सहायता प्रदान करता है। एक प्रसिद्ध लेखक मेकाइवेर (MacIver) ने कहा है—"समाज मानव-भावनाओं का आश्रयस्थल है।" इसका अर्थ यही है कि समाज एक पीढ़ी की संस्कृति को सुरक्षित रख उसे आगे आनेवाली पीढ़ी को प्रदान कर देता है और इस प्रकार ज्ञान का स्रोत कभी सूखने नहीं पाता।

(६) समाज मनुष्य की आर्थिक उन्नति करता है—समाज आर्थिक प्रचुरता भी प्रदान करता है। एक साथ काम करने से मनुष्यों ने उत्पादन के प्रश्न को सफलतापूर्वक हल कर लिया है। पहले आदमी अपने परिश्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं को भी पूर्ण नहीं कर सकते थे। उन्हें अकाल का सदा डर बना रहता था। परन्तु वर्तमान समय में वैज्ञानिक तरीकों से इतनी अधिक चीजें पैदा की जा सकती हैं कि वे आवश्यकता से भी अधिक होती हैं।

(७) सामाजिक जीवन से व्यवस्था में भी सहायता मिलती है—राज्य समाज का एक अंग है। राज्य का ठीक संगठन होने पर ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रह सकती है। सामाजिक जीवन हमें राज्य के नियमों को समझाकर उनका पालन करना सिखाता है और इस प्रकार समाज में शांति और सुव्यवस्था कायम करने में सहायता देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'समाज व्यक्तित्व का विस्तार है', 'व्यक्तिगत समानता का वाहन है' और 'मनुष्य के जीवन के विकास का आधार' है। वह "मनुष्य के रीति-रिवाजों और विशुद्ध विश्वासों का रक्षक है और जीवन के अनुभवों का योग है"। वह मनुष्य को न केवल वर्तमान में ही सुखी और सफल जीवन व्यतीत करने मे सहायता प्रदान करता है,वरन् अपने आगे आनेवाली पीढियो को भी ज्ञान का अमूल्य भंडार प्रदान करता है। वह मनुष्य को अपने चारों ओर एक नई सृष्टि का निर्माण करने में सहायता पहुँचाता है और उसे प्रकृति की शक्तियों का स्वामी बनाता है। वह उसे बिजली पर आधिपत्य प्राप्त करने, नदी पर पुल बनाने, रेगिस्तानो को पार करने, पहाड़ो पर चढ़ने और आसमान में उड़ने की शक्ति प्रदान करता है। साराश मे समाज मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि बना देता है।

§ २. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का स्वरूप

मनुष्य की अपेक्षा समाज की अधिक प्रधानता होने के कारण लोगो को ऐसा न समझ लेना चाहिए कि वह उन मनुष्यो की अपेक्षा जो उसमें रहते है, अधिक अच्छा है या उनसे भिन्न है। समाज, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानवजीवन की एक दशा के अतिरिक्त और कुछ नही है। वह केवल रहने का एक तरीका है। **जब कभी मनुष्य एक साथ रहते या किसी समान उद्देश्य के लिए मेल से काम करते है तभी वे समाज कहलाते है।** इस प्रकार मनुष्यों की समष्टि को ही समाज कहते है। समाज मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में रहता है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते है। अवसर पाकर वह विचार बाह्य जगत् में संस्थाओं और समुदायों का रूप धारण कर लेते हैं। शिक्षा की आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य शिक्षालय, स्वास्थ्यप्रद जीवन व्यतीत करने के लिए व्यायामशाला और हँसी-खेल के लिए क्लब आदि बनाता है। यदि मनुष्य इन भावनाओ को हृदय से सर्वथा निकाल दे तो समाज का अस्तित्व ही न रह सकेगा, उसका अन्त हो जायगा। कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर विचारों का एक समाज है और बाहरी समाज उसी का क्रियात्मक रूप है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं। मेल और एक दूसरे पर अवलम्बित रहने के दृष्टिकोण से वह मनुष्य का ही एक स्वरूप है। दूसरे शब्दो में मानव-जीवन के दो स्वरूप हैं—सामाजिक और व्यक्तिगत। सामाजिक स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी काम मेल के साथ करता है और व्यक्तिगत स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी कार्य स्वयं अकेला ही करता है। इस प्रकार समाज मनुष्य के विरुद्ध कोई चीज नही है। वह व्यक्तिगत जीवन को पूरा करता है और उसकी श्रीवृद्धि करता है।

समाज का आङ्गिक या आवयविक सिद्धान्त

परन्तु उपरोक्त मत से भिन्न, एक दूसरा मत भी है जो समाज को एक बिल्कुल स्वतन्त्र चीज समझता है। इस मत के अनुयायी समाज को उन मनुष्यो से बिल्कुल पृथक समझते

हैं जो मिलकर समाज को बनाते हैं। यह सिद्धान्त समाज का आङ्गिक या आवयविक सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध स्वभाव से आवयविक (Organismic) है। इस सम्बन्ध का स्पष्ट अर्थ ठीक तरह से तभी बतलाया जा सकता है जब कि आवयविक शब्द के अर्थ को अच्छी तरह समझ लिया जाय। हम ऐसी वस्तु को आवयविक कहते हैं जिसमें संगठन-शक्ति के भाग अपना अलग अस्तित्व न रखते हुए एक केन्द्रीय शक्ति पर अवलम्बित हों। इस शब्द का अर्थ संभवतः मनुष्य-शरीर की रचना पर ध्यान देने से ठीक समझ में आ जायगा। मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, सिर, आँख, नाक इत्यादि बहुत से भाग होते है परन्तु केवल इन भागों के योग को हम शरीर नही कह सकते। शरीर को एक जीवित वस्तु उसी समय कहा जा सकता है जब कि उसमें एक गुप्त शक्ति, जिसे प्राण कहते है, विद्यमान हो। इस जीवन-शक्ति के शरीर के अन्दर आ जाने पर ही शरीर के विभिन्न भागों का महत्त्व और उनकी उपयोगिता दिखलाई पड़ती है। इस शक्ति के बिना, मनुष्य-शरीर, एक मिट्टी के ढेले के समान कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक आङ्गिक या आवयविक वस्तु अपनी एक केन्द्रीय शक्ति रखती है और उस शक्ति के बिना उसके भिन्न-भिन्न भागों का कोई भी मूल्य नही होता। हम ऐसी प्रत्येक चीज को आङ्गिक या आवयविक (Organism) कह सकते है जिसमें जीवन हो और जो एक छोटे स्वरूप से बढ़कर अपने यौवन और वृद्धकाल को प्राप्त कर अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाय। इस प्रकार छोटे-छोटे पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी आङ्गिक कहे जा सकते हैं।

शरीर और समाज मे समानता—आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्य समाज भी एक आङ्गिक वस्तु है और इस कथन की पुष्टि के लिए वह मनुष्य-शरीर और समाज के संगठन के स्वरूप मे अनेक प्रकार की समानता बताते है। उदाहरणार्थ इन दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य का शरीर छोटे-छोटे जीवित परमाणुओं (Cells) के संयोग से बनता है, ठीक इसी प्रकार समाज व्यक्तियों के सामंजस्य से बनता है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के भिन्न-भिन्न भाग होते है और वह भाग एक दूसरे की सहायता के बिना कोई काम नही कर सकते, उसी प्रकार समाज में भी अनेक श्रेणियाँ और समुदाय होते है और उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार शरीर भोजन के बिना जीवित नही रह सकता, उसी प्रकार समाज-उत्पत्ति के बिना जीवित नही रह सकता। शरीर को एक जगह से दूसरी जगह लाने-ले जाने के लिए नसें इत्यादि होती है, समाज में इसी प्रकार यातायात के अनेक साधन होते हैं। शरीर पर मस्तिष्क राज्य करता है और समाज में सेना और सरकार का प्रबन्ध होता है।

केवल इतना ही नहीं, आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य-शरीर का विकास भी सामाजिक संगठन के विकास से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। मनुष्य शरीर, प्राणिशास्त्र (Biology) के सिद्धान्त के अनुसार, एक छोटे

से जीव से बढ़कर बनता है। इस प्रारम्भिक जीव में एक पेट और एक प्रवाहक अङ्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार सबसे प्राचीन समाज में मनुष्य जंगली अवस्था में रहता है। धीरे-धीरे इस समाज में भिन्न-भिन्न संस्थाओं और समुदायों का प्रादुर्भाव होता है और उनके कारण समाज मनुष्य-शरीर की भाँति जटिल बन जाता है। मनुष्य-शरीर और समाज की उन्नति, अधःपतन और विकास का विवरण भी बहुत कुछ आपस में मिलता-जुलता है। शरीर का जन्म होता है, फिर युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त करने के पश्चात् एक दिन उसका अन्त हो जाता है। यही दशा समाज की भी होती है। धीरे-धीरे करके समाज सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचता है। इसके पश्चात् उसमें दोष उत्पन्न होने लगते हैं और अन्त में उसकी सभ्यता का लोप हो जाता है।

आङ्गिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध

आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों में मुख्य नाम प्लेटो (Plato), सिसिरो (Cicero), मार्सिगलियो, (Marsiglio), हाब्स (Hobbes) और ब्लंट-शैली (Bluntschilli) के लिये जा सकते हैं। इन दार्शनिको का कहना है कि मनुष्य का अपने समाज के प्रति वही सम्बन्ध होना चाहिये जो एक जीवित शरीर के भाग का सारे शरीर के प्रति होता है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग स्वयं जीवित नही रह सकता, उसका अपना अलग कोई अस्तित्व ही नहीं होता; ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग रहकर न जीवित ही रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन को समाज के ही अर्पण कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को समाज की भलाई और समाज के वैभव के लिए ही जीना चाहिए, अपने लिए नहीं। यदि समाज पर किसी प्रकार की आपत्ति पड़े तो व्यक्ति का धर्म है कि वह सब कुछ छोड़कर समाज की रक्षा में लग जाय। व्यक्ति की भलाई समाज की भलाई में निहित है। समाज के प्रति व्यक्ति के केवल कर्तव्य ही हैं, उसके विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नही। यदि व्यक्ति गरीब है तो उसे इस बात का अधिकार नही कि वह सामाजिक संगठन के विरुद्ध आवाज उठा सके। उसका धर्म है कि वह हर प्रकार की कठिनाई का प्रसन्नता के साथ सामना करे। उसको केवल एक ही बात का ध्यान रखना चाहिए और वह यह कि उसके समाज की मान-प्रतिष्ठा संसार में किस प्रकार बढ़ सकती है।

आङ्गिक सिद्धान्त की आलोचना

मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के विषय में आंगिक सिद्धान्त के अनुयायी दार्शनिकों का मत सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यह सत्य है कि समाज और मनुष्य-शरीर की बनावट में कुछ बातों में समानता है परन्तु यह विचार सर्वथा निर्मूल है कि उन दोनों के संगठन और विकास में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। आंगिक सिद्धान्तवादी चित्र के केवल एक पहलू पर दृष्टि डालते हैं, दूसरे पर नहीं। वे समानता की बातों को तो देख लेते हैं परन्तु भिन्नता की नहीं।

हरबर्ट स्पेंसर ने, जो स्वयं एक आंगिक दार्शनिक था, परन्तु जिसने इस सिद्धान्त की सहायता से घोर व्यक्तिवाद का प्रचार किया, इन असमानताओं की ओर ध्यान दिलाया है। उसने बताया कि मनुष्य-शरीर और समाज-रचना में मुख्यतः दो अंतर होते हैं, प्रथम यह कि मनुष्य-शरीर मे चेतना का केवल एक केन्द्र होता है, उसी केन्द्र से सारा जीवन चलता है और उसका अन्त होने पर शरीर का भी अन्त हो जाता है। समाज में इसके विपरीत चेतना के उतने ही केन्द्र होते हैं जितने उस समाज में रहनेवाले व्यक्ति के। प्रत्येक व्यक्ति अलग सोचता है, अलग कार्य करता है और अलग ही उसका जन्म और अन्त भी होता है। व्यक्ति के मरने पर समाज का कार्य नही रुकता, परन्तु शरीर से आत्मा के निकल जाने पर उसके सारे अङ्ग मिट्टी के ढेर के समान रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि शरीर के अलग-अलग भागों की न कोई स्वतन्त्र इच्छा होती है, न कोई आवश्यकता। इसके विपरीत समाज का प्रत्येक सदस्य अलग सोचता है, कार्य करता है और अपनी आवश्यकताओं का अनुभव करता है। तीसरी बात यह है कि समाज और शरीर के विकास में भी विशेष भिन्नता है। मनुष्य का शरीर आन्तरिक गुणो के कारण फलता-फूलता है किन्तु समाज के उत्थान या पतन पर बाहरी वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य-शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु समाज का कभी अन्त नही होता।

इन कारणों से आंगिक सिद्धान्त का जिस रूप में वर्णन किया जाता है, वह गलत है। इस सिद्धान्त से मनुष्य और समाज के संबंध के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता। फिर भी इस सिद्धान्त में एक बड़ी सत्यता भी छिपी हुई है और वह यह है कि समाज मनुष्य की सेवा के लिए केवल एक निर्जीव यत्र नही, उसका अपना भी मूल्य है, जिसे हमें कभी भी अस्वीकार नही करना चाहिए।

संविदा या समझौता सिद्धान्त

आंगिक सिद्धान्त के अतिरिक्त एक दूसरा मत है जो समाज को मनुष्य के लिए स्वाभाविक नही, वरन् कृत्रिम समझता है। इस मत के अनुसार मनुष्यों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक संगठन की रचना की है। यह रचना मनुष्यों ने ठीक उसी प्रकार की जैसे उन्होंने यातायात के लिए सड़कें और प्रकाश के लिए बिजली बनाई। मनुष्य किसी भी समय अपने समाज को तोड़ या रद्द कर सकता है। जब वह यह समझे कि समाज अनावश्यक या हानिकारक है तब वह इसे समाप्त कर सकता है। समाज का केवल एक ही लक्ष्य है और वह है मनुष्य के सुख और उसकी भलाई के लिए कार्य करना। जिस समय तक समाज अपना यह कार्य सम्पन्न करता है उस समय तक उसकी आवश्यकता रहती है, परन्तु जब वह किन्ही भी कारणो से यह कार्य सम्पन्न नही कर सकता तब मनुष्य समाज का अन्त कर सकता है।

संविदा सिद्धान्त की आलोचना

इस मत में कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु इससे मनुष्य के समाज के साथ सम्बन्ध का सच्चा ज्ञान नही होता। इस मत से मनुष्य बहुधा ऐसा विश्वास करने लगता है कि उसका प्रधान उद्देश्य दूसरो की सेवा नही, परन्तु अपना व्यक्तिगत लाभ ही है। वह सच्चे नागरिक के स्थान में एक लुटेरा बन जाता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार समाज को मनुष्यकृत बताया गया है और कहा गया है कि व्यक्ति जब चाहे समाज का अन्त भी कर सकता है। यह धारणा सर्वथा असंगत है। मनुष्य समाज का कभी अन्त नही कर सकता। समाज तो मनुष्य के स्वभाव और अंग-अंग में व्याप्त है। उसके बिना, जैसे पहले बताया जा चुका है मनुष्य न जीवित ही रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है।

समझौते के सिद्धान्त मे केवल एक सच्चाई है और वह यह कि यह सिद्धान्त समाज के मनुष्य के प्रति कर्तव्य पर भी जोर देता है। आङ्गिक सिद्धान्त मनुष्य की एकाई को समाप्त कर देता है और समझौते का सिद्धान्त समाज की महानता को। वास्तव में सच्चाई दोनों सिद्धान्तों के बीच में है।

समाज और मनुष्य के सम्बन्ध का सच्चा सिद्धान्त

समाज स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों है—मनुष्य और समाज के बीच जो सम्बन्ध है उसका असली स्वरूप न समाज को 'समझौते' का फल समझकर और न उसे ईश्वर के समान सर्वव्यापी, अनन्त और महान् पुरुष मानकर जाना जा सकता है। समाज, जैसे पहले बताया जा चुका है, मनुष्य की प्रकृति और मनुष्य की आवश्यकताओं पर अवलंबित है। हम समाज में रहते है, क्योंकि इसके बिना हम अपनी प्राकृतिक भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। हम दूसरे के साथ मिलकर काम करते है क्योंकि इसके बिना हम जीवन व्यतीत करने की सामग्री और एक सभ्यतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के साधन नही जुटा सकते। इस प्रकार हमारे सामाजिक सम्बन्ध आंशिक रूप में स्वाभाविक और आंशिक रूप में कृत्रिम हैं।

समाज उद्देश्य और साधन दोनों है—समाज के सम्बन्ध में यह धारणा रखना कि वह व्यक्तियों से परे कोई ईश्वरीय वस्तु है, बिल्कुल गलत है। **मनुष्यों का आपस में एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने का नाम ही समाज है।** यदि सारे मनुष्य एक साथ अपने मन से सहयोग की भावना निकाल दें, यद्यपि ऐसा करना असंभव है, तो समाज का अन्त हो सकता है। समाज में मनुष्य इसलिए रहता है कि इसके बिना उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं, इसके बिना न वह जीवित रह सकता है और न एक प्रगतिशील और सभ्यतापूर्ण जीवन ही व्यतीत कर सकता है। समाज से ही हमें धन, विद्या, ऐश्वर्य, बुद्धि और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसे समाज के प्रति मनुष्य का धर्म है कि वह उसकी सेवा और

भलाई के लिए सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सदा तत्पर रहे। यहाँ समाज की सेवा से अर्थ कोई ऐसी चीज की पूजा नहीं जो मनुष्यों से भिन्न कोई ईश्वरीय वस्तु हो। समाज की सेवा का अर्थ है—मनुष्यमात्र की सेवा, अपने पड़ोसियों की सेवा, दीन-दुखियों की सेवा। दूसरे शब्दों मे, मनुष्य को केवल अपनी ही भलाई और अपने ही पेट के निर्वाह के लिए जीवित नही रहना चाहिए, वरन् मानव-समाज की भी सेवा करनी चाहिए। संसार में जितने भी संतप्त और दुखी प्राणी है, उनकी सेवा ही समाज की सेवा है। व्यक्ति और समाज में इस कारण किसी प्रकार का विरोध नही। व्यक्तियों के मेल से ही समाज की उत्पत्ति होती है और समाज की प्रगति और उसकी सभ्यता के विकास से मनुष्य की उन्नति होती है तथा मनुष्य की उन्नति से समाज का वैभव और ऐश्वर्य बढता है। इसलिए आङ्गिक सिद्धान्तवादी दार्शनिकों का यह समझना कि समाज ही सब कुछ है, व्यक्ति कुछ भी नही, या संविदा सिद्धान्त के चालकों का यह कहना कि समाज कुछ नहीं, व्यक्ति ही सब कुछ है, दोनों गलत है। वास्तव में 'समाज मनुष्य के लिए और मनुष्य समाज के लिए' है। इन दोनो में कोई विरोध नही। समाज का कर्तव्य है कि वह मनुष्य की भलाई के लिए अधिक से अधिक उपयुक्त वातावरण को जन्म दे और मनुष्य का धर्म है कि वह समाज की सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा तत्पर रहे। यही सिद्धान्त मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के असली स्वरूप को व्यक्त करता है।

§ ३. समाज की उत्पत्ति

समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बहुत से सिद्धान्त हैं। उनमे से सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण ये है—(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (२) समझौता सिद्धान्त, (३) भाव सिद्धान्त और (क) ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त।

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

यह सिद्धान्त इस धारणा से प्रारम्भ होता है कि समार में एक ऐसी ईश्वरीय शक्ति है जो मनुष्यों के कर्मो का स्वयं नियन्त्रण करती है। इसी शक्ति ने मनुष्य के समाज और उसके विविध रूपो को जन्म दिया है। इसी शक्ति के द्वारा समाज का पालन-पोषण होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का उन संस्थाओं और संगठनों के बनाने में कोई भी हाथ नही जो आज आधुनिक संसार मे हमें देखने को मिलते है। वह सारे ईश्वरकृत है और इस कारण उनको बदलने या उनके स्थान पर नई संस्थाओं को जन्म देने का हमें कोई अधिकार नही।

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का एक लंबा इतिहास है। वह बहुत काल तक फला-फूला। परन्तु वर्तमान समय में उसकी सारी महत्ता नष्ट हो गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार गिरजाघर, आर्थिक संस्थाएँ, राज्य, धार्मिक समाज आदि सारी संस्थाएँ ईश्वरकृत है। इसलिए उनके वर्तमान स्वरूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना पाप है। दैवी

सिद्धान्त में मानवी संस्थाओं को पवित्रता का वस्त्र पहना दिया गया है। उनमें परिवर्तन का स्थान ही नहीं होता। उदाहरण के लिए इसी सिद्धान्त के आधार पर भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा आदि का समर्थन किया गया है। इस प्रकार यह संस्थाएँ जो मानवी उन्नति और मानवी भाव-प्रकाशन के साधन होनी चाहिए थीं, आज मनुष्य की दासता की जंजीरें बन गई हैं।

आलोचना—दैवी सिद्धान्त गलत धारणाओं पर अवलम्बित है। यह परिवर्तन के मौलिक नियम की अवहेलना करता है। वह उस विस्तृत विकास का भी विचार नहीं करता जिसके अन्दर से निकलकर मानवी संस्थाओं और संगठनों ने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है। यह मनुष्य को दैवी शक्ति का एक खिलौना मात्र समझता है और सामाजिक जीवन में एक शक्तिहीन प्राणी बना देता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में कोई भी सच्चाई नहीं।

संविदा या सामाजिक समझौता सिद्धान्त—समाज की सृष्टि ईश्वरीय है, इस सिद्धान्त के विरोध में मध्यकालीन युग और योरोप के नवजीवन (Renaissance) काल में, एक नये सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई जिसे "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त" कहते हैं। यह सिद्धान्त संस्थाओं की पवित्रता के विरुद्ध पीड़ित मनुष्यों का विद्रोह था। इसने यह घोषित किया कि समाज की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा नही, वरन् मनुष्य के द्वारा हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक और सामाजिक युग से पहले मनुष्य अकेला एकान्त में रहता था। यह उसकी प्राकृतिक अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य का अपने सहयोगियों के साथ कोई सम्बन्ध न था। कुछ समय के पश्चात् जनसंख्या की वृद्धि से जीवन-निर्वाह के साधन घट गये और इस कारण आपस में झगड़े होने लगे। जीवन असहनीय हो गया। तब मनुष्य ने समाज को जन्म दिया।

आलोचना—'समझौता'-सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त मानव-इतिहास में सामाजिक युग से पहले का भी एक युग मानता है। इस प्रकार की दोनों धाराएँ मनुष्य-स्वभाव और ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध हैं। मनुष्य-शास्त्र, जन्तु-शास्त्र और शरीर-विज्ञान से हमको ज्ञात होता है कि मनुष्य ने अपने पूर्वज पशुओं से समाज का गुण ग्रहण किया है। जानवरों में भी समाज होता है। और समाज के बिना प्रायः जीवन असम्भव है। इस कारण मनुष्य ने समाज की रचना नहीं की, समाज तो मनुष्य के स्वभाव में व्याप्त है। इसलिए सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भी ईश्वरीय सिद्धान्त के समान सचाई की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।

भाव-सिद्धान्त

समाज की उत्पत्ति का एक और सिद्धान्त भी बताया जाता है और वह यह कि समाज की उत्पत्ति मनुष्य की भावनाओं के कारण हुई है। इस सिद्धान्त में आंशिक सत्यता है।

यह ठीक है कि समाज मनुष्य की भावनाओं पर अवलम्बित है परन्तु इसके साथ ही यह नहीं भूलना चाहिए कि भावनाओं के अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताओं और मनुष्य की मानसिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी समाज आवश्यक है।

विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त

समाज का वास्तविक स्वरूप विकासवादी सिद्धान्त ही व्यक्त करता है। वास्तव में यह सिद्धान्त समाज की उत्पत्ति नहीं वरन् उसका विकास बताता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज का जन्म किसी खास समय या किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अन्दर नहीं हुआ। समाज तो सदा से ही मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है, इसका पता तो हमें मनुष्य के पूर्वजों में भी मिलता है। इतनी बात अवश्य है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य का रहन-सहन बहुत साधारण और सामाजिक जीवन बिल्कुल प्रारम्भिक था। धीरे-धीरे इस जीवन में उलझने पड़ने लगीं, यहाँ तक कि आजकल की जटिल संस्थाओं का जीवन आ गया। इसलिए हम सामाजिक जीवन के विकास पर विचार कर सकते हैं, उसकी उत्पत्ति पर नहीं। इस विकास की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

§ ४. समाज का विकास

वर्तमान समाज उस विकास का प्रतिफल है जो मानव-जीवन के आरंभ से होता चला आ रहा है। इस विकास पर एक सूक्ष्म विहङ्गम दृष्टि डालने से हमें सामाजिक जीवन के स्वभाव और उसकी विभिन्न संस्थाओं को समझने में आसानी होगी। परन्तु इस विकास का इतिहास जानने से पहिले आवश्यक है कि हम यह समझ लें कि सामाजिक विकास समस्त संसार में एक ही समय समान रूप से नहीं हुआ। बहुत से देश दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत पहले उन्नति की अवस्था पर पहुँच गये थे। इसके अतिरिक्त, ऐसा भी कई जगह देखा गया है कि बहुत से देशों में किसी दैवी-प्रकोप के कारण या युद्ध में पराजित होने से उनकी उन्नति रुक गई। जिस उन्नति की अवस्था पर ऐसे देश पहुँच चुके थे वहाँ से उन्हें पीछे लौटना पड़ा। माराश; सामाजिक विकास एक नदी के बहते हुए निर्विघ्न प्रवाह के समान नहीं रहा। वर्तमान दशा में पहुँचने के लिए उसे बहुत से संकटों का सामना करना पड़ा। इस विकास की दूसरी विशेषता यह है कि किसी विशेष समय की संस्थाएँ आगे चलकर समूल नष्ट नहीं हो गईं; परन्तु नई संस्थाओं के साथ ही साथ जीती-जागती रहीं। किसी भी युग का समूल नाश नहीं हुआ। उसकी सफलताओं के आधार पर आगे की सभ्यता का निर्माण हुआ। इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुए, हम सामाजिक विकास के इतिहास को गौणरूप से चार विभागों में बाँट सकते हैं। प्रत्येक युग के अपने विशेष गुणों के कारण अलग-अलग नाम दिये गये हैं। वे चार विभाग ये हैं—आखेट-अवस्था, चरवाह-अवस्था, कृषक-अवस्था और औद्योगिक अवस्था।

आखेट-अवस्था (Hunting Stage)—मानव-समाज की पहली अवस्था आखेट-अवस्था थी। इस समय लोग छोटे-छोटे और बिखरे समुदायों में रहा करते थे। इन समुदायों का मुख्य काम जानवरों का शिकार या फल इकट्ठा करना था। भोजन-सामग्री इकट्ठी करने के कारण ही ये लोग साथ रहते थे।

इनका संगठन बहुत साधारण था। सब मिलकर शिकार खेलते और फिर उसको आपस में बाँट लिया करते थे। इन लोगों का न कोई राजा था, न शासन और न इन लोगों के पास कोई सम्पत्ति या उसको वितरण करने के नियम थे। इन लोगों में पारिवारिक जीवन का भी अभाव था।

इस समुदाय का परिमाण बहुत छोटा था। इसका कारण यह था कि इस युग में भोजन-सामग्री का अभाव था और वह सहज ही न मिल सकती थी। किसी-किसी दिन तो ऐसा होता था कि बहुत शिकार मिल जाता था परन्तु किसी दिन भूखा भी रहना पड़ता था। संकट और कुसमय के लिए सामग्री इकट्ठी करने की भी अभी तक इन्हें आदत नहीं पड़ी थी। जो भी शिकार ये लोग मारते थे उसे तुरन्त ही खा डालते थे।

इस युग के मनुष्यों का गृहस्थ जीवन उच्छृंखल था। समुदाय की सभी स्त्रियाँ दूसरे समुदाय के सभी पुरुषों की पत्नियाँ हुआ करती थीं। प्रकृति या मानव-जीवन सम्बन्धी ज्ञान उनमें नहीं के बराबर था। उनका जीवन ज्ञान का नहीं, भावनाओं का जीवन था। संसार उन्हें आपत्तियों से परिपूर्ण दिखलाई पड़ता था और वे समझते थे कि इन आपत्तियों से छुटकारा तभी मिल सकता है जब वह भूत-प्रेतों की सेवा करें। उनके जीवन में अकाल, रोग और संक्रामक बीमारियों का ताँता लगा रहता था। वे बड़ी कठिनता से अपना जीवन-निर्वाह कर सकी थे। उन्हें संस्कृति और आनन्द और सौन्दर्य-विषयों पर विचार करने के लिए तनिक भी समय न मिलता था। भिन्न-भिन्न समुदाय आपस में सदा लड़ते रहते थे। वे किसी सामाजिक नियम का पालन नहीं करते थे।

इन समुदायों में किसी भी मनुष्य को अपने अधिकारों का तनिक भी ज्ञान नहीं था। यदि किसी प्रकार के किसी को अधिकार प्राप्त थे तो वह व्यक्ति के नहीं बल्कि समुदाय के होते थे। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान और सुख के दृष्टिकोण से समाज की यह अवस्था दूसरी सारी अवस्थाओं से पिछड़ी हुई थी।

चरवाहा-अवस्था (Pastoral Stage)—चरवाहा-अवस्था का आरम्भ उस समय हुआ जब मनुष्य ने पशुओं को मारने के बजाय उनका पालन करना सीख लिया।

इस समय समाज की परिधि आखेट-अवस्था की अपेक्षा अधिक बढ़ गई थी। मनुष्य बड़े-बड़े समुदायों में रहते थे। ऐसा इसलिए सम्भव था कि पालतू पशुओं के कारण भोजन-सामग्री आसानी से मिल जाती थी। इस अवस्था में गृहस्थ जीवन में भी सुधार हुआ। मनुष्य इच्छानुसार विवाह कर सकता था। कोई-कोई पुरुष तो बहुत से विवाह भी करते थे। विवाह की प्रथा से संगठित पारिवारिक जीवन का जन्म हुआ। पिता

परिवार में सब सदस्यों पर पूर्णरूप से शासन करता था। वह अपनी स्त्री, पुत्र या पौत्रों को जान से भी मार सकता था।

पत्नियों को बहुत कड़े काम करने पड़ते थे। वे गृहस्थ-जीवन और पशुओं की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देती थीं। बहुत से परिवारों के संगठन से गोत्र बनता था। गोत्र के सभी लोगों का आपस में खून का रिश्ता होता था। और इसी कारण वे साथ रहते और काम करते थे। दूसरे शब्दों में इनके समाज का बन्धन रिश्तेदारी था।

इन लोगों का मुख्य धन्धा पशु-पालन था। समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति के पास पशुओं के झुण्ड रहा करते थे। सारा समुदाय इस पशु-धन की देख-रेख या निगरानी करता था। इस समय के लोगों की आर्थिक दशा भी सुधर गई थी। वे आखेट-अवस्था की अपेक्षा अधिक आसानी से अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकते थे। परन्तु अपने धन्धों के कारण एक जगह न रह पाते थे। उन्हें इधर-उधर घूमना पडता था। जब एक चरागाह समाप्त हो जाता था, तब वे दूसरे चारागाह की खोज में इधर-उधर घूमा करते थे।

चरागाहों के प्रश्न पर इन समुदायों में आपस में झगड़े भी हो जाते थे। इन्ही झगड़ों के फलस्वरूप समुदायों में नेता पैदा हुए। झगड़ों के समय यही नेता आगे रहते थे, और शान्ति के समय यही नेता न्याय का काम भी करते थे।

इस काल का धर्म पूर्वजों और प्रकृति की पूजा करना था।

इस अवस्था में व्यक्तिगत जायदाद की प्रथा आरम्भ हो गई थी। गरीब और अमीर की भावना का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। एक आदमी, जिसके पास पशुओं के अधिक झुण्ड होते थे, कम झुण्डवाले व्यक्ति से अधिक धनवान् माना जाता था।

कृषक-अवस्था (Agricultural Stage)—कृषि के आविष्कार से सामाजिक जीवन की तीसरी अवस्था आरम्भ हुई। इससे पहले मनुष्य को बहुत थोड़ी वस्तुओं की आवश्यकता थी, परन्तु कृषि के आरम्भ से उसकी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई। अब उसको रहने के लिए मकान और खेती के लिए हल आदि की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप, श्रम और कार्य-विभाजन का सिद्धान्त प्रयोग में आया। खेती के लिए राज, बढई और लुहार आदि की आवश्यकता होती है। बन-भ्रमण के युग में मनुष्य पशुपालन के साथ-साथ स्वयं ही लड़ता था, परन्तु कृषि-युग में कृषक लड़ने को नही जा सकता था। इसलिए योद्धाओं की एक अलग ही श्रेणी बन गई। इस प्रकार समाज में जाति या श्रेणी-विभाजन हुआ और चार जातियों, पुरोहित, योद्धा, कृषक और कलाकारों की रचना हुई। खेतीबाड़ी के लिए आवश्यक है कि कृषक एक जगह रहकर काम करें। इस प्रकार कृषक एक स्थान पर रहनेवाला बन गया और उसका घूमना-फिरना बंद हो गया। इस समय, एकही रक्त के स्थान पर निकटवर्तिता मनुष्यों को परस्पर बाँधनेवाली ग्रन्थि बन गई। एक ही स्थान पर रहना, न कि एक ही रक्त का

होना इस समय पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ करता था। अब बाहरवाले लोग भी गाँव में आकर बसने लगे और उनको हस्तकला का काम करने की अनुमति मिल गई। परन्तु वे ग्राम के अधिकार और सुविधाएँ नहीं पा सकते थे। ये लोग गाँव में विदेशी समझे जाते थे। वे गाँव में रह सकते थे परन्तु वहाँ के अधिकार प्राप्त नही कर सकते थे। समाज में जाति-विभाजन के कारण शासक और शासित में अन्तर हो गया। इस प्रकार मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण आरम्भ हुआ। राजा और धनियों ने कृषक और उद्योग-धन्धे करनेवालों का शोषण आरम्भ किया। यद्यति रीति और परिपाटी अभी भी थी किन्तु बाहर से आये हुए विजातीय लोगों के लिए नई रीतियाँ बनाई गईं।

कृषक-अवस्था में साम्राज्यों का विस्तार—मनुष्य के भूमि पर निश्चित रूप से रहने के नियम बन जाने के बाद समाज की वृद्धि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई। साधारणतः सामाजिक जीवन का विस्तार इन दोनों विधियों से हुआ, या तो ग्रामों से बढ़कर बड़-बड़े साम्राज्य बने या व्यापार करनेवाले नगर बसे।

ग्राम-साम्राज्य—जिन देशों में भूमि उपजाऊ थी और खेती के लिए सिंचाई के साधन प्राप्य थे, जैसे मिश्र मे नाइल, मेसोपोटेमियाँ मे यूफ़रीटीज और भारत में गगा और यमुना, उन देशों में नदियों के किनारे बहुत छोटे-छोटे गाँव बस गये और ये गाँव स्वेच्छा से या बलपूर्वक एक साम्राज्य के अन्दर लाये गये। साम्राज्य के ऊपर राजा का शासन होता था जो किसी केन्द्रीय नगर मे रहता था। नगरो की स्थापना ग्रामों की खेती से उत्पन्न वस्तु अन्न आदि, बेचने के लिए हुई, आज भी बाजार नगरो के मुख्य भाग है। पवित्र स्थानों और युद्ध के लिए उपयुक्त स्थानों पर भी नगर बस गये। इस प्रकार के नगरों के तीन उपयोग हुए: व्यापार, सैनिक संगठन और धार्मिक पूजा।

इन साम्राज्यों पर राजाओं का शासन होता था जो झगड़ों के निपटारे के लिए न्यायालय रखते थे। राजाओं की सहायता गाँव में रहनेवाली भद्र-मंडली करती थी। इन योद्धाओं और जमीदारों (Feudal lords) की आय गाँव से होती थी जो उनकी लड़ाई और शांति-युग की सेवाओं का पुरस्कार था। इसके बाद राजाओं को पुरोहितों से सहायता मिलती थी, यह दूसरी सुविधा-प्राप्त श्रेणी थी। और इनकी भी भूमि पर श्रम करनेवाले लोगों से आमदनी होती थी। कृषि-प्रधान समाज में भी परिपाटी और रीति प्रचलित थी। राजा, पुरोहित और धनिक इन रीति प्रथाओं के अधीन रहकर शासन कर सकते थे।

इन साम्राज्यों में विदेशियों के कोई अधिकार नहीं थे। उनकी कोई रीति-प्रथा न होन के कारण उनको वही अधिकार प्राप्त हो सकते थे जिनकी राजा अनुमति देता था। कृषि-साम्राज्य अधिक सामाजिक उन्नति नही कर सके, क्योकि वे रूढ़ि-आरूढ़ और अत्याचारपूर्ण थे। इन राज्यों में विभिन्न संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ नही मिल सकती थीं। इस कारण ये विदेशियों द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर दिये गये।

यूनान के नगर-राज्य—(१) समाज के विस्तार में दूसरा स्थान नगर-राज्यों का है, विशेषकर यूनान के नगर-राज्यों का। इन नगर-राज्यों की वृद्धि में भूगोल ने बड़ी सहायता की। इस युग में मिश्र आदि देशों में उन्नतिशील सभ्यताएं थी। यूनान के नगरों में व्यापारिक जीवन की वृद्धि हुई जिसके कारण वहाँ के निवासियों ने बहुत धन संचय कर सुख और अवकाश का जीवन बिताया। अवकाश के कारण वहाँ के लोगों ने संस्कृति की वृद्धि में अपना समय लगाया। इसी कारण वहाँ का उस समय का जीवन उच्च कोटि के विद्याध्ययन और ज्ञानप्राप्ति में बीतता था। वहाँ के जीवन की निम्नलिखित विशेषताएँ थी। वह नागरिकों तक ही परिमित था। (२) पहले तो तानाशाही राज्य थे, परन्तु बाद में राजाओं ने क्रमश. प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये। (३) रीति-प्रथा से हटकर सार्वजनिक सभाओं द्वारा कानून बनाये गये। (४) नगर के साथ अधिकारियों की स्थिति थी। विदेशियों को कोई अधिकार प्राप्त न थे। (५) वहाँ के लोगों का प्रगतिशील, आर्थिक, सांस्कृतिक और कलापूर्ण जीवन था। (६) इन नगरों में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी क्योंकि दास और हस्त-कलाकारों के कोई अधिकार न थे।

इन नगरों ने प्रारम्भिक काल में बड़ी उन्नति की। इस समय मनुष्य ने अपने आप संस्थाएँ बनानी आरम्भ की। इस प्रकार समाज का विस्तार, पूर्वकाल के समान अनभिज्ञता में नहीं, परन्तु ज्ञानपूर्वक होने लगा।

यूनान के लोगों ने एकता का पाठ नहीं पढ़ा और न कानून का उपयोग सीखा। इसलिए वह रोम के विजेताओं से पराजित किया गया।

रोम के नगर राज्य—रोम में भी यूनान के समान नगर-राज्य थे। इन लोगों ने समाज के विकास में स्वतन्त्रता के स्थान पर कानून और शांति पर अधिक जोर दिया। शनैः-शनैः रोम के लोगों ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। इनके समाज की विशेषता यह थी कि इनके ऊपर एक सम्राट् कई सभाओं की राय से राज्य करता था और बड़ी-बड़ी सेनाओं की सहायता लेता था। उस समय साम्राज्य के सब निवासी नागरिक कहलाते थे और रोम का कानून सारे साम्राज्य में प्रचलित था। विदेशियों को कोई भी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसी प्रकार दासों और आश्रितों को भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।

इस साम्राज्य का नाश जर्मनी के आक्रमण से हुआ। जर्मनी के लोग अधिक सभ्य न थे। परन्तु उनके राजा सारे सम्प्रदाय की साधारण सभा की राय से राज्य करते थे। इस सभा की अनुमति से ही वे राजा बनते थे। इस प्रकार जर्मनी के लोगों ने स्वायत्तशासन का सिद्धान्त स्थापित किया।

ईसाई धर्म का प्रभाव—रोमन साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर यूरोप के समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाली, धर्म के अतिरिक्त कोई शक्ति न रही। इस प्रकार मध्यवर्ती युग में समाज ईसाई धर्म के साथ-साथ स्थिर रहा। ईसाई धर्म के माननेवालों को ही अधिकार प्राप्त थे।

सामन्तशाही––इस समय समाज छोटे-छोटे समूहों में संगठित था जिसके ऊपर सामन्त या जमीदर राज्य करता था। ऐसे बहुत से सामन्तों के ऊपर एक राजा होता था जो स्वयं भी सामन्त होता था और युद्ध के समय सामन्तों का नेता बनता था। समाज में सुविधा-प्राप्त और सुविधा-वंचित इस प्रकार दो श्रेणियाँ थी। पहली श्रेणी मे पुरोहित और धनिक थे जिनको राजनैतिक और नागरिक अधिकार तथा बहुत सी दूसरी सुविधाएं प्राप्त थी। इन सुविधाओ से वंचित श्रेणी के लोग व्यापारी, हस्तकलाकार और कृषक थे जिनको केवल नागरिक अधिकार प्राप्त थे। व्यापारिक, राजनीतिक, धार्मिक कारणो से शनैः-शनैः समाज में पूर्ण क्रान्ति हो गई। जमीदारो और धनिको के हाथ से शक्ति व्यापारियो और कृषको के हाथ मे आ गई। ये नई श्रेणियाँ धन और सैनिक शक्ति के आधार पर जमीदार के समुदाय को नष्ट करने लगी।

यूरोप के पुनर्जन्म का काल––यूरोप के पुनर्जन्म के समय मे धनिक-समुदाय का नाश हुआ और समाज का मुख्य आधार राजा पर अवलम्बित हो गया। इस युग मे राजा सर्वशक्तिशाली हुआ। राजा और प्रजा के हितो के एकीकरण से समाज मे एकता उत्पन्न हुई। इस युग मे सस्कृति यूरोप के पुरोहितो या पडितो तक ही सीमित थी। इसी समय अमरीका और भारत के सामुद्रिक मार्गो का पता लगा जिससे यूरोप के विभिन्न देशों के व्यापारियो का व्यापार बढ़ा और इसके साथ-साथ धन मे वृद्धि तथा नये व्यापारिक नगरों की स्थापना हुई। व्यापारियों ने सामाजिक उन्नति के कार्य मे भाग लिया। राजा ने स्थानीय और विदेशी विद्वानों को आश्रय दिया। प्रत्येक राज्य-सभा अपनी विशेष सस्कृति और सभ्यता का केन्द्र बन गई। लैटिन भाषा से स्थानीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई।

राष्ट्र की उत्पत्ति––इस प्रकार विशेष सगठित समुदाय उत्पन्न हुए। प्रत्येक राष्ट्र में एक पृथक् राजा, एक भाषा, एक धर्म और समान आर्थिक हित हो गये। ऐसे ही समूह या समुदाय को राष्ट्र कहने लगे।

औद्योगिक और व्यवसायिक काल––शनैः-शनैः इस युग में यन्त्रो के आविष्कार हुए। इङ्गलैण्ड और दूसरे देशों में लोहे की मशीन, करघे, भाप से चलनेवाले एन्जिन, के जहाज इत्यादि चीजों का आविष्कार हुआ। इन चीजों के आविष्कार से भोजन-सामग्री बढ़ी और साथ ही दुनिया के व्यापार में वृद्धि हुई। व्यापार की वृद्धि के कारण यातायात के साधन, तार, टेलीफोन, रेडियो, वायरलेस, हवाई जहाज, बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि अनेक सुविधाओं और संस्थाओं की आवश्यकता पड़ी। समाज का संगठन बहुत पेचीदा बन गया। समाज के आर्थिक हितों के आधार पर अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। धनिक और निर्धनों का संघर्ष बढने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण––बने हुए माल को बेचने के लिए नये बाजारों की खोज हुई। इससे बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों में संघर्ष हुआ। सन् १९१४ और १९३९ के

महान युद्ध इसी संघर्ष के उदाहरण थे। इन युद्धों में बहुत सी पुरानी संस्थाएँ नष्ट हो गई। पहिले महायुद्ध के बाद यूरोप में विशेषकर जर्मनी और इटली में उत्कट राष्ट्रीयता (Nazism and Fascism) का जन्म हुआ, और इसी के कारण पिछला महायुद्ध छिड़ा। इस महायुद्ध में इन पाशविक शक्तियों का तो अंत हुआ परन्तु संसार में आर्थिक संकट बढ़ गया। प्रत्येक देश में चीजों की कीमतें बढ़ गईं और भूख तथा महामारी के कारण लाखों मनुष्य मृत्यु के ग्रास बन गये। नये आर्थिक वातावरण में रूस की साम्यवादी सरकार को यूरोप के भूखे और लड़ाई से पीड़ित देशों पर आपना आधिपत्य जमाने का अच्छा अवसर मिला। परन्तु इससे अमरीका, इङ्गलैण्ड और रूस का आपसी भेद-भाव और अधिक तीव्र हो गया।

आज भी इन दो महान शक्तियो के बीच संघर्ष हो रहा है और पता नहीं कब तीसरा महायुद्ध संसार मे छिड़ जाय। समाज के संगठन की उस समय क्या कायापलट होगी इसका अभी से अनुमान नहीं किया जा सकता।

सामाजिक विकास की कुछ मुख्य विशेषताएँ

पिछले पृष्ठों में जिस सामाजिक विकास का विश्लेषण किया गया है उसके प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं :—

विस्तार—सामाजिक जीवन एक बहुत छोटे परिमाण से आज सारे संसार में फैल गया है। पहिले मनुष्य एक आखेटक के रूप में अपने एक छोटे से दल में रहता था। आज वह संसार की जाति का एक सदस्य है।

स्वभाव—प्रारंभिक समाज बिना रूपरेखा के अनियमित और असंगठित दल था। इस प्रकार के प्रारंभिक समाज से बढ़कर आज मनुष्य अपने को अनेक संस्थाओं का सदस्य पाता है और उसके सामाजिक जीवन का क्षेत्र बहुत बड़ा और सङ्गठित हो गया है। इस प्रकार प्रारंभिक, असङ्गठित और सादे जीवन के विपरीत आज का हमारा जीवन सङ्गठित और मिश्रित है।

गति—प्रारंभिक मनुष्य बहुत धीरे-धीरे चल-फिर सकता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के बहुत कम और कठिन साधन थे। परन्तु आज तो मनुष्य सारे संसार में सुभीता से आ-जा सकता है। इस प्रकार आज सामाजिक जीवन अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक बन गया है। प्रारंभ में मनुष्य अपने ग्राम में ही रह सकता था और बाहर के लोगों से उसका कोई सम्बन्ध न था। आज मनुष्य विश्व-समाज का एक सभ्य नागरिक है।

आर्थिक जीवन—आधुनिक युग के उद्योग-धंधों में भी एक भारी क्रान्ति हो गई है। आज मनुष्य को जीवन-निर्वाह के लिए प्रकृति से नहीं लड़ना पड़ता और न दिन भर काम ही करना पड़ता है। प्राचीन काल की सभ्यता मानवी और पाशविक दासता पर

अवलंबित थी। दिन भर काम में जुटे रहने के कारण मनुष्य के पास स्वाध्याय आदि के लिए अवकाश नहीं बचता था। आज यन्त्र ने मनुष्य और पशु का स्थान ले लिया है। इस कारण आज यह सम्भव है कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण रोका जा सके और समाज का सङ्गठन समता और न्याय के सिद्धान्तो पर किया जा सके।

स्वतंत्रता—पूर्व काल में व्यक्ति अपने समूह से सब प्रकार से बाधित था, आज वह उस दासता से स्वतंत्र होता जा रहा है। आज मनुष्य संसार में भ्रमण करने के लिए स्वतंत्र है और कानूनों के द्वारा अपनी रक्षा कर सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है। आज मनुष्य पर अनेक अन्याय होते हैं और अनेक प्रतिबन्ध लगे हैं। परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतंत्रता की सीमा पहले वे बढ़ गई है।

सम्बन्ध का कारण—पूर्व काल में मनुष्य के सम्बन्ध और सहयोग भोजन या निकट रक्त या विशेष स्थान पर स्थित रहने आदि के कारणों पर अवलंबित थे। मनुष्य मनुष्य के नाते कोई सम्बन्ध नहीं था। आज समाज अर्थात् सहयोग की भावना के कारण मनुष्य मनुष्य से मिलता-जुलता है और उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है।

सामाजिक सत्ता—आज समाज की सत्ता कानून है, परिपाटी नहीं। पूर्व काल में समाज एक सूत्र में ईश्वर के भय से बँधा था परन्तु आज वह स्वेच्छा से मनुष्यों के सहयोग से बँधा है।

स्त्रियों की स्थिति—प्रारंभिक समाज में पुरुष ने स्त्री को सब प्रकार अधीन कर रक्खा था। पुरुष अधिक शक्तिशाली होने के कारण स्त्रियों से अपने लिए श्रम करवाता था। परन्तु आज स्त्री और पुरुष का समता और न्याय पर, सम्बन्ध और सहयोग अवलंबित है।

आधुनिक सामाजिक जीवन—में पूर्वकाल से जो महान् अन्तर हो गए हैं उनकी गणना संक्षेप से ऊपर की जा चुकी है। आज अच्छे सामाजिक जीवन के नियमों को जानने के कारण हम जीवन को सुखी और उन्नत बनाने की राह पर हैं। यह आधुनिक शास्त्रियों और नागरिकशास्त्र विशारदों का मत है। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कि मनुष्य-जीवन आज वास्तविक और स्थायी सुख और शांति की ओर बढ़ रहा है, कठिन है।

§ ५. वर्तमान समाज का संगठन

वर्तमान समाज का स्वरूप बहुत जटिल है। इसमें कितने ही प्रकार के संगठन होते हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न ढंगों से कार्य करते हैं। इन संगठनों की गहराइयों पर विचार करने से पहले हमें कुछ शब्दों की परिभाषाएँ समझ लेनी चाहिए। इन शब्दों का प्रयोग समाज के संगठन के वर्णन करने में किया जायगा :—

(२) संघ या संत्रास (Association)

संघ उन समुदायों को कहा जाता है जो बहुत से मनुष्य मिलकर किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित करते हैं। संघों में तीन तत्वों का होना नितान्त आवश्यक है: (१) बहुत से मनुष्यों की सदस्यता, (२) एक केन्द्रीय अनुशासनपूर्ण संगठन तथा (३) एक समान आदर्श। इन तीनों अंगों के बिना कोई भी समुदाय संघ नहीं कहा जा सकता।

सर्वप्रथम संघ केवल एक मनुष्यों का संगठन ही हो सकता है। हम वृक्षों या पत्थरों के समूह को संघ नहीं कह सकते। संघ के लिए दूसरी मुख्य आवश्यकता एक केन्द्रीय अनुशासन है। जिस संस्था में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं, जिसके सदस्य किसी विधान के अनुसार कार्य नहीं करते, वह संस्था संघ नहीं कहलाई जा सकती। तमाशा देखने के लिए सड़क पर खड़ी भीड़ को हम संघ नहीं कह सकते क्योंकि उसमें किसी प्रकार का अनुशासन नहीं होता। संघ के लिए तीसरी मुख्य आवश्यकता संघ के सारे सदस्यों का एक ही उद्देश्य में विश्वास करना है। रेलगाड़ी में बैठे हुए मनुष्यों के किसी समूह को भी हम संघ नहीं कह सकते क्योंकि उनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता। कोई मनुष्य एक जगह जाना चाहता है तो दूसरा कहीं और। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यों के किसी समुदाय को संघ कहने के लिए अनुशासन और आदर्श के एकीकरण की मुख्य आवश्यकता है।

बहुत से मनुष्य संघ और समाज में भेद नहीं करते और ऐसी संस्थाओं को, जिन्हें वास्तव में उन्हें संघ के नाम से पुकारना चाहिये, समाज का नाम दे देते हैं, जैसे वाद-विवाद समाज (Debating Society), साहित्यिक समाज (Literary Society) इत्यादि। ऐसी संस्थाओं को समाज का नाम देना उचित नहीं। कहने को चाहे हम उन्हें समाज कह दें, पर वास्तव में वे संघ ही होते हैं।

संघ और समाज में अन्तर—हम संघ और समाज में भेद इस प्रकार कर सकते हैं:—

(१) संघ समाज का एक अंग मात्र होता है, समाज के अन्दर हजारों संघ हो सकते हैं।

(२) समाज के अन्दर भिन्न-भिन्न आचार-विचार तथा उद्देश्यों के मनुष्य रह सकते हैं, संघ में केवल एक ही विचार के मनुष्य रहते हैं।

(३) समाज में रहना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं; समाज मनुष्य के स्वभाव में व्याप्त है। परन्तु किसी संघ का सदस्य होना मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है।

जाति अथवा लोक समाज (Community)

अंग्रेजी के कम्यूनिटी शब्द का हिंदी अनुवाद कई प्रकार से किया गया है। कुछ लेखक इसे 'जाति' कह कर पुकारते हैं, कुछ लोक समाज अथवा समुदाय, और कुछ इसे

संप्रदाय का नाम देते हैं। वास्तव में कम्यूनिटी शब्द का अर्थ है 'समान भावना'। जब बहुत से मनुष्य किसी एक स्थान अथवा देश में रहने या किसी एक ही व्यवसाय को करने से समान रीति-रिवाज, जनश्रुतियाँ अथवा जीवन के प्रति एकसे ही आदर्श निर्मित कर लेते हैं तो वह एक ही जाति या लोक समाज के सदस्य कहलाने लगते हैं। मैकाइवर के कथनानुसार जाति मनुष्यों के किसी समूचे भाग, जैसे गाँव, नगर या देश को कहते हैं। जाति की उत्पत्ति के लिए जीवन की मौलिक अवस्थाओं में बहुत से मनुष्यों का एक दूसरे से साथ घनिष्ठ सबंध वांछनीय है। इस प्रकार का सबंध बनने से ग्रामजाति, नगरजाति, राष्ट्रजाति, वैश्यजाति, ब्राह्मणजाति, हिन्दूजाति इत्यादि का निर्माण हो जाता है।

आजकल जातियाँ अपना संकुचित रूप छोड़कर विशाल रूप धारण करती चली जा रही हैं। उदाहरणार्थ ग्राम जातियाँ, राष्ट्र जातियों में परिवर्तित हो गई हैं, धार्मिक जातियों का महत्व नष्ट हो गया है और संसार के सभी मनुष्य यह अनुभव करने लगे हैं कि उनको आपस में संगठित करने वाली शक्ति का नाम मानवता है। संसार के सभी व्यक्तियों की भावनाओं में मौलिक समानता है, ऊपरी असमानताएँ तथा भेदभाव अस्थाई हैं। सारा संसार एक विश्व जाति (World Community) के आदर्श की ओर बढ़ रहा है।

जाति और समाज में अन्तर—जाति की उपरोक्त परिभाषा से विदित हो गया होगा कि समाज से वह किस प्रकार भिन्न है। फिर भी हम इन दोनों समुदायों के मुख्य अन्तर का वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) समाज मनुष्यों के एक वृहद् संगठन को कहते हैं, जाति समाज की अपेक्षा एक छोटा संगठन है।

(२) समाज रूपी संगठन में मनुष्यों को बाँधनेवाली शक्ति सामाजिक भावना होती है, आदर्शों की समानता नहीं। जातियों के संगठन के लिए कुछ अधिक कड़े अनुबंधों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए एक ही जाति के सदस्य समान रीति-रिवाज, रहन-सहन खान-पान, उत्सव-त्यौहार इत्यादि प्रथाओं में विश्वास रखते हैं।

(३) एक समाज में बहुत-सी जातियाँ रह सकती हैं। समाज एक उस विशाल वट वृक्ष की भाँति है जिसके नीचे विभिन्न जातियाँ,संघ तथा समुदाय उसी प्रकार आश्रय पाते हैं जैसे थके हुए बहुत से राहियों के गुट उसकी छाया में बैठकर आनंद का अनुभव करते हैं।

संस्थायें और संस्थान (Institutions)

एल० टी० हाबहाउस संस्थाओं की परिभाषा इस प्रकार करता है कि 'संस्था एक स्वीकृत रीति अथवा आचरण है जो सामाजिक जीवन के यन्त्र का एक भाग है' इसी प्रकार मैकाइवर कहता है कि संस्थाएँ मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों को एक व्यवस्थित रूप देने के साधन हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्थाएँ वह कानून तथा रीति-रिवाज हैं जो कि समाज, जाति तथा संघों में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार पर नियंत्रण रखती हैं।

संस्थाओं के उदाहरण में हम ऐसे रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों का नाम ले सकते हैं, जैसे विवाह पद्धति, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, जातिप्रथा, दंड व्यवस्था, अस्पृश्यता इत्यादि अधिकतर संस्थाओं का जन्म सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों के द्वारा ही होता है। राज्य की ओर से भी संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं जैसे कानून की संस्था, नागरिकता, दंड-व्यवस्था इत्यादि।

संस्थाओं का मुख्य कार्य समाज का नियंत्रण करना है, दूसरे शब्दों में वह उन संबंधों का विवेचन करती है जो समाज के अंग अर्थात् संघों और जातियों का एक दूसरे का साथ होता है।

उपरोक्त सामाजिक संगठनों के प्रत्येक अंग का वर्णन अगले अध्यायों में विस्तृत रूप से किया जायगा।

योग्यता-प्रश्न

१. 'सहयोग जीवन का मुख्य आधार है' आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

२. 'व्यक्ति सामाजिक जीवन का अंतिम उद्देश्य है, समाज नहीं', प्रोफेसर मैक्टेगर्ट के इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९२९)

३. समाज की उत्पत्ति के विषय में विविध सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए और उनकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९३२)

४. 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है', इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

५. 'समाज' इस शब्द से आप क्या समझते हैं? संघ, जाति और संस्था से इसमें क्या भिन्नता है? (यू० पी०, १९३८)

६. 'स्वभाव और आवश्यकता से मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उदाहरण देते हुए इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९४०)

७. समाज के स्वरूप की व्याख्या कीजिये और बताइये कि यह सभ्यता के लिए क्यों आवश्यक है?

८. समाज के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कौन हैं? आपकी सम्मति में व्यक्ति और समाज का वास्तविक संबंध क्या है?

९. 'क्या समाज एक उद्देश्य अथवा एक साधन अथवा दोनों है', इस कथन पर विचार कीजिए।

१०. उन भिन्न-भिन्न दशाओं का वर्णन कीजिए जिनमें समाज का विकास हुआ है।

११. सामाजिक संस्थाओं के आप क्या और कैसे भेद करेंगे, उदाहरण दीजिए। (यू० पी०, १९५०)

१२. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९५२)

अध्याय ३

व्यक्ति और उसके संघ

वर्तमान समाज की सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें कितने ही प्रकार के संघ विद्यमान हैं। यदि हम अपने आसपास के सामाजिक जीवन पर दृष्टि डालें तो हमें कितने ही संघ दिखलायी पड़ेंगे। इन संघों का निर्माण मनुष्य अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। मनुष्य समाज में अकेला रह कर कुछ भी नहीं कर सकता, उसे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। बहुत से मनुष्य जब तक एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी नियंत्रण में बँध कर एक साथ काम करते हैं तो वे एक संघ के सदस्य कहलाते हैं। संघों के कितने ही प्रकार होते हैं। यदि कुछ संघ मनुष्य की धार्मिक भावना की तृप्ति के लिए बनाये जाते हैं तो दूसरे उसकी सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति के लिए। कुछ संघ यदि मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित होते हैं तो कुछ और उसकी शारीरिक उन्नति के लिए। कुछ संघों का जन्म यदि मनुष्य के मनोरंजन के लिए होता है तो दूसरों का उसकी राजनैतिक प्रवृत्ति की संतुष्टि के लिए। संघों का आकार और विस्तार भी इसी प्रकार अलग-अलग होता है। कुछ संघ स्थायी हैं तो दूसरे अस्थायी। कुछ संघों का सङ्गठन सादा होता है तो दूसरों का अत्यन्त जटिल। कुछ संघों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है तो दूसरों का संसार-व्यापी।

संघों की आवश्यकता

प्रश्न उठता है कि मनुष्य के लिए संघों का सदस्य होना क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक कारण दिये जाते हैं। इनमें से कुछ कारण तो ऐसे हैं जो सभी संघों पर समान रूप से लागू होते हैं और कुछ ऐसे जो केवल विशेष प्रकार के संघों पर ही लागू होते हैं।

(१) संघ के द्वारा व्यक्तित्व की उन्नति होती है—किसी व्यक्ति के संघ का सदस्य होने का सर्वप्रथम कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म संसार में इसलिए होता है कि वह अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सके। यह सब उसी दशा में सम्भव हो सकता है जब मनुष्य विभिन्न संस्थाओं का सदस्य हो। प्रत्येक सङ्गठन का अपना अलग उद्देश्य होता है। किसी भी एक सङ्गठन के सदस्य बनने से मनुष्य हर प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिए हमारे सामाजिक जीवन में कई प्रकार के सङ्गठनों की आवश्यकता होती है। सामाजिक जीवन में जितनी ही अधिक संस्थाएँ होंगी, मनुष्य का सामाजिक जीवन उतना ही अधिक सम्पन्न हो सकेगा।

(२) संघ के द्वारा अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है—सङ्गठन के द्वारा उसके सदस्यो को अधिक सफलता मिलने की सम्भावना रहती है। यदि व्यक्ति संघ के सदस्य न रहकर स्वतंत्र रूप से काम करें तो उन्हें मनोवांछित सफलता प्राप्त नही हो सकती। सङ्गठन के द्वारा व्यवस्थित और सङ्गठित प्रयत्न किये जा सकते हैं। एक अव्यवस्थित जन-समूह अधिक सफलता प्राप्त नही कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति का बहुत-सा भाग व्यर्थ नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में एक सदस्य ऐसा काम कर सकता है जिसे दूसरा भी कर रहा हो, इसके अतिरिक्त कुछ सदस्य ऐसे भी काम कर सकते है जो समूचे जन-समाज के लिए व्यर्थ सिद्ध हो। अन्त में नेता और नेतृत्व के अभाव के कारण सभी व्यक्ति नेता बनने की चेष्टा करने हैं और इस प्रकार कोई भी काम नहीं हो पाता। इसी कारण से यह कहा जाता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति का कार्य किसी भी व्यक्ति का कार्य नही होता'। जनसमूह के व्यवस्थित होने पर यह दोष उत्पन्न नही होते। व्यवस्था हो जाने पर अलग-अलग सदस्यो के काम का इस तरह विभाजन कर दिया जाता है कि उसमे एक ही काम को बहुत से लोगों द्वारा करने की सभावना बिल्कुल मिट जाती है और सारा काम बहुत आसानी से, थोड़े मे थोड़े समय मे, और कम से कम प्रयत्न से पूरा हो जाता है।

(३) संघों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है—मनुष्य संस्थाओं के सदस्य इसलिए भी बनते है कि वे एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकें। साधारणतया मनुष्यो की आपस मे उस समय तक कोई घनिष्ठता या मित्रता नही होती जब तक वह अपने साथियो के साथ किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलकर नित्यप्रति काम न करें। सघ के सदस्यो को इस प्रकार कार्य करने का अवसर मिलता है और फलस्वरूप वह एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन जाते है।

(४) संघों के द्वारा मनुष्य सामाजिक विषयों पर सम्मति निश्चित कर सकते है—मनुष्य सघो के सदस्य इसलिए भी बनते है कि वे उन विषयो पर विचार-विनिमय कर सकें जिनका उन पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। सगठन में एक मस्तिष्क का दूसरे मस्तिष्क से सबध और सघर्ष होता है। इससे नये विचार उत्पन्न होते है। यदि ऐसा न हो तो ये विचार प्रसुप्तावस्था में ही पड़े रहें। दूसरे शब्दों में संगठनों के द्वारा उनके सदस्यों को अपनी मानसिक उन्नति करने के बहुत से अवसर मिलते है।

(५) संघ सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करते है—अन्त में संघ अपने सदस्यों के लिए एक इस प्रकार का भवन निर्माण करते है जिसके अन्दर वे सामाजिक और स्वाभाविक आपत्तियों से उनकी रक्षा कर सकें। वर्तमान समय में मनुष्य मानव-समाज रूपी समुद्र में अपने आप को एक बूंद के समान पाते है। वह इस वातावरण मे अपने आप को बिल्कुल शक्तिहीन समझते हैं। संगठन उन्हें शक्ति का भाव प्रदान करता है और अकारण होनेवाले आक्रमणों से उनकी रक्षा करता है। एक मजदूर उस समय तक मिल-

मालिकों से अपना वेतन नहीं बढवा सकता जब तक वह अपने साथियों की किसी सुसङ्गठित संस्था का सदस्य न हो। इसी प्रकार एक ताँगेवाला पुलिस कान्स्टेबल के जुल्म से उस समय तक अपनी रक्षा नहीं कर सकता जब तक वह अपने साथियों से मिलकर अपना कोई यूनियन नहीं बना लेता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में संघ मनुष्य की रक्षा और उसकी उन्नति दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वे मनुष्य की ढाल और तलवार दोनों का काम करते हैं।

संघों का वर्गीकरण

जैसा पहले कहा जा चुका है, संघ अनेक प्रकार के होते हैं, उनका क्षेत्र, आकार और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए संघों का किसी एक सिद्धान्त पर वर्गीकरण नहीं हो सकता। इस वर्गीकरण के लिए हमें निम्नलिखित आधार अपनाने पड़ते हैं :—

(१) संघों की अवधि; (२) सदस्यता; (३) उद्देश्य और (४) अधिकार।

(१) अवधि—अवधि के आधार पर संघ अस्थायी या स्थायी कहे जा सकते हैं।

(क) अस्थायी संघ—अस्थायी संघ ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो किन्हीं विशेष आयोजन से किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पैदा होती हैं और अपना कार्य करने के पश्चात् समाप्त हो जाती हैं। अकाल के समय भूख से पीड़ित जनता की रक्षा के लिए बनाई गई संस्थाएँ या किसी कवि-सम्मेलन या धार्मिक सम्मेलन को करने के लिए बनाई गई सभाएँ या समितियाँ इस प्रकार की अस्थायी संस्थाएँ कहलाती हैं।

(ख) स्थायी संघ—अस्थायी संघों के विपरीत कुछ ऐसे संघ होते हैं जिनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है। इस प्रकार की संस्थाओं में हम शिक्षा सम्बन्धी संघ, सेवासमिति, राज्य आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ कभी नष्ट नहीं होतीं और यह सर्वदा अपना कार्य करती रहती हैं।

(२) सदस्यता—सदस्यता के आधार पर संघों के दो समूह किये जा सकते हैं—

(क) स्वाभाविक या आवश्यकीय और (ख) कृत्रिम या ऐच्छिक।

(क) स्वाभाविक या आवश्यकीय संघ—ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जिनका प्रत्येक मनुष्य को सदस्य होना आवश्यक है। इन संघों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। इच्छा न होने पर भी इन संघों की सदस्यता प्रत्येक मनुष्य को स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी संस्थाओं में कुटुम्ब, जाति और राज्य आदि सम्मिलित हैं। कोई भी मनुष्य इन संस्थाओं को त्यागकर जीवित नहीं रह सकता।

(ख) ऐच्छिक या कृत्रिम संघ—समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक सामाजिक संघ का सदस्य बनना आवश्यक नहीं। बहुत से संघ मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बनाता है और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही वह उनका सदस्य रहता है। उन संघों को

यदि मनुष्य चाहे तो छोड़ भी सकता है। इस प्रकार के संघ, कुटुम्ब और राज्य की तरह, मनुष्य के लिए अनिवार्य तो नहीं, परन्तु वे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के संघों में हम धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं, आर्थिक सङ्गठनों, मनोरंजन सम्बन्धी सभाओं, शिक्षा-परिषदों, नाटक-मंडलियों और इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं को सम्मिलित कर सकते हैं।

(३) उद्देश्य—उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त संघों का वर्गीकरण उद्देश्यों के आधार पर भी किया जाता है। मनुष्य अपने समान हित और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक संघ बनाते हैं। व्यक्ति की इच्छाएँ असंख्य होती हैं, इसीलिए संघों की गणना करना भी असम्भव है। परन्तु फिर भी मुख्यतः हम संघों को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) रक्त सम्बन्धी संघ (Biological)
(२) आर्थिक संघ (Economical)
(३) सांस्कृतिक संघ (Cultural)
(४) परोपकारी संघ (Philanthropical)
(५) राजनीतिक संघ (Political)
(६) धार्मिक संघ (Religious)
(७) सुधारवादी संघ (Reformatory)
(८) मनोरंजनार्थ संघ (Recreational)

(१) रक्त सम्बन्धी संघ—रक्त सम्बन्धी संघों में सबसे मुख्य स्थान कुटुम्ब को प्राप्त है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन का सबसे पहला संगठित रूप है। यद्यपि कुटुम्ब सबसे छोटा संघ है तथापि वह सबसे महत्वपूर्ण है। इसलिए इसका पूरा विवरण एक अगले अध्याय में दिया जायगा। यहाँ हम रक्त सम्बन्ध पर आधारित दूसरी संस्थाओं जैसे कुल, गोत्र, जन, जाति (clan, gotra, gens, tribe, race) इत्यादि का वर्णन करेंगे।

कुल, गोत्र, जन अथवा कबीलों का जन्म परिवारों के विकास से होता है। एक ही पिता के पुत्र जब अलग-अलग रहने लगते हैं तो बहुत से परिवारों का जन्म हो जाता है। ऐसे बहुत से परिवारों के मिलने से गोत्र या कुल का जन्म होता है। इस प्रकार एक ही पूर्वज की संतान को कुल, कबीला या गोत्र कहा जाता है। कालान्तर में एक कुल के लोग दूसरे कुल के लोगों के साथ शादी विवाह इत्यादि का संबंध जोड़ लेते हैं तथा सब एक ही प्रकार का व्यवसाय करने लगते हैं। इस प्रकार रक्त संबंध तथा व्यवसाय पर आधारित जातियों तथा उपजातियों (castes and sub-castes) का जन्म होता है। ऐसे लोगों के खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन, विश्वास तथा पूजा संबंधी मामलों में बहुत-सी समानताएँ होती हैं, इसलिए आगे चलकर यह लोग एक ही

या पास-पास के गाँवों में बस जाते हैं। फिर बहुत से गाँवों के मिलने से राज्य का जन्म हो जाता है।

बहुत बार जातियों के वृहद् स्वरूप को नस्ल या रेस (Race) के नाम से पुकारा जाता है। ऐसे सब लोग भी एक ही पूर्वज से अपना विकास मानते हैं, परन्तु शादी विवाह तथा गोद इत्यादि लेने की प्रथाओं के कारण विभिन्न नस्लों के बीच इतना रक्त का सम्मिश्रण होता है कि किसी नस्ल या जाति के विषय में यह कहना कि वह विशुद्ध है, सर्वथा गलत है। वृहद् रूप में आजकल संसार में कुछ इनी-गिनी नस्लें ही हैं जैसे आर्यन (Aryan) मंगोल (Mongol), सेमेटिक (Semetic) इत्यादि। भारतवर्ष, मध्यपूर्व के कुछ देश तथा यूरोप में जर्मनी इत्यादि राष्ट्र अपने आपको आर्यो का वंशज मानते हैं। चीनी, बर्मी, तिब्बती, मलाया, इडोनेशिया, श्याम, हिद चीन तथा जापान इत्यादि देशों के निवासी मंगोल जाति के वंशज माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त मुसलमान तथा यूरोप के कुछ निवासी सेमेटिक जाति के लोग माने जाते हैं।

आधुनिक काल में शिक्षा की प्रगति तथा संसार एवं परिवहन के साधनों की प्रगति से संसार के विभिन्न लोगों के बीच आपसी मेल-जोल तथा रिश्ते-नाते के संबंध इतने अधिक बढ़ गये हैं कि जाति, उपजाति, नस्ल, कुल या गोत्रों का विचार प्रायः लुप्त-सा होता जा रहा है। केवल कुछ पिछड़े हुए समाजो जैसे कट्टर हिदू या मुसलमानों में जाति-पाँति के बंधन अब भी माने जाते हैं। इसका मुख्य कारण जाति संबंधी अनेक संस्थाओं का संगठन है। जाति सस्थाएँ अपने सदस्यों और दूसरी जातियों के लोगों के बीच पृथकत्व की भावनाएँ बनाए रखती हैं और अपनी विरादरी के लोगों को इस बात के लिए विवश करती हैं कि वह केवल अपनी जाति के अंदर ही शादी विवाह इत्यादि रचाएँ। वह सामाजिक बहिष्कार के अस्त्र का प्रयोग कर समाज के विद्रोही तत्वों को अपने कब्जे में रखती है।

प्रारंभिक काल में जाति संस्थाओं से चाहे जो भी लाभ हुए हों, आधुनिक काल में यह संस्थाएँ एकदम अनुपयोगी तथा हानिकारक सिद्ध हो रही हैं और शिक्षा की प्रगति के साथ उनका महत्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

(२) **आर्थिक संघ**—आर्थिक संघ हम ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की विशेष रूप से रक्षा करती हैं। मजदूरों के ट्रेड यूनियन, मिल-मालिकों के संगठन, चैबर आफ कामर्स, वकील, शिक्षक और डाक्टरों की सभाएँ, टाँगे और ठेलेवालों के यूनियन, सहकारी समितियाँ इसी प्रकार के आर्थिक संघों के उदाहरण हैं। इन संस्थाओं का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के आर्थिक हितों के लिए लड़ना और उनकी औद्योगिक और सामाजिक उन्नति करना है। आर्थिक संस्थाएँ अपने सदस्यों में भ्रातृभाव और कार्य के प्रति दक्षता का भाव भी उत्पन्न करती हैं। यदि यह संस्थाएँ योग्य व्यक्तियों द्वारा संचालित हों तो इनसे समाज को अत्यन्त लाभ होता है, राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ती

है और देश शक्तिशाली बनता है। परन्तु यदि इन्ही सस्थाओ का नेतृत्व स्वार्थी और अयोग्य व्यक्तियो के हाथ मे चला जाय तो इससे देश की उन्नति और उसकी शान्ति तथा सुव्यवस्था को भारी धक्का पहुँचता है। आर्थिक सस्थाओं पर इसलिए किसी न किसी प्रकार का सरकारी नियत्रण अवश्य रहना चाहिये जिससे इन सस्थाओ के अयोग्य व्यक्तियो के हाथ मे चली जाने पर वह हड़ताल आदि कराके देश की उत्पादन-शक्ति को नष्ट और समाज के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त न करने पावे।

आर्थिक सस्थाएँ स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो सकती है। धोबी, नाई या इसी प्रकार के छोटे पेशा करनेवाले कारीगरो की सस्थाएँ अधिकतर स्थानीय होती है। पढ़े-लिखे और कुछ उच्च श्रेणी के व्यवसाय करनेवाले लोगो की सस्थाएँ अधिकतर राष्ट्रीय होती है। इनके अतिरिक्त कई सस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय भी होती है, जैसे वर्ल्ड फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन, इण्टरनैशनल लेबर आर्गेनाइजेशन्स इत्यादि। वर्तमान समाज में इन आर्थिक सस्थाओ का महत्त्व बहुत अधिक व्यापक होता जाता है।

आर्थिक सघो के अन्तर्गत कभी-कभी एक ही पेशा करनेवाले व्यक्ति अपनी एक अलग सस्था बना लेते है। ऐसी संस्था को हम पेशे सम्बन्धी (Professional or Vocational) सघ कह सकते है। लुहारो, जुलाहो, सुनारो, चमारों, धोबियो, अध्यापको, वकीलो, पत्रकारो, कपड़े के व्यापारियो, आढतियो आदि की सस्थाएँ इस प्रकार के सघो के उदाहरण है। आर्थिक सघो मे यह आवश्यक नही कि उनमें एक ही प्रकार के पेशेवाले लोग सम्मिलित हो। आर्थिक सघ का अर्थ है कोई भी इस प्रकार की संस्था जो समान आर्थिक हित रखनेवाले सदस्यों की रक्षा करे। मिल मालिकों या मजदूरों के संघ में कपड़े, सन, लोहे, रबर, चीनी और दूसरे किसी प्रकार के कारखानो के मालिक या उनमे काम करनेवाले मजदूर सम्मिलित हो सकते है। बहुत-सी बातों में इन लोगों के आर्थिक हित एक से ही होते है और ऐसी मिली-जुली आर्थिक सस्थाएँ इसी प्रकार के अपने सदस्यो के आर्थिक हितो की रक्षा करती है। पेशे सम्बन्धी सघो मे सदस्यो के बीच अधिक घनिष्ठता का भाव रहता है और वे अपने पेशे की उन्नति के लिए विभिन्न योजनाओं पर विचार कर सकते है। पेशो से सम्बन्ध रखनेवाले सघो पर भी सरकारी नियंत्रण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी आर्थिक सस्थाओं पर।

(३) **सांस्कृतिक संघ**—सास्कृतिक सघ उन सगठनों को कहते है जो अपने सदस्यों और समूचे समाज की सस्कृति की उन्नति के लिए स्थापित किये जाते है। इन संघों में सबसे प्रधान विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूल है। इन संस्थाओ का उद्देश्य नागरिकों को शिक्षित बनाना तथा समाज में ज्ञान की वृद्धि करना है। स्कूल और कालेजों के अन्तर्गत कुछ दूसरे सघ भी होते है जैसे इतिहास परिषद् (Historical Association), विज्ञान परिषद् (Scientific Association) इत्यादि। इन संघों का उद्देश्य भी अपने विशेष-क्षेत्र में ज्ञान की वृद्धि करना होता है। शिक्षा-

सम्बन्धी संस्थाओं के अतिरिक्त दूसरे सांस्कृतिक संघ भी होते हैं जैसे साहित्यिक और अनुसंधान सम्बन्धी संस्थाएं, सार्वजनिक पुस्तकालय, अजायबघर, साहित्यिक सम्मेलन और कला केन्द्र इत्यादि जिनका उद्देश्य भी वही होता है जो स्कूलों और कालेजों का। यह सब संस्थाएं साहित्य, कला, इतिहास, दर्शन तथा दूसरे विज्ञानों की उन्नति करती हैं।

(४) **परोपकारी संघ**—परोपकारी संघों में ऐसी संस्थाएं सम्मिलित हैं जिनकी व्यवस्था विशेष रूप से लूले-लंगड़े, निराश्रित और बेकार लोगों की सहायता के लिए की जाती है। विधवाश्रम, अनाथालय, सेवासमिति आदि इस प्रकार के संघों के उदाहरण हैं।

(५) **राजनीतिक संघ**—राजनीतिक संघों के अन्तर्गत हम दो प्रकार के संघों का वर्णन कर सकते हैं—एक राज्य और दूसरे राजनीतिक दल। राज्य या स्टेट (State) सबसे बड़ा संघ है जो समाज के दूसरे सारे संघों के जीवन को सुव्यवस्थित रखता है। समाज में सुख, शान्ति और ठीक प्रकार की व्यवस्था रखना राज्य का मुख्य कार्य होता है। राज्य के बिना समाज का जीवन नहीं चल सकता और न समाज में संघों का अस्तित्व ही स्थिर रह सकता है। इसलिए राज्य भी दूसरे संघों की भांति समाज का अंग ही है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे संघों से राज्य अधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं।

राज्य के अतिरिक्त राजनीतिक दलों को भी हम राजनीतिक संघ कह सकते हैं। इन दलों का मुख्य कार्य चुनाव के द्वारा राज्य पर अधिकार करना और देश के शासन को चलाना होता है। हमारे देश में कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल, कम्युनिस्ट दल, जनसंघ इत्यादि इस प्रकार के राजनीतिक संघों के उदाहरण हैं।

(६) **धार्मिक संघ**—एक ही धर्म या सम्प्रदाय में विश्वास रखनेवाले लोग कभी-कभी अपना एक अलग धार्मिक संघ बना लेते हैं। इस प्रकार के संघों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को धार्मिक शिक्षा देना, उनमें धार्मिक साहित्य का प्रचार करना, पूजा के स्थानों की रक्षा तथा व्यवस्था करना और अपने धर्मावलम्बियों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। प्रत्येक सभ्य समाज में धार्मिक संस्थाओं का एक बहुत ऊँचा स्थान होता है। धर्म मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं से परे अध्यात्मवाद की ओर ले जाता है। वह मनुष्य के अन्दर से छल-कपट, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, लोभ, मोह और इसी प्रकार के दूसरे दुर्गुणों का नाश करके उसको एक आदर्श मनुष्य और समाज का उपयोगी नागरिक बनना सिखाता है। धार्मिक संघ अपने सदस्यों में दया, धर्म और ईश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हैं। वह मनुष्य को बतलाते हैं कि इस सांसारिक जीवन से परे भी एक जीवन है जिसे पारलौकिक जीवन कहते हैं और व्यक्ति को सांसारिक झमेलों में पड़ कर उस आनन्दमय जीवन को नहीं भुला देना चाहिये।

यदि धार्मिक संघ सच्ची धार्मिक भावना का ही मनुष्य के बीच प्रचार करें और व्यर्थ के पाखण्डों और ढकोसलों में न पड़ें तो वह समाज की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के धार्मिक संघ समाज में पवित्रता का नहीं, वरन् दुष्टता और भ्रष्टता का प्रचार करते हैं। धर्म के नाम पर संसार भर की सामाजिक कुरीतियों का प्रचार किया जाता है, धर्म के पण्डित पीड़ित और दुखी जनता को अपने अत्याचारों के नीचे पिसते रहने का आदेश देते हैं, वह राजनीति के क्षेत्र में धर्म की दुहाई देकर पदार्पण करना चाहते हैं, समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रचार में रुकावट डालते हैं और मनुष्य के मस्तिष्क को रूढ़िवादी विचारों में ढालना चाहते हैं। आज धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के व्यभिचारों का प्रचार किया जाता है। धर्म आज समाज का रक्षक नहीं, उसका भक्षक बन गया है। जो धर्म मनुष्य में दया, सहिष्णुता, प्रेम, बलिदान और बन्धुत्व की भावना जागृत करने के लिए जन्मा था, आज उसी धर्म के नाम पर निरपराधी मनुष्यों का खून और अबलाओं और बच्चों का अपहरण सिखाया जाता है। धर्म से आज प्रेम का नहीं, वरन् घृणा का प्रचार किया जाता है। भारतवर्ष संसार के सामने सदा धार्मिकता और अध्यात्मवाद की डोंग मारता रहा है, परन्तु आधुनिक वातावरण में क्या हम कह सकते हैं कि धर्म में हमारी लेशमात्र भी श्रद्धा है? धर्म के नाम पर आज भारतवर्ष मे छुआछूत, विधवापन, देवदासीप्रथा, पशुबलि, पर्दाप्रथा आदि का प्रचार किया जाता है। भारत में ही नहीं दूसरे देशों में भी मध्यकाल में धर्म के नाम पर क्या-क्या अत्याचार नहीं किये गये?

धार्मिक संस्थाओं पर इन्हीं सब कारणों से सरकारी नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए जिससे सरकार यह देख सके कि धर्म के नाम पर कहीं समाज के भोले-भाले व्यक्तियों को पथ-भ्रष्ट तो नहीं किया जाता, कहीं धर्म के ठेकेदार राजनीति के वातावरण को दूषित तो नहीं करते और कहीं वे समाज में अत्याचार की भावना का प्रचार तो नहीं करते? धार्मिक संस्थाओं का वास्तविक क्षेत्र आध्यात्मिक है और इसी क्षेत्र में उन्हें कार्य करना चाहिए।

(७) **सुधारवादी संघ**—सुधारवादी संघ वे हैं जिनकी व्यवस्था उन लोगों के द्वारा की जाती है जो समाज से कुरीतियों को हटाने को आवश्यकता पर समान रूप से विश्वास रखते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के संघों के उदाहरण 'हरिजन-सेवक संघ', 'जात-पाँत तोड़क मंडल', 'बाल-विवाह-निवारक समिति', 'विधवा-विवाह-प्रचारक सभा' इत्यादि हैं। इस प्रकार के संघ सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। वे समाज के लिए वही काम करते हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए डाक्टर करते हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक बीमारी को दूर कर उसके स्वास्थ्य को सुधारना है। प्रायः समाज में पुरानी संस्थाएँ अपने अच्छे इतिहास के कारण एक पवित्रता का रूप धारण कर लेती हैं और समाज के अधिकतर लोग पुरातनवादी होने के कारण उन संस्थाओं को

बदलना नहीं चाहते। सुधारवादी संघ समाज की इस प्रसुप्तावस्था में जागृति उत्पन्न करते हैं और सामाजिक कुरीतियों और अन्यायों को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सुधारवादी संघों को एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए और वह यह कि प्रत्येक सुधार का समाज पर स्थायी असर डालने के लिए यह आवश्यक है कि जनता को सुधार के लिए ठीक प्रकार की शिक्षा देकर तैयार किया जाय। किसी भी सुधार को जनता पर बलपूर्वक नहीं थोपना चाहिए। ऐसा करने से लाभ नहीं, हानि ही होती है और सुधार का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

(८) **मनोरंजनार्थ संघ**—मनोरंजन सम्बन्धी संघ वे हैं जो अपने सदस्यों के मनोरंजन के लिए स्थापित किये जाते हैं। नाटक-मंडली, सिनेमा, थिएटर, रेडियो, खेल-कूद के क्लब आदि इसी प्रकार की संस्थाओं के उदाहरण हैं। सामाजिक जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए इन संघों की विशेष आवश्यकता रहती है। इनके द्वारा मनुष्य को जीवन में आनन्द और उल्लास की प्राप्ति होती है। ये निरन्तर कार्य करने से थके हुए व्यक्तियों को विश्राम और शान्ति प्रदान करते हैं और उनकी थकावट और चिन्ताओं को दूर करते हैं। इस प्रकार के संघों के वातावरण में आकर मनुष्य संसार की सारी चिन्ताओं और कष्टों को भूल जाते हैं और अपनी आत्मा में आनन्द के स्रोत का स्पर्श करते हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी मनोरंजन-सम्बन्धी संस्थाएँ समाज की सेवा नहीं कर सकतीं। बहुत-सी संस्थाएँ जैसे जुआघर, शराब-खाने आदि मनुष्य को अधःपतन और अनाचार की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं को जड़ से नष्ट कर देना चाहिए ताकि वे मनुष्य के सामाजिक जीवन को दूषित न कर सकें।

(९) **अधिकार**—अधिकार के आधार पर संघों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—(१) **सार्वभौमिक** (Sovereign), (२) **अर्धसार्वभौमिक** (Semi-sovereign) और (३) **असार्वभौमिक** (Non-sovereign)।

(१) **सार्वभौमिक संघ**—ऐसी संस्थाओं को कहा जाता है जो अपने सदस्यों पर पूर्णरूपेण अधिकार रखती हैं, अपनी आज्ञा का बलपूर्वक पालन करा सकती हैं और अपने सदस्यों को हर प्रकार का दण्ड भी दे सकती हैं। इस प्रकार का संघ केवल राज्य ही हो सकता है, दूसरी कोई संस्था नहीं।

(२) **अर्धसार्वभौमिक संघ**—वे संगठन हैं जिन्हें सार्वभौमिकता के पूरे नहीं, थोड़े से अधिकार प्राप्त हों, ऐसे संघों में हम म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, आदि के नाम ले सकते हैं।

(३) **असार्वभौमिक संघ**—वे सङ्गठन हैं जिन्हें किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं होते। वे केवल प्रार्थना और अपनी सेवा के द्वारा ही अपने सदस्यों से अपनी आज्ञा का पालन करा सकते हैं। इस प्रकार के संघों में हम धार्मिक, सांस्कृतिक, सुधारवादी, मनोरंजन-सम्बन्धी इत्यादि संघों के नाम ले सकते हैं।

भिन्न-भिन्न संघों के प्रति नागरिकों के कर्तव्य

मनुष्य के सामाजिक जीवन में संघों का जो विशेष स्थान है और उनसे व्यक्ति के जीवन की सफलता में जो विशेष सहायता मिलती है इन सभी बातों का वर्णन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। संघ मनुष्य की जीवनयात्रा में मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करते हैं और उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक बनकर मनुष्य के सामाजिक जीवन को अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाते हैं। संघों की इन सेवाओं के बदले मनुष्य के उनके प्रति कुछ कर्तव्य भी हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह उन संस्थाओं की आज्ञाओं को पूर्ण रूप से पालन करे जिनका वह सदस्य है, उनके अधिवेशनों में सम्मिलित हो और उनकी तन, मन, धन से सहायता करे।

परन्तु इन सब बातों का यह आशय कदापि नहीं कि कोई एक संघ अपने सदस्यों से जो चाहे करा सकता है। इस प्रकार का अधिकार तो केवल राज्य (State) को ही है। समाज के दूसरे संघ तो अपने सदस्यों से केवल एक विशेष प्रकार के कर्तव्यों का ही पालन करा सकते हैं। वह यह आशा कदापि नहीं रख सकते कि उनके सदस्य उनको छोड़कर किसी और संघ के सदस्य न बनें या उनके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करें। कोई एक संघ व्यक्ति की पूर्णरूपेण उन्नति या उसका विकास नहीं कर सकता और इसी कारण वह यह आशा नहीं कर सकता कि उसका सदस्य दूसरे किसी और संघ में सम्मिलित न हो या उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे। एक संघ मनुष्य जीवन की केवल एक ही भावना को सन्तुष्ट करता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास करने के लिये अनेक संघों का सदस्य बनना पड़ता है।

कई बार ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य का एक संघ और दूसरे संघ के प्रति जो कर्तव्य है उसमें संघर्ष पैदा हो जाता है। ऐसी दशा में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ और हित के विचार को त्याग कर यह देखने का प्रयत्न करे कि सामाजिक भलाई किस संघ के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करने में है। एक तुच्छ हित की पूर्ति के लिए हमें समाज के बड़े हित का त्याग नहीं करना चाहिए। वास्तव में असली नागरिक वही है जो भिन्न-भिन्न संस्थाओं के प्रति अपने कर्तव्यों का समन्वय करना जानते हैं। यही बात एक अंग्रेज लेखक विलियम बौयड ने इस प्रकार कही है—"Citizenship consists in the right ordering of loyalties." इसका अर्थ यही है कि सच्ची नागरिकता अपने अनेक कर्तव्यों का सामंजस्य करने में ही होती है। वास्तव में मनुष्य की भिन्न-भिन्न संस्थाओं का एक ही उद्देश्य और एक ही हित होता है और वह यह कि व्यक्ति और समाज की अधिक से अधिक उन्नति हो। समाज के भिन्न-भिन्न संघों में इस कारण किसी प्रकार के संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। जो विरोध हमें बाह्य रूप से दिखाई देता है वह हमारी अज्ञानता के ही कारण है।

योग्यता-प्रश्न

१. मनुष्य के लिए संघों में रहना क्यों आवश्यक है ? एक सामाजिक क्लब, व्यायाम-संघ और राज्य के कार्यों के पारस्परिक भेद को आप कैसे स्पष्ट करेंगे ? (यू० पी०, १९३३)

२. आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे ? विभिन्न संघों के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३३)

३. वह कौन से मुख्य-मुख्य संघ हैं जिनका आधुनिक जातियों में संगठन किया जाता है ? (यू० पी०, १९३९)

४. उन संघों के मुख्य भेदों का वर्णन कीजिये जिनमें एक आधुनिक जाति अपना संगठन करती है। (यू० पी०, १९४१, १९४२)

५. संघ किसे कहते हैं ? व्यक्ति संघों के सदस्य क्यों बनते हैं ? उनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है ? (यू० पी०, १९४४)

६. इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—(१) अनिवार्य संघ, अस्थायी संघ, (३) सुधारक संघ, (४) रक्त सम्बन्धी संघ, (५) सांस्कृतिक संघ (६) धार्मिक संघ।

७. समाज में सुधारवादी संघों का क्या महत्त्व है ? वे सामाजिक जीवन की गति-विधि में किस प्रकार सुधार करते हैं ?

८. अधिकार और सीमा के आधार पर आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे ?

९. समाज संघों से बना है, इस मत की व्याख्या कीजिये। संघों की उपयोगिता का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४९)

१०. धर्म और नागरिक जीवन पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

११. समुदायों की आवश्यकता बताइये। राज्य और दूसरे समुदायों में क्या भेद है ? (यू० पी०, १९५४)

अध्याय ४

व्यक्ति और उसका परिवार

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि परिवार सामाजिक सङ्गठनों में सर्वप्रथम स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण सङ्गठन है। यह संघ मनुष्य की प्रेम तथा वात्सल्य भावना पर अवलंबित है। मानव-समाज की सभ्यता के प्रभवकाल में इस संस्था का जन्म हुआ और जब तक मनुष्य में स्नेह और सभ्यता का अंकुर बना रहेगा, यह संस्था भी अमर रहेगी।

कुटुम्ब का जन्म पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग से होता है। एक कुटुम्ब के अन्दर माता-पिता, भाई-बहन, पौत्र-पौत्री आदि सम्मिलित होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि परिवार मनुष्य जाति की सबसे प्राचीन संस्था है, परन्तु इसका स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा। प्राचीन काल में कुटुम्ब बहुत बड़ा हुआ करता था क्योंकि उसमें माता-पिता के अतिरिक्त चाचा-चाची, भाई-भाभी, चचेरे भाई, चचेरी बहनें इत्यादि भी रहते थे। भारतवर्ष और विशेषकर हिन्दुओं में आजकल भी ऐसे ही संयुक्त कुटुम्बों (Joint families) की प्रथा अधिक प्रचलित है। एक ही परिवार में प्रायः बाप, दादा, परदादा, उनकी स्त्रियाँ, लड़के, लड़कियाँ आदि रहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के सम्मिलित कुटुम्ब नहीं होते। वहाँ केवल माता-पिता और बच्चे ही एक साथ रहते हैं। जब लड़का अपना विवाह कर लेता है तो अपने माँ-बाप का घर छोड़ देता है और अपने लिए एक दूसरा घर बना लेता है।

एक परिवार में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों का स्वरूप भिन्न-भिन्न काल और देशों में अलग-अलग रहा है। कुछ देशों में परिवार का आरंभ माता से हुआ और कुछ दूसरे देशों में पिता से। सभ्यता के प्रारंभिक काल में बहुविवाह-प्रथा अधिक प्रचलित थी, एक पुरुष कई स्त्रियाँ रख सकता था। किसी-किसी देश में स्त्रियों को भी कई पति रखने का अधिकार था। परन्तु अधिकतर परिवार पैतृक ही होते थे अर्थात् ऐसे परिवार जहाँ पुरुष को ही कई स्त्रियाँ रखने का अधिकार था। ऐसे परिवारों में पुरुष का अपनी स्त्री और अपने बच्चों पर पूर्ण अधिकार होता था। पुरुष यदि चाहता तो अपने बच्चों को मृत्युदंड भी दे सकता था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री और बच्चों को परिवार में पुरुष के ही समान अधिकार मिलने लगे। ईसाई धर्म के प्रचार से बहु-विवाह प्रथा प्रायः बन्द-सी हो गई। आधुनिक काल में संसार के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार दिये जाते हैं। हमारे देश

में स्त्रियों की स्थिति मे अभी दूसरे देशों की भाँति उन्नति नही हुई है, परन्तु अब इस दिशा में भी विशेष प्रयत्न हो रहा है और नये सविधान के अनर्गत तो भारत की स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सारे अधिकार प्राप्त हो गये है।

परिवार के कार्य

परिवार जिन कार्यो को करता है वे मनुष्य और समाज की भलाई के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार यद्यपि परिवार सबसे छोटा सङ्गठन है फिर भी सामाजिक जीवन में इसकी सबसे अधिक महत्ता है। इसके कर्तव्यो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है. **(१) प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी, (२) आर्थिक, (३) सांस्कृतिक, (४) नागरिक, (५) मनोरञ्जन-सम्बन्धी और (६) धार्मिक।**

(१) प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी——प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी कार्य परिवार के अस्तित्व के मूलाधार है। परिवार का जन्म प्रमुखतया सन्तान की उत्पत्ति और लालन-पालन के लिए होता है। परिवार में ही मनुष्य के जीवन की उन्नति और वृद्धि होती है। बच्चों का ठीक प्रकार से लालन-पालन किसी दूसरे सङ्गठन मे इतनी अच्छी प्रकार से नही किया जा सकता जितना एक परिवार मे। माता और पिता अपनी सन्तान के प्रति प्रेम की वह स्वाभाविक भावनाएँ रखते है, जो उनके प्रति दूसरे कभी नही रख सकते। उन्हे अपनी सन्तान की सेवा करने मे, उनके आराम के लिए चिन्ता करने में और उनके सुख के लिए परिश्रम करने मे बहुत आनन्द प्रतीत होता है। दूसरे लोगो को इन बच्चो का पालन-पोषण भार स्वरूप जान पड़ता है; क्योंकि इस कार्य मे अत्यन्त कष्ट और असुविधा होती है। माता-पिता को छोड कर कोई भी दूसरे मनुष्य इन बच्चों के प्रति स्वाभाविक प्रेम का प्रदर्शन नही कर सकते। इसलिए माता-पिता ही अपने बच्चों के लालन-पालन के भार को आनन्दपूर्वक वहन कर सकते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से हम यह परिणाम निकालते है कि परिवार बच्चो की रक्षा और उन्नति के लिए एक स्वाभाविक प्रबन्ध है। दूसरे शब्दो मे परिवार केवल एक नया जीवन ही उत्पन्न नही करता बल्कि उसकी बहुत अधिक प्रयत्नों से रक्षा भी करता है।

(२) आर्थिक——प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी कार्य के अतिरिक्त, परिवार ऐसे भी कार्य करता है जो कि स्वभाव से आर्थिक या अर्ध आर्थिक कहलाते हैं। अर्थ सम्बन्धी कार्य हम ऐसे कार्यो को कहते है जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति या उसके वितरण से होता है। परिवार मे रहकर मनुष्यों को इस प्रकार के अनेक कार्य करने पडते है। परिवार का प्रमुख पुरुष परिवार के सदस्यों के लालन-पालन के लिए कोई न कोई व्यवसाय अवश्य करता है। इस व्यवसाय मे परिवार के दूसरे सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार सहयोग देते है। परिवार के प्रमुख की मृत्यु के पश्चात् यही व्यवसाय परिवार के दूसरे सदस्य करते रहते हैं और इस प्रकार एक ही व्यवसाय एक पीढ़ी के पश्चात् दूसरी पीढी तक

परिवार में चलता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार की अपनी एक सम्पत्ति या जायदाद होती है। इस सम्पत्ति का प्रबन्ध भी परिवार के सदस्य ही करते हैं। आमदनी और खर्च का बजट भी प्रत्येक कुशल गृहस्थ को रखना पड़ता है। एक अच्छे गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह अपने परिवार का खर्च इस प्रकार चलावे कि वह आमदनी से अधिक न बढ़ने पाये, बल्कि उसमें से कुछ न कुछ बचत हो सके। गृहस्थी के इन सब कार्यों को हम आर्थिक कार्य कह सकते हैं।

(३) **सांस्कृतिक**——परिवार का एक और आवश्यक कार्य यह है कि वह अपने सदस्यों का सांस्कृतिक विकास करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास पारस्परिक सम्बन्ध से होता है। माता-पिता सहानुभूति और प्रेम की प्रतिमाएँ होते हैं। यही गुण संस्कृति के निर्माण के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बच्चे माता-पिता के अनुकरण से भाषा, व्यवहार और सदाचार सीखते हैं। बच्चों की शिक्षा भी सर्वप्रथम परिवार में ही प्रारंभ होती है। परिवार बच्चों की शिक्षा के लिए वह वातावरण प्रदान करता है जो उसके स्वभाव के लिए स्कूल के वातावरण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और शान्तिप्रद होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार सास्कृतिक जीवन की भी जड़ है।

(४) **नागरिक**——परिवार सामाजिक जीवन का स्थायी स्कूल है। अंग्रेजी में एक कहावत है——"Family is the eternal school of social life." इस कहावत का यही अर्थ है कि परिवार मनुष्य के नागरिक जीवन का अमिट स्रोत है। यदि हम परिवार की स्वाभाविक भावनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस कहावत में अक्षरशः कितना सत्य भरा पड़ा है।

सामाजिक जीवन कुछ विशेष गुणों पर अवलंबित होता है। सभी मानव प्राणियों में यह गुण विद्यमान रहते हैं। जब बच्चा माँ के गर्भ से जन्म लेता है तो यह गुण प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। इनका विकास तभी होता है जब एक विशेष वातावरण में इनको जागृत किया जाय। यह काम परिवार करता है।

प्रेम——सर्वप्रथम कुटुम्ब नवजात शिशु के लिए प्रेम और स्नेह के शिक्षणालय का कार्य करता है। माता-पिता का अपने बच्चों के लिए अद्वितीय प्रेम होता है। संसार में विशुद्ध और निःस्वार्थ प्रेम की इससे बढ़कर उपमा नहीं दी जा सकती। बच्चों के लालन-पालन और पोषण के लिए माता-पिता अपना सर्वस्व ही बच्चों पर न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं। बच्चों का सुख ही उनके लिए सबसे अधिक आनन्द की सामग्री होता है। इस प्रकार बच्चा जन्म से ही प्रेम के विशुद्ध वातावरण में साँस लेता है और उसी में पलकर बड़ा होता है। प्रेम हमारे सामाजिक सम्बन्धों का आधार-स्तम्भ है और इसकी सर्वप्रथम शिक्षा बच्चों को परिवार में मिलती है।

सेवा——प्रेम के अतिरिक्त परिवार बच्चे में निःस्वार्थ सेवा का अंकुर प्रस्फुटित करता है। परिवार के सदस्य एक दूसरे की सहायता किसी आर्थिक लाभ के लिए नहीं, वरन्

प्रेमवश करते हैं। बच्चों का लालन-पालन भी इसी निःस्वार्थ भाव से होता है और इसी कारण बड़े होकर बच्चे अपने माता-पिता के उदाहरण से निःस्वार्थ सेवा का पाठ पढ़ते हैं। सेवा का यह भाव भी सच्ची नागरिकता का आधार है।

सहयोग—प्रेम और सेवाभाव के अतिरिक्त परिवार अपने सदस्यों में सहयोग का भाव उत्पन्न करता है। माता-पिता परिवार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग देते हैं। बच्चे एक दूसरे के सहयोग से ही खेल और क्रीड़ा में भाग लेते हैं। इस प्रकार बड़े होने पर बच्चों में एक दूसरे के साथ सहयोग से काम करने का भाव जागृत होता है। सहयोग भी नागरिक जीवन का आधार है और इस गुण का जन्म भी मनुष्य में सर्वप्रथम परिवार में ही होता है।

सहिष्णुता—गृहस्थ-जीवन मनुष्य को सहिष्णुता का पाठ भी पढ़ाता है। वह विरोध और मत-विभिन्नता दूर कर मनुष्यों में पारस्परिक स्नेह और आदर का भाव उत्पन्न करता है। गृहस्थी में रहकर मनुष्य एक दूसरे से लड़-भिड़कर जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। ऐसा करने से मनुष्य का पारिवारिक जीवन नारकीय हो जाता है और अन्त में वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। सहनशीलता, एक दूसरे के विचारों के प्रति आदर, और अपने मत और जिह्वा पर नियंत्रण, गृहस्थ-जीवन की सफलता के लिए सबसे बड़ी शर्तें हैं।

शिक्षा—परिवार शिक्षा के एक बड़े केन्द्र का काम भी देता है। स्वाभाविक रूप से बच्चे का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल और ग्रहणशील होता है। इस कारण बच्चा पारिवारिक जीवन के आचार-विचार और उसके रहन-सहन के ढंग की बहुत-सी बातें स्वयं ही सीख लेता है। महान् पुरुषों की जीवनी देखने से पता चलता है कि उनके भावी जीवन पर किस प्रकार उनके बाल्यकाल के जीवन और माता-पिता की शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। इसी कारण कहा जाता है कि एक अच्छे और सदाचारी गृहस्थ के बच्चे ही आगे चलकर समाज के उपयोगी और सभ्य नागरिक बन सकते हैं।

आज्ञापालन और अनुशासन—बच्चे आदर और प्रेम के कारण अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। वे परिवार के अनुशासन में पलकर बड़े होते हैं। परिवार का मुखिया इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि बच्चा उन्हीं बातों को सीखे जो उसके भावी जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हों। आज्ञापालन और अनुशासन के ये भाव बच्चे को अपने भावी सामाजिक जीवन की उन्नति में बहुत सहायता पहुँचाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार नागरिक गुणों की शिक्षा देने के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और सबसे श्रेष्ठ स्कूल है। यह एक आदर्श नागरिक जीवन का मूल है। इस सत्य को मेजिनी ने एक बहुत अच्छे ढंग से अंग्रेज़ी के इस वाक्य में व्यक्त किया है—The child learns the best lesson of citizenship between the kiss of the mother and the caress of the father. इस वाक्य का हिन्दी

में यही अर्थ है कि बच्चा नागरिकता का सबसे अच्छा सबक अपनी माता के चुम्बन और पिता के दुलार से सीखता है।

(५) मनोरञ्जन सम्बन्धी—परिवार मनोरंजन का भी केन्द्र है। दिन भर परिश्रम करने के पश्चात् पिता अपने बच्चो के साथ खेलकर अपनी थकावट को भूल जाता है और फिर से एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव करता है। वह परिवार के अन्दर रहकर स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है और संसार की सब चिन्ताएं भूल जाता है। एक अच्छा परिवार शान्ति और सुख, आमोद, क्रीड़ा और मनोरंजन का निवास-स्थान होता है।

(६) धार्मिक—अन्त मे परिवार अपने सदस्यों की धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति भी करता है। बच्चे अपने माता-पिता के धर्म को सीखते हैं, बाल्यावस्था से ही धार्मिक उत्सवों, त्योहारों और मेलो में भाग लेते हैं और इस प्रकार उनमे धार्मिकता के भाव जागृत हो जाते हैं। जिस गृहस्थी मे बच्चे नही होते, उस परिवार में माता-पिता कुछ नास्तिक से बन जाते है। उनमे दया, प्रेम और त्याग के वे भाव जागृत नही होते जो एक अच्छे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। बच्चोवाले माता-पिता अपने बालको में ईश्वर की प्रतिमा देखते है, और इस प्रकार वह भगवान के भक्त, अत्यन्त दयालु और नम्र व्यक्ति बन जाते हैं।

उपर्युक्त गुणो से परिवार एक अच्छे सामाजिक जीवन का आधार-स्तभ बन जाता है। इस पर बच्चे का भाग्य अवलम्बित रहता है। परिवार एक ऐसा मन्दिर बन जाता है जिसमे सभी अच्छी और महान् बाते निवास करती है। सारांश में हम कह सकते है कि परिवार एक विश्वविद्यालय, गिरजाघर, क्लब, राज्य और समाज का सूक्ष्म रूप है।

पारिवारिक भक्ति का प्रश्न—स्वाभाविक रूप से परिवार अपने सदस्यो की अनन्य भक्ति को प्राप्त करता है। यह भक्ति किसी भी दूसरे सङ्गठन को दी जानेवाली भक्ति से कही अधिक होती है परन्तु इससे एक खतरा भी पैदा होता है और वह यह कि कही मनुष्य अपने परिवार के लालन-पालन और पोषण मे ही इतना न लग जाय कि वह सामाजिक जीवन की दूसरी सस्थाओ और संघो के प्रति अपने कर्तव्य को बिल्कुल ही भूल जाय। दूसरे शब्दों में कही मनुष्य परिवार की भलाई के लिए ही कार्य करने मे जीवन की इतिश्री समझकर देश तथा संसार के हित का विचार न छोड़ दे। मानव-इतिहास मे ऐसा कई बार हुआ है। हमारे देश मे विशेषकर यह भय और भी अधिक है क्योंकि हमारा सामाजिक सगठन परिवार की भक्ति पर अवलंबित है। एक अच्छे सामाजिक जीवन को व्यतीत करने के लिए मनुष्य को यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि परिवार के प्रति उसे किस सीमा तक भक्ति प्रकट करने की आवश्यकता है। इस सीमा के भाव को दृष्टि मे रखने से ही मनुष्य अपने नागरिक जीवन के कार्यो को योग्यतापूर्वक पूरा कर सकता है।

पारिवारिक जीवन की सफलता की दशाएँ

परिवार के सदस्य एक आदर्शमय, सभ्य और आनन्ददायक जीवन व्यतीत कर सकें, इसके लिए प्रत्येक परिवार में कुछ आन्तरिक और बाह्य (Internal and External) अवस्थाओं का होना आवश्यक है। एक गृहस्थ उसी समय सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत कर सकता है जब वह एक विशेष प्रकार के वातावरण में पुष्पित-पल्लवित हो। पढ़े-लिखे घरानों में बच्चे प्रायः सुशील और चतुर होते हैं। इसके विपरीत एक अशिक्षित और असभ्य घर में बच्चे बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस परिवार के रहने के लिए कोई धन-सम्पत्ति न हो वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे गृहस्थ के बच्चों को न किसी प्रकार की उच्च शिक्षा ही दी जा सकती है और न उन्हें एक विशेष प्रकार के सुसस्कृत और सभ्य वातावरण में ही पाला जा सकता है। गरीब घरानों के बच्चों में इसी कारण झूठ बोलने, चोरी करने, आवारा फिरने और इसी प्रकार की दूसरी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। परन्तु यह सब कुछ कहने से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि सपन्न घरों के बच्चे सदा सच्चरित्र ही होते हैं और निर्धन घरों के दुराचारी। हमारा आशय केवल यही है कि एक समृद्ध घर का वातावरण निर्धन घर के वातावरण की अपेक्षा बच्चे के सास्कृतिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त होता है। बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल और सुकुमार होता है। परिवार में बाह्य और आन्तरिक वातावरण का उनके मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज में आदर्श और सभ्य नागरिक उत्पन्न करने के लिए गृहस्थ-जीवन की सफलता की बाह्य और आन्तरिक दशाओं की अनुकूलता प्राप्त की जाय।

बाह्य अवस्थाएँ—गृहस्थ-जीवन की सफलता के लिए बाह्य अवस्थाओं में हम निम्नलिखित दो दशाओं का उल्लेख कर सकते हैं :—

(१) आर्थिक न्यूनतम—(Economic Minimum)—प्रत्येक गृहस्थी में अपने सदस्यों के पालन-पोषण के लिए इतनी आमदनी अवश्य होनी चाहिए जिससे परिवार के सारे सदस्य आराम से अपना जीवन व्यतीत कर सकें तथा परिवार के मुखिया की बीमारी, दुर्घटना या बुढ़ापे की अवस्था में गृहस्थी का कार्य चल सके। इसका यह आशय कदापि नहीं कि यदि परिवार के बड़े सदस्य काम करना न चाहें तो भी उन्हें सरकार द्वारा वेतन दिये जाने का प्रबन्ध हो। इसका अर्थ केवल यही है कि सरकार प्रत्येक स्वस्थ और वयस्क व्यक्ति को काम दे तथा उसको इतना वेतन दे कि जिससे वह अपने और अपने बच्चों का अच्छी तरह पालन-पोषण कर सके।

(२) अच्छा मकान—(Suitable House)—निर्वाह के लिए उपयुक्त आमदनी के अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के पास रहने के लिए स्वस्थ वातावरण में अच्छा मकान भी होना चाहिए। एक अच्छे स्वास्थ्यप्रद मकान के बिना न परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य ही ठीक रह सकता है और न वे अपनी मानसिक या आध्यात्मिक उन्नति ही कर सकते हैं।

हमारे देश में बहुत से धनवान लोग भी छोटे और गन्दे मकानों में रहते है। गृहस्थ-जीवन इस प्रकार के वातावरण में न सुखी ही रह सकता है और न किसी प्रकार की नैतिक उन्नति ही कर सकता है। इसलिए सरकार का दूसरा कर्तव्य यह है कि वह देखे कि प्रत्येक गृहस्थी एक अच्छे स्वास्थ्यप्रद मकान में निवास करती है। इस दशा में बड़े-बड़े शहरों के इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट और म्युनिसिपैलिटियाँ विशेष कार्य कर सकती हैं।

आन्तरिक अवस्थाएँ—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए वाह्य अवस्थाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसी अवस्थाएँ भी है जो परिवार के आन्तरिक गुणो से सम्बन्ध रखती है। इन अवस्थाओं में हम निम्नलिखित गुणों का विशेष रूप से उल्लेख कर सकते है :—

(१) **शिक्षा**—एक अच्छा गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य का शिक्षित होना परमावश्यक है। शिक्षा के बिना न माता-पिता अपने बच्चों की मनोवृत्ति समझ सकते है और न उनको एक सुसंस्कृत वातावरण में पाल ही सकते है। शिक्षा के बिना पति और पत्नी का जीवन भी असह्य हो जाता है। शिक्षित माता-पिता केवल अपने बच्चो की ठीक प्रकार की शिक्षा ही नही दे सकते, बल्कि स्वयं भी वे अपने अवशिष्ट समय को पढ़ने-लिखने और दूसरे अच्छे कार्यो में व्यतीत कर सकते है।

(२) **पारस्परिक प्रेम**—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था पति-पत्नी के पारस्परिक स्नेह की है। यदि पति और पत्नी के स्वभाव एक दूसरे के प्रतिकूल हों, तथा उनके आदर्शो में भिन्नता हो या वे असमान इच्छाएँ रखते हों तो इससे गृहस्थ-जीवन भारस्वरूप हो जाता है। इसलिए विवाह से पहले यह आवश्यक है कि पति-पत्नी एक दूसरे के स्वभाव से भलीभाँति परिचित हो और वे केवल वाह्य सौन्दर्य से ही आकर्षित न होकर, एक दूसरे के आन्तरिक गुणों को पहचानने का प्रयत्न करें। माता-पिता का भी कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह-सम्बन्ध न करे। पति और पत्नी के मध्य विशुद्ध स्नेह पर ही एक सद्गृहस्थी की नीव पड़ सकती है।

(३) **सहिष्णुता**—यदि पति और पत्नी में किसी प्रकार का भेद-भाव भी हो तो भी उनका धर्म है कि वे पारस्परिक भेद-भाव का विचार न करके अपने समान आदर्शो पर ही जोर दें। गृहस्थी में न जाने कितनी बार पति और पत्नी का झगड़ा होता है और वे एक दूसरे को संशय की दृष्टि से देखते है। परन्तु एक कुशल गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह इन झगड़ों को शीघ्र ही भूल जाय और गृहस्थ-जीवन को छोटी-छोटी बातों के कारण कलहपूर्ण न होने दे। एक दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता गृहस्थ-जीवन की तीसरी बड़ी आधारशिला है।

(४) **सहयोग**—गृहस्थी के सारे ही सदस्यों का कर्तव्य है कि वे परिवार के सभी कामों मे एक दूसरे को सहयोग दें। यदि किसी परिवार में एक ही आदमी कमानेवाला हो और दूसरे सदस्य शक्ति होने पर भी काम न करें तो इससे गृहस्थ-जीवन कलहपूर्ण हो जाता है।

इसलिए परिवार के सारे ही सदस्यों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिये। पति और पत्नी को भी ठीक तरह से अपने कार्यों का विभाजन कर लेना चाहिए। यदि पति कमाने का भार सँभाले तो पत्नी का धर्म है कि गृहस्थी की दूसरी जिम्मेदारियाँ अपने कंधों पर धारण करे। पत्नी गृहस्वामिनी होती है। बच्चों का लालन-पालन उसका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर नहीं निकलना चाहिये। वे राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में भी भाग ले सकती हैं किन्तु गृह-कार्य छोड़कर नहीं। यदि गृहकार्य करने के पश्चात् स्त्रियों को अवकाश मिले तो उन्हें सार्वजनिक कार्यों में भी अवश्य भाग लेना चाहिए।

(५) **छोटा परिवार**—सुखी गृहस्थी की एक दूसरी आवश्यक अवस्था यह है कि परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक न हो। घर में अधिक बच्चों का होना भी हानिकारक है। इससे न उनको अच्छी शिक्षा ही मिल सकती है और न वह एक अच्छे ढंग से ही अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। बच्चों के अतिरिक्त एक ही परिवार में इतने अधिक सम्बन्धी नहीं होने चाहिए कि जिससे उनमें परस्पर सदा झगड़ा ही होता रहे। घर में चाचा-चाची, ताऊ-ताई, चचेरे भाई आदि अनेक सम्बन्धियों के रहने से गृहस्थ-जीवन सुखी नहीं रहता। इसलिए एक गृहस्थी में केवल माता-पिता, पति-पत्नी और बच्चे ही होने चाहिए जिससे उनका स्नेह-बंधन शिथिल न हो सके।

पारिवारिक सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम परिवार के सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन करना भी उचित समझते हैं। प्रत्येक परिवार में बच्चों के कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। पहले हम उनके अधिकारों का वर्णन करेंगे :—

(१) बच्चे का सबसे पहला और आवश्यक अधिकार यह है कि उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से हो। यदि बच्चे को ठीक प्रकार का भोजन और वस्त्र न मिले तो वह जीवन में किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता और न वह एक अच्छा नागरिक ही बन सकता है।

(२) बच्चे का दूसरा अधिकार यह है कि उसे उचित प्रकार की शिक्षा दी जाय। शिक्षा मनुष्य और समाज के अच्छे जीवन पर गहरा असर डालती है। एक अशिक्षित बालक न अपने व्यक्तित्व का ही विकास कर सकता है और न किसी प्रकार की समाज-सेवा।

(३) बच्चे का तीसरा अधिकार यह है कि वह अपने माता-पिता से न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त करे; माता-पिता को अपने बच्चों के साथ अन्यायपूर्ण या नृशंस व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए। उनका धर्म है कि वह अपने बच्चों के आन्तरिक गुणों के विकास में सहायक सिद्ध हों और उन्हें अपने ही रूढ़िवादी विचारों में ढालने का प्रयत्न न करें।

(४) माता-पिता को लड़के और लड़कियों में अनुचित भेद-भाव नहीं रखना चाहिए। उन दोनों का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। दोनों सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

बच्चों के कर्तव्य––माता-पिता की सेवाओं के बदले बच्चों के भी उनके प्रति कुछ कर्तव्य हैं। माता-पिता अपने बच्चों के लिए सब कुछ न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं। बच्चों का धर्म है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करें, उनके प्रति आदरभाव बनाये रक्खें, उनकी हर प्रकार से सहायता करें, बुढ़ापे में उनकी सेवा करें, गृहस्थ के अनुशासन में रहें और परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ प्रेम का व्यवहार करें।

परीक्षा-प्रश्न

१. परिवार सामाजिक जीवन का स्थायी स्कूल है। इस कथन की व्याख्या और विवेचना कीजिये कि पारिवारिक जीवन में सामाजिक गुणों का सर्वप्रथम विकास कैसे हो सकता है? (यू० पी०, १९३१)

२. 'शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं में परिवार सबसे बड़ी संस्था है' इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

३. 'परिवार सब संघों से अधिक महत्त्वपूर्ण है', इस उक्ति की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९४०)

४. 'परिवार सब सामाजिक गुणों का शिक्षणालय है', इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (यू० पी०, १९४२, १९५१)

५. परिवार क्या है? इसके अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है?

६. पारिवारिक-जीवन की सफलता के लिए कौन-सी आवश्यक अवस्थाएँ हैं?

७. पारिवारिक-जीवन की व्यवस्था का आधार क्या है? संक्षेप में इसके विकास और सङ्गठन पर विचार प्रकट कीजिए।

८. पारिवारिक सदस्यों के अधिक आवश्यक अधिकार और कर्तव्य कौन-कौन से हैं?

९. संयुक्त परिवार प्रणाली पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

अध्याय ५

नागरिक और नागरिकता

नागरिकशास्त्र का मुख्य ध्येय आदर्श नागरिकता का अध्ययन है। इसलिए राज्य, उसके अंग-प्रत्यंग, विधान और कर्तव्यों का विवरण देने से पहले आवश्यक है कि हम नागरिक और नागरिकता के अर्थ को समझ लें और इसी विषय की दूसरी धारणाओं, जैसे अधिकार और कर्तव्य, स्वतंत्रता और समता इत्यादि विषयों का भी भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लें। प्रस्तुत तथा अगले कुछ अध्यायों में इसीलिए नागरिकता के इन तत्वों का विवेचन किया जायगा। इस अध्याय में हम नागरिक और नागरिकता का विश्लेषण करेंगे।

नागरिक शब्द का अर्थ—नागरिक शब्द का अर्थ साधारण बोल-चाल की भाषा में एक ऐसे मनुष्य से लिया जाता है जो किसी नगर में रहता हो और अपने रहन-सहन तथा बोलचाल की विशेषता से एक ग्रामीण मनुष्य से विभिन्न हो। वास्तव में नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिक शब्द का यह अर्थ सर्वथा भ्रममूलक है। इस शास्त्र की दृष्टि से नागरिक हम ऐसे प्रत्येक मनुष्य को कहते हैं, जो चाहे गाँव में रहता हो अथवा नगर में, जंगल में रहता हो अथवा बस्ती में, निर्धन हो अथवा अमीर, स्त्री हो अथवा पुरुष, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो अपने राज्य की सेवा-सुश्रूषा के लिए सदा उद्यत रहता हो।

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के सदस्य रहा करते हैं—एक नागरिक और दूसरे अनागरिक। नागरिक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे मनुष्य कहलाते हैं जिन्हें राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में ऐसे मनुष्य जो राज्य के प्रत्येक कार्य में भाग ले सकें, जिन्हें चुनाव में अपनी राय देने का अधिकार प्राप्त हो और जो सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकें। अनागरिक ऐसे लोगों को कहा जाता है जिन्हें इस प्रकार के अधिकार प्राप्त न हों। विदेशों से हमारे देश में भ्रमण करने के लिए आये हुए व्यक्ति इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। वे हमारे देश के चुनावों में भाग नहीं ले सकते और न सरकारी नौकरी ही प्राप्त कर सकते हैं। देश में रहनेवाले कुछ व्यक्ति भी कभी-कभी विशेष कारणों से अनागरिक बन जाते हैं। लम्बी सजाएँ काटनेवाले अपराधी, भिक्षुक, पागल, कोढ़ी आदि बहुत से लोग राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं। ऐसे लोगों को हम स्वदेशी अनागरिक कह सकते हैं। इक्कीस वर्ष से कम अवस्थावाले व्यक्ति भी जिन्हें अधिकतर राज्यों में राय देने का अधिकार प्राप्त नहीं होता अल्प वयस्क नागरिक कहे जाते हैं। यह लोग अनागरिक नहीं होते क्योंकि एक विशेष अवस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्हें हर प्रकार के राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। कुछ देशों

में स्त्रियों को मताधिकार नही दिया जाता न वे सरकारी पद ही प्राप्त कर सकती हैं। इन देशों में स्त्रियों को हम मताधिकारहीन नागरिक कह सकते है।

नागरिकता का सम्बन्ध इसलिए राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से है। वर्तमान समाज में सामाजिक अधिकार तो प्रत्येक मनुष्य को ही, चाहे वह स्वदेशी हो अथवा विदेशी, स्त्री हो अथवा पुरुष, भिखारी हो अथवा धनी, पागल हो अथवा बुद्धिमान, दिये जाते है। ऐसे लोग आराम से किसी भी देश में रह सकते है, वे स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते है, जहाँ चाहें घूम सकते है, अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं, सरकार उनकी जान और माल की रक्षा करती है तथा उन्हें दूसरी हर प्रकार की सुविधाएँ देती है। परन्तु कुछ लोगों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होने, इसलिए वे अनागरिक कहलाते है।

नागरिक होने के लिए निम्नलिखित शर्तो की पूर्ति आवश्यक है :—

(१) राज्य की सदस्यता,

(२) राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति।

(३) **राज्य के प्रति भक्ति**—अर्थात् राज्य की सेवा, रक्षा और उसकी उन्नति करने के लिए तत्परता।

कोई भी मनुष्य जो इन तीनों शर्तो की पूर्ति नही करता, राज्य का नागरिक नही कहलाया जा सकता। ऊपर दी हुई तीसरी शर्त अर्थात् राज्यभक्ति नागरिकता की प्राप्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी राजनीतिक अधिकारो को प्राप्त करने की शर्त। प्रत्येक नागरिक को राज्य द्वारा अधिकारों की प्राप्ति के उपलक्ष में अपने देश और राज्य के प्रति भक्तिभाव की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। जो मनुष्य अपने देश की सेवा के लिए तत्पर नहीं वह उस देश का नागरिक नही कहा जा सकता। नागरिकों के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य हित की वृद्धि में तन, मन और धन से सहयोग दें, तथा अपने निजी स्वार्थों का त्याग कर समस्त समाज का हित चिंतन करें।

नागरिकता का विकास—नागरिक शब्द के साथ राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति का सम्बन्ध ग्रीस और रोम की सभ्यता से हुआ। प्राचीन काल में ग्रीस देश में नागरिक केवल ऐसे ही मनुष्यों को कहा जाता था जिन्हें उस देश की सरकार द्वारा राजनीतिक और सामाजिक अधिकार दिये जाते थे। ऐसे मनुष्यों की संख्या ग्रीस राज्य में बहुत कम होती थी। राज्य में दूसरे रहनेवाले लोग अनागरिक या दास कहलाते थे। इन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त न होते थे। आजकल के देशों के अनागरिकों से ग्रीस के इन अनागरिकों के अधिकार सर्वथा भिन्न थे। वर्तमान काल मे अनागरिकों को सब प्रकार के सामाजिक अर्थात् नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं, केवल उन्हे राजनीतिक अधिकार नही दिये जाते। परन्तु ग्रीस में अनागरिकों को सामाजिक अधिकार भी प्राप्त नही होते थे। वे नागरिकों की निजी सम्पत्ति माने जाते थे, उनको गुलाम या दास पुकारा जाता था। उनका क्रय-विक्रय उसी रूप में होता था जैसे इस युग में जायदाद या चल-संपत्ति का होता है।

रोम साम्राज्य में भी नागरिकों का निर्णय सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से किया जाता था। अन्तर केवल इतना था कि ग्रीस में केवल नगर में रहनेवाले कुछ लोगों को ही नागरिकता का पद प्राप्त हो सकता था। रोम में इसके विपरीत रोम-साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले किसी भी पुरुष को यह पद प्रदान किया जा सकता था। रोम में रहना रोम-साम्राज्य के नागरिक के लिए आवश्यक नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमनों के काल में नागरिक शब्द की परिभाषा ग्रीसकाल की परिभाषा से अधिक व्यापक बन गई थी।

आधुनिक युग में भी नागरिक शब्द के साथ राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे वह ग्रीस और रोम के राज्यकाल में थी। अन्तर केवल इतना है कि वर्तमान काल में नागरिकता का पद रोम और ग्रीस राज्य के नागरिकों की अपेक्षा बहुत अधिक मनुष्यों को प्राप्त होता है और इस प्रकार का स्थान देने में स्त्री और पुरुष, गरीब और अमीर, ग्रामीण और शहरी, बुद्धिमान और मूर्ख का ध्यान नहीं किया जाता। ऐसा प्रत्येक मनुष्य जो किसी राज्य का सदस्य हो, उसके प्रति वफादार हो तथा जो किसी विशेष प्रकार के रोग से ग्रस्त, पागल अथवा पुराना अपराधी न हो, नागरिकता का स्थान प्राप्त कर सकता है।

विदेशी—(Alien)—प्रश्न उठता है कि देशी और विदेशी लोगों में अधिकारों की प्राप्ति की दृष्टि से क्या अन्तर है, तथा विदेशी हम किस प्रकार के लोगों को कह सकते हैं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे देश में तभी विदेशी कहा जाता है जब वह किसी कार्यवश, व्यापार करने, पढ़ने या भ्रमण करने, कुछ काल के लिए दूसरे देश में बस जाय। ऐसा व्यक्ति जब तक बाहर के देश में रहता है, वह विदेशी कहलाता है। विदेशियों के तीन प्रकार होते हैं :—

(१) निवासी विदेशी—अर्थात् ऐसे विदेशी जो अपना देश छोड़ कर स्थाई रूप से दूसरे देश में बस गये हों। अधिकतर राज्यों में ऐसे लोगों को कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् तथा कुछ शर्तों के पूरा कर चुकने पर, उस देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। परन्तु बहुत से देश ऐसे भी हैं जैसे अफ्रीका, लंका इत्यादि जहाँ बाहर से आए हुऐ लोग सैकड़ों वर्षों से रह रहे हैं परन्तु अभी तक उन्हें उस देश की नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किये गये हैं।

(२) अस्थाई विदेशी—यह वह लोग कहलाते हैं जो किसी विशेष कार्य से अपना देश छोड़कर थोड़े समय के लिए दूसरे देश में चले जाते हैं तथा कार्य पूरा हो जाने पर स्वदेश वापिस लौट आते हैं। किसी देश में अधिकतर विदेशियों की संख्या इन्हीं लोगों की होती है।

(३) राजदूत—इस श्रेणी में दूसरे देशों के राजदूत तथा उनके कर्मचारी शामिल किए जाते हैं। वैसे तो इन लोगों तथा दूसरी श्रेणी के विदेशियों में कोई अन्तर नहीं होता, कारण यह लोग केवल अपने पद की अवधि के काल में ही विदेशों में रहते हैं, परन्तु

अधिकारों की दृष्टि से इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। इन लोगों पर अपने ही देश के कानून लागू होते है, उन्हे पत्र-व्यवहार तथा भ्रमण आदि की विशेष सुविधाएं दी जाती है, लड़ाई इत्यादि छिड़ने पर इन्हें सम्मान पूर्वक उनके देश वापिस भेज दिया जाता है, तथा इनके लाए हुए सामान पर कोई चुगी इत्यादि नही ली जाती।

विदेशी मित्र और शत्रु—विदेशियो का एक और प्रकार से वर्गीकरण दो श्रेणियो मे किया जाता है—एक विदेशी मित्र और दूसरे विदेशी शत्रु। विदेशी मित्र हम ऐसे देश के नागरिको को कहते है। जिनका देश हमारे देश के साथ मैत्रीपूर्ण सबध रखता हो। विदेशी शत्रु ऐसे व्यक्ति कहलाते है जिनका देश हमारे देश के साथ युद्ध कर रहा हो। पिछले महायुद्ध के काल में जिस समय साथी देशो तथा जर्मनी और जापान का युद्ध चल रहा था तो ऐसे देश से दूसरे देश के निवासियों को शत्रु विदेशी मानते थे।

विदेशियों के अधिकार—विदेशियों को हर प्रकार के नागरिक या सामाजिक अधिकार प्रदान किये जाते है। उनकी मर्यादा और प्रतिष्ठा का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। उनके साथ अतिथियो जैसा व्यवहार किया जाता है। उनके जान-माल की रक्षा की जाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर वह अदालतो की शरण ले सकते है। परन्तु उन्हे किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्रदान नही किए जाते। वह सरकारी नौकरी प्राप्त नही कर सकते, या उस देश के चुनाव मे भाग नही ले सकते। उनके देश के साथ युद्ध छिड जाने की स्थिति में उन्हें कैद कर लिया जाता है या उन पर कड़ी नजर रक्खी जाती है जिससे वह कोई राजद्रोहात्मक कार्यवाही न कर सकें। उन्हे फौज मे भरती होने के लिए भी बाध्य नही किया जा सकता, क्योंकि उनकी राजभक्ति किसी दूसरे देश के प्रति होती है। किसी-किसी देश मे विदेशियो के अचल सम्पत्ति इत्यादि खरीदने पर भी रोक लगाई जाती है। आवश्यकता होने पर उनको देश से बाहर जाने के लिए बाध्य किया जा सकता है तथा उनका पासपोर्ट जब्त किया जा सकता है।

विशेष अधिकारो के बदले मे विदेशियों को अतिथि देश के कानूनो का पालन करना पड़ता है तथा उस देश के टैक्स इत्यादि देने पड़ते है।

नागरिक बनाम निर्वाचक—राज्य के सब नागरिकों के लिए यह आवश्यक नही कि वह देश के प्रत्येक चुनाव में भाग लेने के अधिकारी हों। कुछ देशों में स्त्रियों, सरकारी कर्मचारियों तथा सैनिको आदि को चुनाव में खड़े होने तथा भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक देश में २१ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों को राय देने का अधिकार प्राप्त नही होता। परन्तु फिर भी ऐसे व्यक्ति नागरिक ही कहलाते हैं। यद्यपि उन्हें दूसरे नागरिकों की श्रेणी से भिन्न रखने के लिए **मताधिकार नागरिक** कहा जा सकता है। अमरीका में नागरिक होते हुए भी कुछ लोगो को प्रेसीडेन्ट के पद के लिए खड़े होने या उसके चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नही होता। इसी प्रकार स्विट्जरलैण्ड में स्त्रियों को चुनाव में राय देने का अधिकार प्राप्त नही। अधिकतर नागरिक निर्वाचक भी होते हैं; परन्तु इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ नहीं समझना चाहिए।

नागरिक बनाम प्रजा——प्राचीन तानाशाही साम्राज्यों के युग में जब किसी देश में रहनेवाले नागरिकों को किसी प्रकार के राजनीतिक अथवा सामाजिक अधिकार प्राप्त न होते थे और राजा ही देश के सारे काम-काज की देख-भाल करता था, प्रजा की स्वतन्त्रता और उसके अधिकार राजा की स्वेच्छा पर ही निर्भर थे, तो एक देश में रहने वाले सभी व्यक्तियों को नागरिक नहीं, वरन् प्रजा कहा जाता था। आजकल भी राजतन्त्रात्मक शासनों में जहाँ राज्य का सारा काम-काज वंशपरंपरा से एक राजा ही चलाता है, देश की जनता को प्रजा के ही नाम से पुकारा जाता है। परन्तु आधुनिक युग में प्रायः प्रत्येक देश में ही जनता धीरे-धीरे अपने ही हाथों में राज्यकार्य का सारा भार ले रही है। इसलिए प्रजातन्त्रात्मक शासनों में देश की जनता को प्रजा के नाम से नहीं वरन् नागरिकों के नाम से संबोधित किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक ऐसे देश की जनता, जहाँ उसे हर प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त हों, नागरिकों के नाम से पुकारी जाती है और इसके विपरीत एक ऐसे देश की जनता जहाँ उसे इस प्रकार के अधिकार प्राप्त न हों, और वह किसी वंशपरंपरागत राजा के अधीन हो, प्रजा के नाम से संबोधित की जाती है।

नागरिकता का निर्णय

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के नागरिक हुआ करते हैं——एक जन्मजात नागरिक (Natural-born Citizens) और दूसरे राज्यदत्त नागरिक (Naturalised Citizens)। पहले प्रकार के नागरिक ऐसे व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने जन्म से ही किसी राज्य के सदस्य होते हैं। इसके विपरीत राज्यदत्त नागरिक ऐसे मनुष्यों को कहा जाता है जो अपने जन्म के समय दूसरे राज्य के सदस्य रहे हों; परन्तु बाद में अपनी इच्छा से किसी दूसरे देश में जाकर रहने और बसने के कारण उन्हें उस देश की सरकार ने नागरिकता का पद प्रदान कर दिया हो।

जन्मजात नागरिक

जन्म से नागरिकों का निर्णय दो नियमों द्वारा किया जाता है :——

(१) रक्तवंशाधिकार नियम——(Jus Sanguinis or Blood Relationship or Parentage)——इस नियम के अनुसार किसी भी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके पिता की नागरिकता से किया जाता है। यदि पिता फ्रांस का नागरिक हो तो उसकी सन्तान भी चाहे वह फ्रांस में पैदा हो या किसी दूसरे देश में, फ्रांस की ही नागरिक कहलायेगी। यह नियम फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया तथा योरोप के कुछ अन्य देशों में प्रचलित है। इस नियम के अधीन नागरिकता का निर्णय आसानी से किया जा सकता है परन्तु कभी-कभी इस नियम के अधीन भी ऐसे नाजायज बच्चे, जिनके पिता का पता नहीं है, की नागरिकता का निर्णय करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(२) जन्म-स्थान नियम—(Jus Soli or Place of Birth)—रक्त के अतिरिक्त कुछ देशों मे नागरिकता के निर्णय के लिए एक दूसरा नियम भी है। इस नियम के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके जन्म-स्थान के आधार पर किया जाता है। अर्जेण्टाइना में यह नियम प्रचलित है। इस नियम के अनुसार यदि कोई माता-पिता कुछ दिनों के लिए अर्जेण्टाइना मे आकर बस जायँ और वहाँ उनके कोई सन्तान पैदा हो जाय तो वह इस नियम के अनुसार अर्जेण्टाइना की नागरिकता का पद प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार यदि कोई अर्जेण्टाइना के माता-पिता छुट्टियो मे किसी दूसरे देश मे जाकर बस जायँ और वहाँ उनकी संतान पैदा हो तो वह अर्जेण्टाइना की नागरिक नही, वरन् उसी दूसरे देश की नागरिक कहलायेगी।

इस नियम के अनुसार नागरिकता का निर्णय तो आसानी से हो जाता है; परन्तु इसे वैज्ञानिक नियम नही कहा जा सकता क्योंकि बच्चो के जन्म का स्थान बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर है। यदि माता-पिता किसी दूसरे देश मे केवल भ्रमण करने के लिए गये हुये हो और वहाँ उनके सन्तान पैदा हो जाय तो इस नियम के अनुसार वह सन्तान अपने माता-पिता की नागरिकता को खो बैठती है, जो अन्यायपूर्ण है।

(३) दोहरा नियम—(Double Principle)—उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ देशो मे नागरिकता के निर्णय के लिए एक दोहरा नियम काम मे लाया जाता है। इस नियम मे 'जन्म के स्थान' और 'रक्त-वंशाधिकार' दोनों नियमों का समन्वय कर दिया जाता है। इस दोहरे नियम के अनुसार देश के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान, वह चाहे संसार के किसी भी कोने मे हो, अपने पिता की ही नागरिकता प्राप्त करेगी और साथ ही विदेशी माता-पिता से उत्पन्न सन्तान अपने जन्म-स्थान के कारण जिस देश मे वह उत्पन्न हुई हो, उसकी नागरिकता ग्रहण कर सकेगी। इंगलैण्ड और अमरीका में यही दोहरा नियम काम में लाया जाता है। इस नियम के अनुसार इगलैण्ड और अमरीका के नागरिकों की सन्तान संसार के किसी भी कोने मे रहती हुई इन्ही देशों की नागरिक रह सकती है और साथ ही दूसरे देशों के नागरिकों की सन्तान केवल इगलैण्ड या अमरीका में पैदा होने से ही इन देशो की नागरिकता प्राप्त कर सकती है।

कभी-कभी इस दोहरे नियम के कारण नागरिकता के वास्तविक निर्णय मे अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि कोई फ्रांस के माता-पिता कुछ दिनों के लिए इङ्गलैड मे जाकर रहने लगें और वहाँ उनकी सन्तान पैदा हो जाय तो फ्रांस के रक्तसम्बन्धी नियम के अनुसार वह फ्रांस के नागरिक कहलाएँगे और इङ्गलैण्ड के दोहरे नियम के अनुसार वह इङ्गलैण्ड के नागरिक कहलाएंगे। ऐसी दशा में दोनों ही देश इन बच्चों पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते है और ऐसे बच्चो के लिए यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वे किस देश की नागरिकता छोड़ें और किसकी ग्रहण करें। यहाँ यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी मनुष्य दो राष्ट्रों की नागरिकता ग्रहण नही कर सकता। वह केवल एक ही देश की छत्र-छाया में रह सकता है,

दो देशों की नहीं। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति का उत्तरदायित्व एक ही राज्य पर पूर्णतया रह सके। कई बार दो देशों में लड़ाई छिड़ जाती है। यदि एक ही मनुष्य इन दोनों देशों का नागरिक हो तो उसके लिए प्रश्न उठता है कि वह किस राज्य की ओर से लड़े। कई बार इन उलझनों में पड़कर मनुष्य दोनों देशों की नागरिकता खो बैठता है।

दोहरी नागरिकता की कठिनाई को दूर करने के लिए दो नियम काम में लाये जाते हैं। एक यह कि यदि माता-पिता बच्चे के जन्म के पश्चात् उसे साथ लेकर अपने देश में ही वापस लौट जायँ और वहीं रहने लगें तो बच्चा अपने पिता की ही नागरिकता पुनः प्राप्त कर लेता है। दूसरा नियम यह है कि बच्चा वयस्क होने पर अपनी नागरिकता का स्वयं निर्णय कर सकता है। वह दोनों देशों में से किसी भी एक देश का नागरिक बनने का विचार प्रकट कर सकता है।

नागरिकता के निर्णय का आदर्श नियम

नागरिकता के निर्णय के विभिन्न नियमों में से कौन-सा अच्छा है, यह कहना कठिन है। 'रक्त' और 'स्थान' दोनों नियमों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। दोनों नियमों के मिलाने से नागरिकता का निर्णय कठिन हो जाता है। वास्तव में आदर्श नागरिकता तो स्वतंत्र राष्ट्रों की सीमाओं से परे एक विश्वव्यापी राज्य की नागरिकता है। प्राचीन काल में, नागरिकता का अधिकार, एक विशेष श्रेणी के, केवल नगर में रहनेवाले आदमियों को दिया जाता था। आजकल वही अधिकार एक राज्य के अन्दर रहने वाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को दिया जाता है। एक आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक विश्वव्यापी राज्य का नागरिक माना जायगा। मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता होगी कि वह जहाँ चाहे रहे जहाँ चाहे व्यवसाय करे। प्रत्येक देश में उसे एक ही प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। सारा संसार इसी एक आदर्श की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

राज्यदत्त नागरिक या नागरिकों का नागरिककरण (Acquisition of Citizenship or Naturalisation)

प्रत्येक राज्य में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दो प्रकार के नागरिक होते हैं—एक जन्म से और दूसरे स्वेच्छा से। एक देश के नागरिक दूसरे देश के नागरिक भी हो सकते हैं। इसके लिए प्रायः प्रत्येक देश के विधान में विशेष नियम बनाये जाते हैं। इन नियमों को नागरिककरण (Naturalisation) नियम कहा जाता है। ये नियम विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। अधिकांश देश, विदेशियों को नागरिकता देने से पहले; उनसे कुछ विशेष शर्तों की पूर्ति कराते हैं, जैसे (१) दूसरे देश की नागरिकता का त्याग, (२) वर्तमान देश में एक निश्चित अवधि (५ से १० वर्ष तक रहना), (३) उस देश

की नागरिकता प्राप्ति के लिए आवेदन-पत्र देना तथा उसके दूसरे कानूनों को पालन करने और उसके प्रति राज्यभक्ति प्रदर्शित करने का वचन देना, इत्यादि। इन शर्तों की प्राप्ति के बाद सरकार उस व्यक्ति को एक सनद दे देती है जिसमें कहा जाता है कि वह नागरिक बना लिया गया।

कुछ देशों में नागरिकता प्राप्त करने की शर्तें अत्यन्त कठिन होती हैं, जैसे उस देश की राष्ट्रभाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन-पद्धति में विश्वास, अपना ठीक प्रकार से गुजारा करने की क्षमता, जमीन या जायदाद खरीदना इत्यादि। कुछ दिनों पहले अमरीका में नागरिकता प्राप्त करने की एक और विशेष शर्त यह थी कि एशिया द्वीप के आदमी वहाँ नागरिकता प्राप्त नहीं कर सकते थे। हाल ही में इस कानून में अब संशोधन कर दिया गया है। अब वहाँ प्रति वर्ष व्यक्तियों की खास तादाद में कुछ विशेष शर्तों को पूरा करके, वहाँ के नागरिक बन सकती है। विदेशियों को नागरिकता देने या न देने का अन्तिम निर्णय प्रत्येक देश की सरकार ही कर सकती है और इसमें बाहर की सरकारें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं।

कुछ ऐसी भी अवस्थाएं हैं जब एक देश के निवासी दूसरे देश की नागरिकता बिना ऊपर लिखी हुई शर्तों के पूर्ण किये हुये भी, किसी अन्य कार्य द्वारा अपने आप प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ (१) यदि कोई स्त्री विदेशी से ब्याह कर ले तो उसे अपने पति के देश की नागरिकता अपने आप प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह नियम पुरुषों पर लागू नहीं होता अर्थात् यदि एक पुरुष दूसरे देश की स्त्री से ब्याह कर ले तो उसे स्त्री के देश की नागरिकता प्राप्त नहीं होती। (२) कुछ देशों में यह भी नियम है कि यदि किसी अन्य देश का नागरिक वहाँ का कोई राजपद (Government Office) ग्रहण कर ले तो वह स्वयमेव उस देश का नागरिक बन जाता है। (३) कुछ दक्षिणी अमरीकी देशों में ऐसा नियम भी है कि यदि कोई व्यक्ति उन देशों में जायदाद या भूमि खरीद ले तो वह वहाँ का नागरिक बन जाता है। (४) जब एक देश दूसरे देश के किसी भाग को जीतकर अपने में मिला लेता है तो विजित देशवालों को जीतनेवाले देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

राज्यदत्त नागरिकों का पद (Status of Naturalised Citizens)

राजदत्त और स्वाभाविक नागरिकों में अधिकतर देशों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता, दोनों को एक ही प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। परन्तु कुछ देशों में राज्य द्वारा बनाये गये नागरिकों को देश की सरकार के सर्वोच्च पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया जाता। अमरीका में राज्यदत्त नागरिक सभापति तथा उपसभापति के पद के लिए खड़ा नहीं हो सकता। १९२४ से पहले इङ्गलैण्ड में बहुत-सी नौकरियाँ वहाँ के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १९२४ के एक नये कानून से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

नागरिकता का लोप

जिस प्रकार एक देश के नागरिक कुछ शर्तों के पूरा करने पर दूसरे देश के नागरिक बन सकते हैं, ठीक इसी प्रकार एक देश के नागरिकों की नागरिकता का लोप भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, जैसे पहले कहा जा चुका है, (१) यदि कोई स्त्री किसी विदेशी से विवाह कर ले तो वह अपनी नागरिकता खो बैठती है, (२) दूसरे देश की सरकार के अधीन, अधिक समय तक नौकरी करने से भी नागरिकता का लोप हो जाता है, (३) कुछ देशों में एक निश्चित अवधि से अधिक समय तक देश से बाहर रहने से भी नागरिकता का अन्त हो जाता है, (४) नागरिकता से इस्तीफा भी दिया जा सकता है, एक नागरिक दूसरे देश में बसकर अपनी पहली सरकार को लिख सकता है कि वह अपने आपको वहाँ का नागरिक नहीं समझता, (५) फौज से भागे हुए सिपाही, देशद्रोही और कुछ अन्य प्रकार के पुराने अपराधियों से भी नागरिकता का अधिकार छीन लिया जाता है, (६) कई बार ऐसे नागरिकों की, जो किसी दूसरे देश की सरकार के अधीन नौकरी करने के कारण, वहाँ के नागरिक बना दिये जाते हैं, नौकरी से अलग किये जाने पर नागरिकता छीन ली जाती है।

ऊपर दिये गये नियम सभी राष्ट्रों में एक समान नहीं होते, भिन्न-भिन्न देशों में नागरिकता के लोप के लिए अलग-अलग नियम बनाये जाते हैं। नागरिकता का अधिकार किसी दूसरे अनागरिक को बेचा या दिया नहीं जा सकता। यह अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है।

भारतीय नागरिकता

हमारे देश के निवासी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले ब्रिटिश-साम्राज्य के नागरिक कहलाते थे; परन्तु ऐसा होने पर भी उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य में जहाँ चाहे रहने या स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने, या साम्राज्य में किसी भी देश के राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का हक नहीं था। भारतवासियों के आस्ट्रेलिया या अफ्रीका में बसने पर रोक लगाई जाती थी। अफ्रीका में उन्हें जमीन या जायदाद खरीदने, या राय देने, या अंग्रेजों के समान मकान बनाने एवं सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। कुछ दिनों पहले वे अमरीका के नागरिक भी नहीं बन सकते थे, परन्तु अब भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर इन दशाओं में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

भारत के नये संविधान में नागरिकता संबंधी कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं की गई है। उसमें केवल यह बतलाया गया है कि संविधान लागू होने के समय किस प्रकार के व्यक्ति भारत के नागरिक माने गये। जहाँ तक नागरिकता संबंधी विस्तृत कानून का संबंध है, वह भविष्य में संसद द्वारा पास किया जायगा। संविधान में यह भी नहीं बताया गया है कि भारतीय नागरिकता कैसे प्राप्त हो सकती है या किन अवस्थाओं में वह लुप्त हो

सकती है। संविधान लागू होने के समय तीन प्रकार के व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना गया :

(१) इनमें सर्वप्रथम वे व्यक्ति हैं जो भारत के जन्मजात नागरिक हैं तथा जो देश के किसी भी भाग में जन्म से रहते हैं।

(२) दूसरे, उन शरणार्थियों को भारत का नागरिक माना गया जो देश के विभाजन के पश्चात् भारत में जाकर बस गये।

(३) तीसरे, कुछ विशेष शर्तों के अधीन, उन व्यक्तियों को भी भारतीय नागरिकता का अधिकार प्रदान कर दिया गया जो भारतीय होते हुए, विदेशों में जाकर बस गये या वहीं पर व्यापार करने लगे।

उपरोक्त वर्णित इन तीन प्रकार से प्राप्त भारतीय नागरिकता के संबंध में जो संविधान मे प्रबध किया गया है उसका विस्तृत उल्लेख इस प्रकार है :—

(१) **जन्मजात नागरिक**—प्रथम श्रेणी के लोगों को भारतीय नागरिकता का अधिकार प्रदान करने के लिए संविधान मे कहा गया है कि संविधान के आरंभ होते समय हर वह व्यक्ति जो भारत में जन्मा हो या जिसके माता-पिता या दोनों में से कोई भारत में जन्मा हो, अथवा जो संविधान आरम्भ होने के ५ वर्ष पूर्व से भारत में रहता हो, परन्तु जिसने किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार न कर ली हो, भारत का नागरिक माना जायगा।

(२) **शरणार्थी नागरिक**—दूसरी श्रेणी अर्थात् पाकिस्तान छोड़कर भारत आनेवाले हिंदू और सिखों को नागरिकता का अधिकार प्रदान करने के लिए संविधान में कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वय या जिनके माता-पिता या बाबा-दादी या नाना-नानी या इनमें से कोई अविभाजित भारत में पैदा हुए हों और जो १ जुलाई, १९४८ से पूर्व पाकिस्तान से आकर भारत में बस गये हों, उन्हें भारत का नागरिक माना जायगा। जो लोग जुलाई, १९४८ के पश्चात् पाकिस्तान से भारत आये हैं उनके लिए विधान में कहा गया है कि वह केवल उस दशा में नागरिक समझे जायेंगे, जब वह भारत सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए अफसरों के सम्मुख आवेदन-पत्र देकर २६ जनवरी, १९५० से पहले, अपना नाम रजिस्टर करा लें; परन्तु ऐसे व्यक्तियो के नाम की रजिस्ट्री केवल उस दशा में हो सकेगी जब वह आवेदन-पत्र देने के पूर्व कम से कम ६ महीनों से भारत में रह रहे हों। जो व्यक्ति पहिली मार्च सन् १९४७ के पश्चात् भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गये हैं, उन्हें भारत का नागरिक नही माना जायगा; परंतु उन राष्ट्रवादी मुसलमानों की सुविधा के लिए जो स्वयं या जिनके परिवार के सदस्य साम्प्रदायिक दंगों के समय भय के कारण पाकिस्तान चले गये थे, परंतु बाद में पक्का परमिट पाकर भारत लौट आये हैं उनको नागरिकता का अधिकार दे दिया गया है।

(३) **विदेशों में बसनेवाले भारतीय**—अंत में तीसरी श्रेणी के लोगों को नागरिकता का अधिकार प्रदान करने के लिए संविधान में कहा गया है कि जो लोग आजकल

विदेशों में रहते हैं परंतु जिनका स्वय या जिनके माता-पिता या बाबा-दादी या नाना-नानी में से किसी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ था, वह लोग, यदि वह विदेशो मे स्थित भारत के राजदूत के दफ्तर में प्रार्थना-पत्र देकर अपने नाम की रजिस्ट्री करा लेंगे तो उन्हें भारतीय नागरिकता का अधिकार दे दिया जायगा। साथ ही सविधान में कहा गया है कि जो व्यक्ति विदेशी नागरिकता ग्रहण करेंगे, उन्हें भारत का नागरिक बनने का अधिकार नही होगा।

नागरिकता के सम्बन्ध में, जैसा पहिले बतलाया गया है, विधान की व्यवस्था अतिम नही है। भारतीय संसद् को इस बात का अधिकार दिया गया है कि वह इस विषय में एक विस्तृत कानून पास कर सके। ऐसा इसलिए किया गया है, जिससे समय की आवश्यकतानुसार भारत संसद् इस दशा में उचित कानून पास कर सके तथा ऐसा कानून संविधान का संशोधन न समझा जाय।

आदर्श नागरिकता—राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। राज्य द्वारा ही स्कूल और कालिज, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाएँ, चिकित्सालय और आमोद-प्रमोद के अनेक साधनों का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश में सुव्यवस्था बनाये रखने का प्रबन्धक है। मनुष्य को राजनीतिक और सामाजिक अधिकार भी राज्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं, संक्षेप मे राज्य ही मनुष्य के सभ्यतापूर्ण सामाजिक जीवन की जड़ है। इन अनेक सुविधाओं के बदले प्रत्येक मनुष्य के अपने राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य हैं। एक अच्छा नागरिक हम ऐसे मनुष्य को कभी नहीं कह सकते जो अपने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारो का तो उपभोग करता है परन्तु जो समाज और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता। अच्छे नागरिक की यही पहचान है कि वह अपने समाज और राष्ट्र की उन्नति और विकास के लिए जहाँ तक भी हो सके प्रयत्न करे। प्रत्येक मनुष्य में अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्याग करने की क्षमता होनी चाहिए। आलस्य, व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने की भावना और सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यो के प्रति उदासीनता एक अच्छे नागरिक जीवन के शत्रु हैं। इसीलिए प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की ने कहा है: "नागरिकता जनता के हित के लिए व्यक्ति का योगदान है।"[१]

एक अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य में अन्तर—परन्तु, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि एक अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुणों में भेद हो सकता है। एक अच्छा नागरिक वह मनुष्य है जो अपने देश और राज्य की अधिक से अधिक सेवा कर सके, इसके विपरीत एक अच्छा मनुष्य वह है जिसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त

१ Citizenship is the contribution of one's instructed judgment to public good—Laski.

स्वच्छ और निर्मल हो और जो अपने सदाचार, सत्य आचरण, निर्भीकता, धार्मिकता, आचार-व्यवहार और मृदु भाषण के कारण समाज मे मान पाता हो। एक अच्छे मनुष्य के लिए यह आवश्यक नही कि वह राष्ट्रीय कार्यो मे अवश्य भाग ले या किसी राजनीतिक दल का सदस्य हो या किसी चुनाव में खड़ा होना हो। एक अच्छे मनुष्य के गुणो का सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से है, एक अच्छे नागरिक के गुणो का सम्बन्ध उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे है। एक अच्छा मनुष्य अधिकतर एक अच्छा नागरिक भी होता है, परन्तु ऐसा होना सदा अनिवार्य नही। सदा सच बोलना, धर्म मे विश्वास और पवित्र जीवन व्यतीत करना एक अच्छे मनुष्य के लिए आवश्यक है, परन्तु एक अच्छे नागरिक के लिए नही। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत अनेक जातियों, धर्मो और सम्प्रदायो के लोग निवास करते है, इन लोगो के विचारो और कार्यो मे कितनी ही बार संघर्ष हो जाया करता है। एक कुशल नागरिक और राजनीतिज्ञ का कर्तव्य है कि वह अपने व्यवहार और कार्य-कुशलता से इन सघर्षो को रोके और ऐसा करने मे यदि उसे सत्य और न्याय का भी त्याग करना पडे तो देश की शाति और सुव्यवस्था के लिए ऐसा करने मे न हिचकिचाये। इसी प्रकार एक देश की सरकार का दूसरे देशो की सरकार से अनेक प्रकार का सम्बन्ध होना है। दूसरे देशो से सन्धि, व्यापारिक समझौता, फौजी वार्तालाप इत्यादि करने पड़ते है। प्रत्येक देश इन कार्यो की पूर्ति के लिए दूसरे देशों मे अपने राजदूत नियुक्त करता है। राजदूतो का कर्तव्य है कि वे अपने देश की उन्नति और उत्थान के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो कूटनीतिपूर्ण चालो से भी काम ले। एक अच्छे मनुष्य को ये सारी बाते घृणास्पद प्रतीत होती है परन्तु राष्ट्र और उसकी भलाई के लिए राजनीति मे इन बातो के अपनाने मे किसी प्रकार का दोष नही समझा जाता।

अच्छे नागरिक क आवश्यक गुण—इसलिए जो गुण मनुष्य को एक आदर्शमय जीवन व्यतीत करने के लिए अपनाने पड़ते है, अच्छे नागरिक के लिए अनिवार्य नही। आदर्श नागरिकता की प्राप्ति के लिए मनुष्य में निम्न गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) सामाजिक भावना—सजीव, जागृत एवं उत्कट सामाजिक भावना श्रेष्ठ नागरिकता की पहली जड़ है। मनुष्य की शिक्षा, दीक्षा एवं विकास सामाजिक सहयोग का प्रतिफलन है। एकाकी मनुष्य का जीवन न केवल नारकीय ही होता है वरन् वह किसी भी दशा में अपना सांस्कृतिक, आर्थिक या नैतिक विकास नही कर सकता। यदि समाज के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है तो उसका धर्म है कि इस सब प्राप्ति के बदले वह समाज के प्रति भी अपने कर्तव्यों की पूर्ति करे, यह कर्तव्य-पूर्ति अपने स्वार्थों एवं अपने पारिवारिक हितों से ऊपर उठकर सामाजिक कल्याण की बातें सोचने से ही हो सकती है। जिस समाज में हम रहते है उसमें अपार अज्ञान, गरीबी,

निर्धनता, बीमारी, संघर्ष, विषाद, अशांति, शोषण तथा हिंसा देखने को मिलती है। समाज के ज्ञानी तथा अधिक भाग्यशाली व्यक्तियों का धर्म है कि वह सामाजिक जीवन से इन सभी संताप, अन्याय, भूख, महामारी तथा पाप को नष्ट करने का प्रयत्न करें। जो मनुष्य अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक उत्थान के कार्यों में भाग नहीं लेता वह नराधम पशु समान है और उसे मानव कहलाने का कोई अधिकार नहीं। समाज में विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक, आर्थिक तथा परोपकारी संस्थाएं होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपनी रुचि के अनुसार ऐसी संस्थाओं का सदस्य बने तथा उनके द्वारा सामाजिक सेवा के कार्य में सहयोग दे। इस कर्तव्य-पूर्ति के लिए आवश्यक है कि **मनुष्य में दया, सहानुभूति, सेवा, बलिदान, सहयोग तथा स्वार्थत्याग की भावनाएँ विद्यमान होनी चाहिए।** सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यों के प्रति उदासीनता, या उनके संबंध में ऐसा सोचना कि हमें इन बातों से क्या लेना है, अथवा राष्ट्रीय संकट में व्यक्तिगत लाभ कमाने की चेष्टा, आदर्श नागरिकता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावटें हैं।

(२) **कर्तव्यपरायणता और व्यवहार कुशलता**——एक अच्छे नागरिक को सामाजिक विकारों एवं दोषों का केवल ज्ञान ही नहीं होना चाहिए, उसमें अपने समाज को एक आदर्श रूप प्रदान करने की कार्यक्षमता तथा व्यवहारकुशलता भी होनी चाहिए। मनुष्य के पांडित्य अथवा ज्ञान का उस समय तक कोई लाभ नहीं होता जब तक उसमें अपने ज्ञानानुकूल आचरण करने तथा एक कुशल सामाजिक कार्यकर्ता और अच्छे संगठन कर्ता के रूप में कार्य करने की शक्ति न हो। मनुष्य में दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने तथा उन्हें अपने व्यवहार की मिठास से आकर्षित करने की शक्ति होनी चाहिए। उसे विनम्र तथा मृदुभाषी होना चाहिए जिससे वह दूसरों पर आतंक जमाकर नहीं वरन् उन्हें प्रेम से जीतकर कार्य करने के लिए आन्दोलित कर सके।

(३) **स्वस्थ जीवन**——कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन (Healthy mind in a healthy body) वास करता है, जिस मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक नहीं और जो सदा लोगों का ही दास रहता है, वह न अपनी ही सेवा कर सकता है, न अपने परिवार की और न समाज और राष्ट्र की। हमारा स्वास्थ्य और जीवन राष्ट्र की निधि है। हमारा धर्म है कि हम व्यायाम तथा स्वास्थ्य के दूसरे नियमों का पालन करके अपने शरीर को निरोग रक्खें जिससे हमारी बुद्धि भी प्रखर रहे तथा हम बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक कार्यों में भाग ले सकें।

(४) **सुशिक्षा और उदार विचार**——यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सुशिक्षा आदर्श नागरिक जीवन की आधारशिला है। शिक्षा से अंधकार का लोप, कट्टरता की बलि तथा अंधविश्वास का नाश होता है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को ज्ञान-चक्षुओं की प्राप्ति होती है। शिक्षा के प्रताप से ही मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान तथा राष्ट्रीय जीवन में विवेकशील भाग लेने की क्षमता प्राप्त होती है। शिक्षा के बल से मनुष्य के विचारों

में सौम्यता, गंभीरता तथा उदारता का उदय होता है। शिक्षाहीन मनुष्य न केवल एक अनुपयोगी नागरिक ही होता है वरन् वह एक पशुवत जीव माना जाता है।

(५) आत्म-नियंत्रण, विचारशीलता एवं दूरदर्शिता—अच्छे नागरिक में भावनाओं के वेग से बचकर बुद्धिमत्तापूर्ण एवं दूरदर्शिता से काम करने की शक्ति होनी चाहिए। भावनाओ के अधीन कार्य करने मे हम राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि कर सकते हैं। सन् १९४७ में, भारत-विभाजन के पश्चात्, हमारे देशवासियों ने विवेक को त्याग कर तथा भावनाओं के आवेश में आकर, जिस हिंसा, साम्प्रदायिकता तथा चरित्रहीनता का मार्ग अपनाया था, उस प्रवृत्ति को यदि समय रहते न रोका जाता तो हमारे राष्ट्र को बहुत हानि पहुँच सकती थी। आज पाकिस्तान अपने नागरिकों की भारत-विरुद्ध साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काकर अपने पाप की ज्वाला मे स्वय धधक रहा है। भावनाओ के अधीन होकर कार्य करने से शायद हम क्षणिक विजय प्राप्त कर लें, परन्तु आगे चलकर यह नीति अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है। इसलिए एक अच्छे नागरिक मे विवेक, सयम तथा दूरदर्शिता से काम करने की शक्ति होनी चाहिए। आत्मसंयम ही मनुष्य को एक बड़े हित की पूर्ति के लिए छोटे हित का त्याग करना सिखाता है। आदर्श नागरिकता कर्तव्यो के इसी उचित तारतम्य बनाए रखने मे निवास करती है। इसलिए यह सभी गुण श्रेष्ठ नागरिकता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं।

(६) अपने सिद्धान्तों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति, समाज-सेवा की सच्ची लगन तथा निर्भीकता—एक अच्छे नागरिक को जीवन के उच्च आदर्शों तथा राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास करना चाहिए। यह सिद्धान्त घोर अध्ययन तथा आत्मचिंतन के पश्चात् निश्चित करने चाहिएँ, परन्तु एक बार उन्हें अपना लेने के पश्चात्, थोड़े से प्रलोभन अथवा कष्ट के कारण उन्हें छोड़ नही देना चाहिए। एक अच्छे नागरिक का सबसे आवश्यक तथा महत्वपूर्ण गुण निर्भीकता है। जो व्यक्ति लोभ, डर अथवा लालच के कारण अपने आदर्श से विचलित हो जाता है वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु सिद्ध होता है। हमारे देश के इतिहास में कितने ही ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जब थोड़े से प्रलोभन अथवा शरीर-कष्ट के कारण बड़े-बड़े राजाओं ने अपने देश के साथ गद्दारी की और अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता को शत्रुओं के हाथ बेच दिया। आज भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नही जो छोटे से पद का लालच मिलने पर अपने दल की सदस्यता त्याग देते हैं अथवा अपने नेताओं को धोका देते हैं। लालची मनुष्य चाँदी के कुछ टुकड़ों पर अपने राष्ट्र के हित को दूसरों के हाथ बेच सकता है। एक अच्छे नागरिक में इसलिए अपने सिद्धान्त के प्रति असीम श्रद्धा तथा अपने आदर्श की पूर्ति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की तत्परता विद्यमान होनी चाहिए। कायर और सिद्धान्तहीन मनुष्य कभी अच्छा नागरिक नही बन सकता। अन्याय, उत्पीड़न, शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध एक अच्छे नागरिक

को सदा लड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए, चाहे ऐसा करने में उसे कितना ही शरीरकष्ट हो तथा आर्थिक हानि उठानी पड़े।

निर्भीकता का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि नागरिक में आज्ञापालन अथवा अनुशासन में रहने की भावना न हो। राज्य अथवा उसके कानूनों का विरोध केवल असाधारण स्थिति में ही वांछनीय हो सकता है। ऐसा तभी करना चाहिए जब सारी जनता राज्य के अत्याचार से पीड़ित हो और सरकार को बदलने का कोई वैधानिक अस्त्र जनता के पास न हो। अन्य प्रत्येक स्थिति में नागरिकों का धर्म है कि वह राजाज्ञाओं का पालन करें तथा समाज में शांति और व्यवस्था बनाए रखने में अपना पूरा योग दें।

(७) दैनिक जीवन में व्यवहार की शिष्टता अर्थात् हमारी आदतें—हमें यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि श्रेष्ठ नागरिकता हमारे दैनिक व्यवहार की शिष्टता में निवास करती है। हमारे जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब हमें कोई बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत होना पड़े अथवा अपने राष्ट्र या समाज की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देनी पड़े। इसलिए अच्छी नागरिकता हमारे दिन-प्रतिदिन के व्यवहार पर निर्भर करती है। हम किस प्रकार बैठते हैं, किस प्रकार बातें करते हैं, किस प्रकार अपने घर में या आस-पास सफ़ाई रखते हैं, किस प्रकार अपने मित्रों, अतिथियों और अपने घर की महिलाओं से व्यवहार करते हैं, किस प्रकार अपने पड़ोसियों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं, किस प्रकार सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते हैं—ये कुछ बातें हैं जिनसे हमारा नित्य का जीवन बनता और बिगड़ता है और जिससे हम सामाजिक चरित्र पर एक अमिट प्रभाव डाल सकते हैं। इसलिए एक अच्छे नागरिक को उन चीजों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए जिन्हें हम जीवन की मामूली बातें कहकर उपेक्षा की दृष्टि से ठुकरा देते हैं। इन्हीं छोटी-छोटी बातों में पूरा उतरने से हम अपने जीवन के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं।

(८) मताधिकार का उचित उपयोग—अंत में एक श्रेष्ठ नागरिक के लिए आवश्यक है कि वह अपने पुण्य अधिकार मतदान की क्रिया का उचित उपयोग करे। जो व्यक्ति स्वार्थरत होकर अपने मत का प्रयोग राष्ट्रहित की भावना से नहीं करते, वरन् जाति-पाँति, पारिवारिक बंधन या धार्मिक विश्वास के आधार पर राय देते हैं, वह अपने राष्ट्र के शत्रु होते हैं। मताधिकार एक अधिकार होने के साथ-साथ एक परम पावन मानवी कर्तव्य भी है। इस कर्तव्य की उचित पूर्ति पर हमारे समाज तथा राज्य का आदर्श संगठन निर्भर करता है। इसलिए अच्छे नागरिकों को चाहिए कि वह अपने मताधिकार का उचित उपयोग करें तथा ऐसे व्यक्तियों को ही विधान सभाओं में चुनकर भेजें जो समाज की सच्ची सेवा कर सकें।

विधान-सभा के सदस्यों तथा सरकारी कर्मचारियों का भी धर्म है कि वह सदा न्याय का पक्ष लें और बेईमानी, रिश्वत तथा सिफ़ारिश का मार्ग त्याग दें। इन्हीं सब गुणों के द्वारा हम अपने समाज में श्रेष्ठ नागरिकता का विकास कर सकते हैं।

आज हमारे देश में आदर्श नागरिकों की काफी कमी है। जहाँ देखो उदासीन, स्वार्थी, प्रेमहीन, धन के पुजारी और असयमी जीव ही अधिक देखने को मिलते है। हमारा जीवन इतना व्यक्तिगत बन गया है कि हम अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठते है। हम सार्वजनिक कार्यो में भाग नही लेते, भाग लेते भी है तो अपनी स्वार्थसिद्धि के आशय से, राष्ट्रहित की भावना से नही। हमारे राजनीतिक दलो मे कितनी छोटी-छोटी पार्टियाँ बन जाती है, छोटी-छोटी बातो पर हम झगड़ा करने लगते है। हमारे जीवन से सयम और अनुशासन का प्राय लोप-सा हो चुका है, हममे धन-सचय की अधिक भावना पैदा हो गई है और चाँदी के कुछ टुकड़ों पर ही हम अपने राष्ट्र-हित को बलिदान करने पर उद्यत हो जाते है। आज भारत स्वतत्र हो गया है परन्तु हमारा नैतिक पतन इतना बढ़ गया है कि शायद अपने चरित्र के स्तर को ऊँचा उठाने में हमे वर्षो लग जायँ। आज हमारे देश की शिक्षा तथा अन्य प्रकार की सब सस्थाओ का केवल एक कर्तव्य होना चाहिए और वह यह कि हम भारत मे आदर्श नागरिक उत्पन्न करने का प्रयत्न करे।

नागरिकता कर्तव्यों के उचित क्रम-निर्माण पर अवलम्बित है

एक अग्रेज लेखक डाक्टर विलियम बौयड का कहना है—"Citizenship consists in the right ordering of loyalties". इस कथन का आशय यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्यो का समष्टीकरण इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे वह अपने समाज का अधिकाधिक हित साधन कर सके। दूसरे शब्दो मे नागरिक का जीवन इस प्रकार व्यतीत हो कि उसके जीवन मे सघर्ष और फूट अलग हो जाय और उसमे से कलह और सघर्ष निकलकर शाति और सुख का साम्राज्य स्थापित हो सके और मनुष्य अपने व्यक्तित्व का उच्चातिउच्च सीमा तक विकास कर सके।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और आत्मोन्नति केवल समाज ही मे हो सकती है। सामाजिक जीवन का अर्थ मनुष्य का विभिन्न सगठनो और सस्थाओ की सदस्यता ही है। मनुष्य जितना ही अधिक सगठना का सदस्य होगा उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का विकास हो सकेगा। एक मनुष्य धार्मिक, सास्कृतिक आर्थिक, परोपकारी, मनोरंजक, औद्योगिक और अनेक अन्य प्रकार के सगठनों का सदस्य रहता है। उसे इन सब सगठनो की सदस्यता से कुछ अधिकार प्राप्त होते है और इसके बदले मे उसे उन सब के प्रति कुछ कर्तव्यो का भी पालन करना पड़ता है। हमारे दैनिक जीवन मे कई बार ऐसे अवसर आते है जब कि हमारा एक सगठन के प्रति कर्तव्य दूसरे सगठन के प्रति कर्तव्य से संघर्ष मे आता है। ऐसी दशा में नागरिकशास्त्र हमे इस संघर्ष को हल करने का उपाय बतलाता है और वह उपाय यह है कि ऐसी चिन्ताजनक परिस्थिति मे नागरिक को अपने विस्तृत स्वार्थ के लिए एक छोटे स्वार्थ का त्याग कर देना चाहिए। सम्भवत: कुछ उदाहरणो से हमारी यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी।

यदि हमारे पारिवारिक हितों का हमारे नागरिक हितों से संघर्ष होता है तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने नगर या ग्राम के हित के लिए अपने परिवार के हित का त्याग कर दें। परिवार के हित से एक नगर या ग्राम के हितों का मूल्य निःसन्देह अधिक होता है। यदि हमारे पड़ोसी के मकान में आग लग जाय अथवा हमारे पड़ोस में कोई आदमी सख्त बीमार हो तो हमारा कर्तव्य है कि हम सब काम छोड़कर अपने पड़ोसी की सेवा में लग जायँ। यद्यपि इस प्रकार हमारे कार्य करने से परिवार के लोगों को कुछ न कुछ असुविधा अवश्य होगी परन्तु फिर भी एक नागरिक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम अपने परिवार के क्षणिक सुख की परवाह न करके अपने पड़ोसी की सेवा करने में लग जायँ। जो मनुष्य अपने पड़ोसियों के हित की चिन्ता नहीं करता और सदा अपने परिवार के ही कामों में लगा रहता है वह स्वार्थी और संकुचित हृदय का मनुष्य कहलाता है।

इस प्रकार राष्ट्र के हित के लिए हमें दूसरे सारे हितों का त्याग भी कर देना चाहिए। जिस समय समूचे राष्ट्र पर विपदा पड़ी हो, या उसकी रक्षा का प्रश्न हमारे सामने हो, तो हमारा कर्तव्य है कि हम देश की रक्षा के लिए अन्य सभी हितों का बलिदान कर दें।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक राष्ट्र का हित मानव-समाज के हित से संघर्ष में आ जाता है! फासिस्ट और साम्राज्यवादी देशों के इतिहास में, इस प्रकार के कितने ही उदाहरण देखने को मिलते हैं। जब कोई देश मिथ्या यश की प्राप्ति के लिए, संसार के कमजोर देशों की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता को कुचलने का विचार कर लेता है तब उसके नागरिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह युद्ध करने से इन्कार कर दें और इस प्रकार मानवसमाज को आततायियों के चंगुल में पड़ने से बचायें।

हिन्दुओं के पवित्र धर्म-ग्रंथ मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है :—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

इस श्लोक का अर्थ है, मनुष्य को अपने कुल के लिए देह को, ग्राम के लिए कुल को, देश के लिए ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी तक को त्याग देना चाहिए।

नागरिक शास्त्र का भी सबसे बड़ा नियम यही है कि मनुष्य को एक उच्च हित की प्राप्ति के लिए अपने छोटे हित का बलिदान कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को परिवार के हित के लिए अपना, नगर के लिए परिवार का, देश के लिए नगर का और मानव-समाज के लिए देश का बलिदान करने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

आदर्श नागरिक बनने के मार्ग में कुछ बाधाएँ

हमारे समाज की व्यवस्था अथवा हमारे व्यक्तिगत आचार में कुछ ऐसे दोष हैं जो हमारे एक अच्छा नागरिक बनने में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। साधारणतया हम इन दोषों का इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं—

(१) **प्राचीन रीति-रिवाज और प्रथाएँ**—रूढ़िवादी और पुरातनवादी विचार नागरिकता के मूलतत्व के विरोधक है। पुराने आदर्शों पर चलना कोई बुरी चीज़ नही; परन्तु पुरानी बातों को केवल इसलिए अपनाना कि वे प्राचीन काल से चली आती है और इसलिए पवित्र है, अवैज्ञानिक भावना है। हमें केवल उन्हीं प्राचीन आदर्शो को अपनाना चाहिए जो वर्तमान काल में वैज्ञानिक दृष्टि से अच्छे हों। दूसरी पुरानी रीति-रिवाजों का हमें त्याग कर देना चाहिए। परन्तु हम देखते है कि मनुष्य पुराने संस्कारों में इतना जकड जाता है कि वह इच्छा रहते हुए भी प्राचीन रूढ़ियों से अपने आपको स्वतन्त्र नही कर सकता। भारत में ही नही दूसरे देशों मे भी यही दशा है। इँगलैण्ड मे आज लार्ड्स और कौमन्स की प्रथा इसी बात की द्योतक है। हमारे देश मे छुआछूत, जात-पाँत, ऊँच-नीच की भावना भी इसी पुरातन भावना के उदाहरण है।

(२) **सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीनता**—नागरिक कर्तव्यों को उचित रूप से पालन करने मे एक और जबर्दस्त बाधा उदासीनता है। बहुत से मनुष्य सार्वजनिक कार्यो मे किसी प्रकार का भाग नही लेते। वह समझते है कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति ही समार मे सबसे बड़ी चीज़ है, ऐसे मनुष्य कभी भी अच्छे नागरिक नही बन सकते। किसी समाज का उत्थान केवल उस समय होता है जब उसका प्रत्येक सदस्य किसी न किसी प्रकार से समाज के कामों में भाग ले। व्यक्ति समाज से अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करता है। स्कूल, कालेज, लाइब्रेरी, क्लब, कलाकेन्द्र, साहित्यिक संस्थाएँ इत्यादि, हमें समाज की ही देन है, इन्ही संस्थाओ के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यदि हम समाज से ही यह सारी सुविधाएँ प्राप्त करते है, तो हमारा धर्म है कि हम स्वय भी सामाजिक कार्यो मे भाग ले, नये स्कूल खोलें, अशिक्षितों को शिक्षा दें, गरीब और अपाहिजों की सेवा करें, नये साहित्य और कला-कौशल के केन्द्रों की स्थापना करें इत्यादि। सार्वजनिक कार्यों के लिए कोई एक या कोई विशेष व्यक्तियों का समूह जिम्मेदार नही, प्रत्येक व्यक्ति को ही अपनी योग्यतानुसार सार्वजनिक कार्यो में भाग लेना चाहिए। "इस बात का मुझसे क्या सम्बन्ध है", "दो व्यक्ति आपस में झगड़ा करते है, तो हमें इससे क्या", "अमुक आदमी एक सरकारी काम में गबन करता है, हम क्यो इस बात की रिपोर्ट करें", "अमुक व्यापारी चोर बाजार मे चीजें बेचता है परन्तु हम क्यो उसकी शिकायत करके उससे दुश्मनी मोल लें" इत्यादि—इस प्रकार की बातें नागरिकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे और सामाजिक कार्यो में बिना किसी भय के भाग ले।

(३) **व्यक्तिगत स्वार्थ** (Personal Self-interest)—एक तीसरा दोष जो नागरिक को नीच बना देता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ है। इसके कारण मनुष्य सार्वजनिक हित के कार्य के लिए अयोग्य बन जाता है। वह सार्वजनिक हित के लिए अपने अल्प सुखो का त्याग नहीं कर सकता।

स्वार्थी मनुष्य सदा अपना हित चाहता है। अपने हित-साधन के लिए यदि उसे राष्ट्रीय हित का भी बलिदान करना पड़े तो वह इसमे नही हिचकिचाता। वह थोड़े आर्थिक लाभ के लिए अपने देश को बेच सकता है। वह अपने हित-साधन के लिए सरकारी पद के अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ आदर्श नागरिक जीवन की तीसरी बड़ी कठिनाई है।

(४) **दरिद्रता**—अच्छे सामाजिक जीवन के लिए चौथी बड़ी बाधा दरिद्रता है। दरिद्री और कङ्गाल मनुष्य समाज में नीचातिनीच दुष्कर्म और पाप कर सकता है। जिस मनुष्य को दिन में दो बार भी खाना नही मिलता वह डकैती, चोरी, हत्या, दगाबाजी और अन्य बुरे कार्यो में पड़ सकता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है 'बुभुक्षितः कि न करोति पापम्।" हमारे राष्ट्र के सदाचार के निर्माण के लिए दरिद्रता का अन्त परमावश्यक है।

(५) **दलबन्दी-प्रथा**—प्रजातंत्रात्मक शासन को चलाने के लिए राजनीतिक दल आवश्यक है। परन्तु इस प्रकार के दल धार्मिक या साम्प्रदायिक प्रश्नों पर नही वरन् राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक उद्देश्यों पर बनाने चाहिएँ। बहुत बार राजनीतिक दल व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना को लेकर बना दिये जाते है। इस प्रकार के दलों से देश को हानि पहुँचने की संभावना रहती है। बहुत बार राजनीतिक दलों के सदस्य अपने दल की शक्ति का उपयोग राज्य की भलाई के लिए नही वरन् केवल दल के सदस्यों के हित की प्राप्ति के लिए करने लगते हैं। इस प्रकार की भावना से समाज का नैतिक पतन हो जाता है और उसमें संघर्ष और पतन की भयंकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। नागरिकता का आदर्श सब की सेवा करना है परन्तु अधिक फिरकापरस्ती की भावना से काम करनेवाले लोग इसे भूल जाते है और इस प्रकार समाज का अधःपतन और नाश होने लगता है। संकुचित दलबन्दी की भावना इस प्रकार आदर्श नागरिकता के मार्ग मे पाँचवी बड़ी बाधा है।

(६) **अशिक्षा**—शिक्षा सामाजिक उन्नति का प्रधान साधन है। इससे व्यक्तियों के हृदय में वास्तविक नागरिकता, चैतन्यता और सार्वजनिक कार्यो मे सच्चा अनुराग पैदा होता है। शिक्षा के अभाव से समाज में अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती है और उनके कारण देश अधःपतन की ओर बढ़ता चला जाता है।

(७) **राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की प्रबल भावना**—अंत मे आदर्श नागरिकता के मार्ग में अंध राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की भावनाएं नुकीले तेज काँटों का काम करती हैं। मनुष्य में राष्ट्रीय भावना का होना अत्यन्त श्रेयस्कर है परन्तु इस भावना का उग्र रूप, मनुष्य को पागल भी बना सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को देश-भक्त होना चाहिए परन्तु यह देश-भक्ति इतनी अंधी न हो कि मनुष्य अपने देश की झूठी शान और गौरव को बढ़ाने के लिए दूसरे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण करने लगे। नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली में पिछले दिनों एक ऐसी ही उग्र राष्ट्रीय भावना वहाँ के नागरिको

के हृदय में पैदा की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन देशों की जनता ने यूरोप के अन्य स्वतन्त्र देशों को कुचलकर वहाँ की जनता को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहा। अन्त में इन पाशविक शक्तियों की हार हुई परन्तु इससे यह सदा के लिए ही सिद्ध हो गया कि मनुष्य में झूठी देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का भाव कितना भयकर और उग्र रूप धारण कर सकता है। पिछले दिनों हमारे देश के कुछ नवयुवकों के वर्ग में भी ऐसी ही भावना का संचार होने लगा था, परन्तु भारत सरकार की सतर्कता के कारण यह विष अधिक नहीं फैलने पाया।

अंध राष्ट्रवादिता का दूसरा नाम साम्राज्यवाद की भावना भी है। जब एक देश अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सैन्य-शक्ति के बल से दूसरे देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना चाहता है तो उस देश को साम्राज्यवादी देश कहते हैं। स्वतन्त्र राष्ट्रों में यह भावना अनेक राजनीतिक और आर्थिक कारणों के द्वारा पैदा हो जाती है। परन्तु अन्ध राष्ट्रीयता की भावना के समान ही यह भावना भी नागरिकता की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है, और किसी भी स्वतन्त्र देश के नागरिकों में इस भावना का संचार न होने देना चाहिए।

साम्राज्यवाद के पश्चात् पूँजीवाद की उत्कट भावना भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में एक भारी रुकावट है। पूँजीवादी लोग अपने धन की पिपासा को शांत करने में उचित और अनुचित, अच्छे और बुरे, किसी प्रकार के साधनों में भी अंतर नहीं करते। गरीबों का खून चूसना और श्रमिक वर्ग का शोषण, उनका एकमात्र धर्म बन जाता है। उनके हृदय से उदारता, दया, प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता और इसी प्रकार के दूसरे सभी गुणों का लोप हो जाता है और वह लोहे की एक कल-पुर्जे वाली मशीन के समान भावना-शून्य बन जाते हैं। अंध राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद यह तीनों ही भावनाएं एक दूसरे से संबंधित हैं और इसलिए यह तीनों ही आदर्श नागरिकता के मार्ग में भारी रुकावटें हैं।

इन बाधाओं को दूर करने के उपाय

आदर्श नागरिकता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक है कि देश और राज्य की सारी शक्ति इस ओर लगा दी जाय। देश के परिवार, शिक्षा-संस्थाएं, सरकार का प्रचारविभाग, रेडियो, समाचार-पत्र, सांस्कृतिक संस्थाएं, कला-केन्द्र, राजनीतिक दल, धार्मिक संस्थाएं इत्यादि नवयुवकों की आदर्श नागरिकता की शिक्षा पर ही जोर दें। किसी देश का गौरव और उत्थान उसके नागरिकों के चरित्र पर अवलम्बित होता है। चरित्रहीन मनुष्यों की भीड़ से कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। आदर्श चरित्र वाला एक ही मनुष्य देश और राष्ट्र का नाम संसार में जगमगा सकता है। आज भारत को गांधी जैसे योग्य पुरुष को जन्म देने पर गौरव है। परन्तु किसी देश में ऐसी संतान उत्पन्न करने के लिए, एक उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। यह वातावरण

तभी निर्मित हो सकता है जब देश की शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थाएं इस ओर विशेष ध्यान दें, देश के राजनीतिक दलों का निर्माण साम्प्रदायिक प्रश्नों को छोड़कर आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर हो, हमारे घर में स्त्रियों को उचित प्रकार की शिक्षा दी जाय और हमारे पारिवारिक जीवन का सहयोग और प्रेम की भावना पर निर्माण हो।

परिवार——सर्वप्रथम परिवार आदर्श नागरिकता के निर्माण में सबसे प्रमुख भाग लेता है। एक अच्छा नागरिक बनने के लिए आवश्यक है कि हमारा पारिवारिक जीवन सुखी, अनुशासनपूर्ण तथा स्वच्छ हो। एक सद्गृहस्थ के अन्दर रहकर ही बच्चों में उन गुणों——जैसे सहानुभूति, सेवा, सहयोग, भ्रातृभाव तथा बलिदान का जन्म होता है, जो एक अच्छे सामाजिक जीवन की आधार-शिला है। जिन बच्चों के माता-पिता शिक्षित होते हैं तथा जिन परिवारों में प्रेम और स्नेह का वातावरण रहता है, उन घरों के बच्चे सभ्य, सुशील तथा बुद्धिमान् बनते हैं। इसके विपरीत जिन घरों में माता-पिता अशिक्षित होते हैं, जहाँ कलह और फूट का साम्राज्य रहता है, जहाँ न बच्चों को ठीक प्रकार का भोजन मिलता है और न पहनने के लिए साफ कपड़े, जहाँ बच्चों की सगत गन्दी होती है और वह आवारा बच्चों के साथ रहकर गाली-गलौज सीखते हैं तथा जहाँ बच्चों को ठीक प्रकार की शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, उन घरों के बच्चे आगे चलकर अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। इसलिये कहा जाता है कि परिवार नागरिकता का पहला शिक्षण-केन्द्र है।

स्कूल और कॉलेज तथा उनके अध्यापक——परिवार के पश्चात्, नागरिकता के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण भाग स्कूल और कॉलेज लेते हैं। प्राचीन काल में इसी कारण हमारे समाज में गुरुओं को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता था। आदर्श अध्यापक अपने शिष्यों पर नागरिक गुणों की अमिट छाप लगा सकते हैं तथा उन्हें श्रेष्ठ जीवन-यात्रा के लिए तैयार कर सकते हैं।

वास्तव में परिवार की भाँति पाठशालाओं में विद्यार्थी के अन्दर उन गुणों का विकास होता है, जो एक आदर्श सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। स्कूल के अन्दर सबसे अधिक महत्त्व आज्ञापालन, अनुशासन तथा पारस्परिक सहयोग पर दिया जाता है। हम उसी स्कूल व कॉलेज को अच्छा कहते हैं, जहाँ का अनुशासन अच्छा हो, जहाँ के विद्यार्थी एक दूसरे के साथ सगे भाई का-सा व्यवहार करें, जहाँ के अध्यापक अपने शिष्यों से पुत्रवत् प्रेम करें, जहाँ पर बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के लिए हर प्रकार की सुविधाएं हों तथा जहाँ तरह-तरह की सभा-सोसाइटी, पार्लियामेंट, साहित्यिक सभा, ड्रामैटिक क्लब तथा इसी प्रकार की दूसरी संस्थाएं हों। इन सस्थाओं के द्वारा बच्चों में आत्मविश्वास, अनुशासन, सहयोग तथा स्वतन्त्र रूप से काम करने की शक्ति का विकास होता है।

राजनीतिक दल तथा धार्मिक संस्थाएँ——परिवार तथा शिक्षा सस्थाओं के पश्चात् राजनीतिक दल तथा धार्मिक संस्थाएं नागरिकता की बाधाएं दूर करने में महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। राजनीतिक दलों के नेता जनता से निकट संपर्क रखते हैं। वह अपने भाषणों

द्वारा जनता को सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेने तथा सेवा और त्याग का मार्ग अपनाने के लिए आंदोलित करते हैं। यदि हमारे राजनीतिक नेता स्वयं भी उसी प्रकार का आचरण करें जिसके लिए वह निरंतर दूसरों को शिक्षा देते हैं तो स्पष्ट है कि इससे जनता के चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भारतीय जनता के हृदय-सम्राट् थे। इसका कारण यही था कि वह जो कहते थे, पहिले अपने आप करते थे। इसी-लिए उन्होंने करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित किया तथा उनमें त्याग, बलिदान, सेवा, प्रेम और सहानुभूति का भाव भर दिया। धार्मिक सस्थाएँ भी अपने अनुयायियों के चरित्र का इसी प्रकार गठन कर सकती हैं। धार्मिक गुरु और नेता अहंकार, मद, लोभ, तृष्णा, काम और क्रोध को त्याग कर निःस्वार्थ प्रेम, सेवा और बलिदान का जीवन व्यतीत करके असंख्य लोगों के चरित्र का निर्माण कर सकते हैं।

समाचारपत्र—आदर्श नागरिकता के निर्माण में किसी देश का प्रेस तथा पत्रकार भी बड़ा भाग लेते हैं। यदि समाचारपत्र सत्य, न्याय और शांति का पक्ष लें और झूठी अफवाहों, मिथ्या आरोपों तथा संघर्ष और दुराचार की खबरों को बढ़ा-चढ़ाकर न छापें तो जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठ सकता है। प्रत्येक समाज में निर्माण तथा विनाश का कार्य बराबर होता रहता है। समाचारपत्रों का धर्म है कि वह निर्माण के कार्यों को अधिक प्रसारित करें तथा खबरों को इस ढंग से छापें कि उनसे समाज में प्रेम, सहयोग तथा सेवा का भाव निर्माण हो। क्षणिक लाभ के लिए समाज के विकारों को ऊपर लानेवाले पत्र तथा हिंसा, घृणा और वैमनस्य का प्रचार करनेवाले मैगजीन समाज की बहुत बड़ी हानि करते हैं और श्रेष्ठ नागरिकता के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं।

राज्य—अंत में राज्य अपने कानूनों द्वारा तथा सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं पर नियंत्रण रखकर आदर्श नागरिकता के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भाग लेता है। राज्य द्वारा ही शिक्षा-संस्थाओं का संचालन किया जाता है। राज्य ही कानून पास करके सामाजिक कुरीतियों को नष्ट कर सकता है। राज्य द्वारा ही नशाबन्दी का प्रबंध किया जा सकता है। राज्य ही ऐसी संस्थाओं को कार्य करने से रोक सकता है जो समाज में अनैतिकता का प्रचार करती हैं। राज्य द्वारा ऐसा वातावरण निर्माण किया जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुख और शांति के साथ अपना जीवन निर्वाह कर सके।

इस प्रकार उपरोक्त सभी साधनों के प्रयोग से हम किसी देश में आदर्श नागरिकता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं का विनाश कर सकते हैं।

स्वाधीन, जनशील, सुबोध तथा चैतन्यशील नागरिकता का आदर्श अथवा महत्व

प्रश्न उठता है कि आदर्श नागरिकों के बुद्धिमान्, सुबोध तथा चैतन्यशील समूह से राज्य तथा समाज को क्या लाभ होता है? ऐसे नागरिक किस आदर्श की पूर्ति का स्वप्न देखते हैं तथा वह उसे किस प्रकार पूरा करते हैं?

समाज को लाभ—उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर यही है कि नागरिकों के आंतरिक गुणों पर ही किसी समाज या राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है। संसार के सभी देशों में ही मनुष्य बसते हैं। फिर क्यों कुछ देश अत्यन्त प्रगतिशील, सभ्य, न्यायप्रिय तथा उच्च माने जाते हैं, और दूसरे अनुन्नतिशील, पिछड़े हुए, असभ्य तथा संघर्षरत। इसका कारण यही है कि चरित्रवान्, समाजसेवी, प्रेम, सेवा, सहयोग और त्याग की भावनाओं से प्रभावित व्यक्ति ही किसी देश को आगे बढ़ाते हैं और उसकी गणना संसार के सभ्य और उन्नतिशील देशों की श्रेणी में कराते हैं। हम एक ऐसे देश को बड़ा नहीं मानते जहाँ अधिक आबादी हो, वरन् एक ऐसे राष्ट्र को महान् कहते हैं जहाँ के नागरिकों का समूह सभ्य, बुद्धिमान्, निपुण, सुबोध तथा चैतन्यशील हो। अफ्रीका महाद्वीप में २० करोड़ आदमी बसते हैं फिर भी उसके मुकाबले में स्विटज़रलैण्ड जैसे ३५ लाख की आबादी के देश का अधिक मान है। इसका कारण यही है कि महत्ता और बड़प्पन का मापदंड संख्या नहीं वरन् गुण हैं।

जनशील नागरिकता का आदर्श—बुद्धिमान् तथा सुबोध नागरिकों का आदर्श यह नहीं होता कि किसी प्रकार वह अपनी स्वार्थ-साधना करें और धन तथा ऐश्वर्य के संचय से अपनी निजी शक्ति बढ़ाएँ। उनका ध्येय होता है कि वह उस समाज तथा राष्ट्र की निस्स्वार्थ सेवा कर सकें जिसके वह अविच्छिन्न अंग हैं तथा जिसके आगे बढ़ने से उनकी अपनी मान-मर्यादा बढ़ती है। आदर्श नागरिक जन-कल्याण में अपना स्वयं का कल्याण देखता है, वह समझता है कि यदि समाज उन्नति करता है तो उसमे उसकी अपनी उन्नति सन्निहित है, यदि उसका राष्ट्र महत्ता को प्राप्त होता है तो उसकी अपनी शान बढ़ती है। ऐसा व्यक्ति समाज से दुःख, दर्द, क्लेश, संघर्ष, गरीबी, भूख, अशिक्षा तथा अंधविश्वास को निकालने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है तथा अपने जीवन का लक्ष्य दूसरों की सेवा बनाता है।

देश को लाभ—विदित है कि किसी भी देश को नागरिकों के ऐसे वर्ग पर गर्व हो सकता है। बुद्धिमान् नागरिक देश में शांति का निर्माण करते हैं, वह समाज से निर्धनता और गरीबी को दूर करते हैं, वह शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, वह सदा न्याय का पक्ष लेते हैं, वह अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों की पूर्ति पर अधिक जोर देते हैं, वह स्वतंत्रता का मूल्य समझते हैं तथा अपने देश की रक्षा एवं अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने को तत्पर रहते हैं। कोई भी देश ऐसे ही नागरिकों के कारण उन्नति को प्राप्त होता है और संसार में नाम कमाता है।

शासन को लाभ—श्रेष्ठ नागरिकों के समूह से शासन के कार्य में भी अत्यन्त सुगमता रहती है। वास्तव में किसी भी देश में प्रजातन्त्र शासन उस समय तक सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक उसके नागरिकों का चरित्र उच्च न हो और वह आदर्श नागरिकता

का अर्थ न समझते हों। श्रेष्ठ नागरिक ही मतदान-क्रिया का उचित उपयोग करते है और ऐसे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुनते है जो समाज की निःस्वार्थ भाव से सेवा कर सकें। ऐसे नागरिक ही चैतन्यशील रहकर अपने अधिकारों की रक्षा करते है तथा शासन को निरंकुश और स्वार्थी लोगों के हाथों में जाने से रोकते है। ऐसे नागरिक ही सरकार को इस बात के लिए विवश करते है कि वह जन-कल्याण की योजनाएँ बनाए और किसी वर्ग विशेष के हित के लिए कार्य न करे। एक कल्याणकारी तथा प्रगतिशील राज्य का निर्माण ऐसे ही व्यक्तियों के सहयोग से हो सकता है।

योग्यता-प्रश्न

१. आप नागरिक और नागरिकता से क्या समझते है? (यू० पी०, १९३०, १९३२)

२. "मनुष्य की उच्च उन्नति उसके अल्प हितों को उच्च और विस्तृत हितों के अधीन बनाने में सन्निहित है" इसका विवेचन कीजिये। (यू० पी०, १९३०)

३. आप नागरिकता की किस तरह व्याख्या करेंगे? नागरिक के राज्य के प्रति क्या कर्तव्य है? (यू० पी०, १९३२ और १९३६)

४. "नागरिकता का अर्थ हमारी शक्ति को अपने में, परिवार में, धर्म में, नगर में और राष्ट्र मे क्रमानुसार उचित रूप से जमाना है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३८ और १९३९)

५. अच्छी नागरिकता की बाधाओं का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि वे किस तरह हटाई जा सकती है? (यू० पी०, १९३८)

६. अच्छी और खराब नागरिकता के भेद समझाइये। अच्छी नागरिकता की बाधाएँ क्या है और वे किस तरह हटाई जा सकती है? (यू० पी०, १९३९)

७. "नागरिकता का अर्थ भक्ति का उचित क्रमानुसार संगठन है।" आप अपनी भक्ति परिवार, नगर, समाज और देश के प्रति किस प्रकार से संगठित करेंगे यह समझाइये। (यू० पी०, १९३९)

८. "नागरिकता जीवन की वह परिस्थिति है जो मनुष्य को राज्यभक्ति प्रदर्शित करने के बदले में नागरिक और राजनैतिक सभी प्रकार के अधिकारों के उपभोग की पूर्ण व्यवस्था करती है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९४१)

९. स्वाधीन, जनशील, चैतन्य नागरिकता का आपके अनुसार क्या आदर्श है? (यू० पी०, १९५०)

१०. देश को नागरिकों के चैतन्यशील समूह से क्या लाभ है? शासन की कार्य-वाहियों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है? (यू० पी०, १९५१)

११. जन्मजात नागरिक (Natural-born Citizen) और राज्यदत्त नागरिक (Naturalised Citizen) की भिन्नता समझाइए। नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जाती है और किस प्रकार नष्ट हो जाती है, इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९५२)

१२. अच्छी नागरिकता के विकास में हमारी आदतों का क्या महत्त्व है ? (यू० पी०, १९५२)

१३. नागरिक जीवन में प्रमुख बाधाएँ क्या हैं ? भारतीय दशाओं पर विशेष ध्यान देते हुए इसका विवेचन करो। (यू० पी०, १९५३)

१४. एक नागरिक, एक विदेशी और एक प्रजा के भेद समझाइये। अच्छे नागरिक में कौन से गुण होने चाहिएँ ?

अध्याय ६

अधिकार और कर्तव्य

पिछले अध्यायों में हमने समाज की अतीतावस्था पर एक विहंगम दृष्टि डाली है और वर्तमान समाज के सङ्गठन का भी कुछ वर्णन किया है।

सामाजिक व्यवस्था का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इसके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर आतंक फैलाने की चेष्टा कर सकता है। अथवा एक ही देश के अन्दर गरीब मजदूरों और किसानों का शोषण किया जा सकता है। इसलिए राज्य और उनके विभिन्न अंगों का अध्ययन करने से पहले उन आदर्शों का वर्णन करना चाहिए जिनके अनुसार हमें समूचे सामाजिक सङ्गठन की व्यवस्था करनी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या लिङ्ग से सम्बन्ध रखता हो अपने हित-साधन के लिए बराबर के ही अवसर प्राप्त हों। ऐसा सामाजिक सङ्गठन समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए एक-से ही अधिकार और कर्तव्यों की प्राप्ति पर अवलंबित है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम मनुष्य के अधिकारों और कर्त्तव्यों का ही विवेचन करेंगे।

§ १ अधिकारों का स्वभाव

अधिकारों का अर्थ और व्याख्या—नागरिक विज्ञान में अधिकारों और कर्त्तव्यों का विचार एक बहुत आवश्यक स्थान रखता है परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश लोग इस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। विद्वान् लोगों में भी इस शब्द के अर्थ के संबंध में भेद-भाव है। इसलिए सर्वप्रथम हम अधिकारों के विषय में विभिन्न राजनीतिक लेखकों के मतों का अध्ययन करेंगे।

हालैंड अधिकार की व्याख्या इस प्रकार करता है कि "वह एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के कर्त्तव्यों को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।" आस्टिन के मतानुसार "एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य या मनुष्यों से बलपूर्वक कुछ विशेष प्रकार के कार्य कराने की क्षमता का नाम अधिकार है।" 'विले' अधिकार शब्द की व्याख्या इस प्रकार करता है कि "यह विशेष कार्य पालन करने में स्वाधीनता की उचित माँग है।" क्रौस एक और ही नए ढंग से अधिकारों की प्रथा का वर्णन करता है कि "यह नैतिक जीवन की बाह्य आवश्यक शर्तों का आंगिक समूह है।" हमारे विचार से अधिकार शब्द की सबसे

उत्तम परिभाषा यह है कि अधिकार मनुष्य या मनुष्य-समुदाय के अच्छा जीवन व्यतीत करने की वह माँगें हैं जो समाज द्वारा समान हित की भावना से स्वीकृत कर ली गई हों।

अधिकारों का ब्यौरा—ऊपर की गई परिभाषा के अन्तर्गत अधिकारों के तीन आवश्यक अंग हैं :—

(१) 'अधिकार' एक मनुष्य या मनुष्यों के समुदाय की माँग का नाम है। (२) यह वह माँग है जो उस मनुष्य-समूह के हित के लिए आवश्यक है। (३) यह वह माँग है जिसे पूरा समाज भी अपने सब सदस्यों के हित के लिए आवश्यक समझता है।

अब हम अधिकारों के इन तीनों अंगों का विस्तार से वर्णन करेंगे :—

(१) प्रत्येक मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं जिन्हें वह सन्तुष्ट करना चाहता है। ये इच्छाएँ केवल विशेष परिस्थितियों में और विशेष वस्तुओं द्वारा ही सन्तुष्ट की जा सकती हैं। इसलिए स्वाभाविकतया मनुष्य उन परिस्थितियों पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। मनुष्य की इन अवस्थाओं को प्राप्त करने की माँग पर ही अधिकारों की नीव कायम है।

(२) परन्तु मनुष्य की बहुत-सी माँगें ऐसी होती हैं जो वास्तव में उसके सच्चे और स्थायी हित के अनुकूल नही कही जा सकतीं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि बहुत से लोग शराब या दूसरी मादक वस्तुओं का प्रयोग करना चाहते हैं और यदि उन्हें यह चीज़ें न मिलें तो फिर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी माँग मनुष्यों के अधिकार नहीं कही जा सकती क्योंकि यह उनके सच्चे हित के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त जो लोग विवेक से काम करने की क्षमता रखते हैं और स्वभावतया नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं हम उन्हीं लोगों के लिए अधिकारों की कल्पना कर सकते हैं, विवेकहीन और अपवित्र विचारों वाले व्यक्तियों के लिए नहीं। पशु-संसार में एक पशु का दूसरे पशु के विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। एक शेर जब चाहे और जब भी उसका दाँव लगे एक भेड़ या बकरी या दूसरे किसी जानवर को मारकर खा सकता है, भेड़ या बकरी को शेर के विरुद्ध रक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं। ऐसा इसलिए है कि पशु-समाज का संगठन विवेक या नैतिकता के आधार पर नहीं वरन् भावना के आधार पर होता है। अधिकारों का अस्तित्व केवल एक विवेकशील और नैतिक समाज में ही हो सकता है। विवेक और नैतिकता, 'माँग' को अधिकार बनाती हैं। इसलिए मनुष्य की केवल ऐसी ही माँगों को अधिकार कह सकते हैं जो उसके हित अथवा नैतिक जीवन के लिए आवश्यक हों।

(३) अन्त में, माँग उस समय तक अधिकार नहीं बन सकती जब तक उसे समाज की स्वीकृति प्राप्त न हो। ऐसा होने के दो कारण हैं। पहला यह कि मनुष्य समाज में रहकर ही एक अच्छा जीवन व्यतीत कर सकता है। समाज से बाहर जैसा हम पहले देख चुके हैं, मनुष्य न अपनी आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का

विकास। यदि समाज, अपनी नैतिक शक्ति द्वारा दूसरे मनुष्यों से एक मनुष्य की माँगों की पूर्ति नहीं कराता, तो ऐसी दशा में मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है; और ऐसा करने से समाज में अनेक प्रकार के झगड़े पैदा हो जाते हैं। किसी भी मनुष्य के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते और समाज का संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य की प्रत्येक माँग को समाज निष्पक्ष भाव से जाँचे और यदि उसे न्यायसगत पाये तो उसे अधिकार का रूप दे दे। समाज द्वारा माँग के न्यायपूर्ण मान लिये जाने पर उसमें समूचे समाज की शक्ति जुड़ जाती है; और इसके पश्चात् सारा समाज ही अपने नैतिक बल द्वारा उस माँग की पूर्ति कराने में लग जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज द्वारा मनुष्य के प्रत्येक अधिकार की स्वीकृति प्राप्त हो। समाज द्वारा अधिकार की स्वीकृति अनिवार्य होने का एक दूसरा भी कारण है और वह यह कि अधिकारों का विचार केवल समाज में ही उत्पन्न होता है। मनुष्य समाज से अलग रहकर एक निर्जन स्थान में अपना जीवन व्यतीत नही कर सकता। यदि ऐसा सम्भव भी हो सकता तो मनुष्य को अधिकारों की आवश्यकता ही नही पड़ती; वह तो सारे ही जंगल का स्वामी होता है। अधिकारो की आवश्यकता तो केवल ऐसे समाज में पड़ती है जहाँ दूसरे मनुष्य भी रहते हों और जहाँ एक मनुष्य के अधिकार दूसरे मनुष्य के अधिकारों से संघर्ष मे आते हों। समाज में रहकर प्रत्येक मनुष्य एक सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत करना चाहता है। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि समाज के दूसरे लोग उसे ऐसा जीवन व्यतीत करने की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करें। जब समाज के दूसरे सभी व्यक्ति इस प्रकार की सुविधाएँ देने के लिए उद्यत हो जाते है, तो मनुष्य की माँग अधिकार का स्वरूप धारण कर लेती है, परन्तु ऐसी सुविधा प्राप्त करने में प्रत्येक मनुष्य को समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज की स्वीकृति और संरक्षता अधिकारों की आधारशिला है।

अधिकार सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

अधिकारों की उत्पत्ति कैसे हुई तथा उनकी स्वीकृति क्यों आवश्यक है, इस सम्बन्ध में राजनीतिक दार्शनिको में काफी मतभेद है। इस सिलसिले में निम्न सिद्धांत विशेष रूप से प्रतिपादित किए जाते है :—

(१) नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्यों को प्रकृति की देन है, वह सनातन है और अनादिकाल से चले आ रहे है। रूसो, लॉक तथा हौब्स इत्यादि संविदा सिद्धान्त के प्रर्वतकों के मतानुसार जब समाज या राज्य नही था, उस समय भी मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्म के साथ कुछ अधिकार मिलते हैं। इन अधिकारों में जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का

अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार मुख्य है। ये अधिकार मनुष्य-स्वभाव में व्याप्त है। इनका अस्तित्व समाज या राज्य की स्वीकृति के कारण कायम नहीं, वरन् मनुष्य की अपनी प्रकृति पर निर्भर है। राज्य को इन अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए क्योंकि यह अधिकार राज्य से परे है।

आलोचना—वास्तव में यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रममूलक है, कारण अधिकारो की उत्पत्ति समाज के कारण ही होती है। समाज के बिना अधिकारो का अस्तित्व असंभव है। समाज की स्वीकृति के ही कारण यदि कोई हमारे अधिकारों पर आघात करता है तो उसे समाज या राज्य द्वारा दंड दिया जाता है। प्राकृतिक अवस्था का कोई अर्थ नही, मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है, और यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई प्राकृतिक अवस्था थी, तो ऐसी स्थिति में मनुष्य को अधिकार नहीं वरन् शक्ति प्राप्त थी। इस अवस्था में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला सिद्धान्त ही चरितार्थ होता था। इसलिए यह सिद्धान्त एकदम अमान्य है।

(२) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे अधिकार वही है जो हमे राज्य द्वारा प्राप्त है, कारण राज्य ही ऐसे अधिकारो की अवहेलना की दशा में अपराधियों को दंड दे सकता है। बैन्थम, हॉलैण्ड, आस्टिन, मालमण्ड इत्यादि लेखक इसी सिद्धान्त में विश्वास करते है।

आलोचना—परन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नही कारण यदि किन्ही उचित माँगों को राज्य स्वीकार नही करता तो वह अधिकार कहलाने मे वंचित नही रह सकते। यदि कोई राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता या उसकी संपत्ति या धार्मिक विश्वासों की कद्र नही करता तो यह राज्य का दोष है, माँगो के औचित्य का नही। अधिकारों का आधार नैतिकता, धर्म और न्याय है। राज्य की स्वीकृति उन्हे कानूनी संरक्षण दे देती है, परन्तु यदि राज्य उन्हें स्वीकार नही करता तो भी वह समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार रहते है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में केवल अर्ध सत्य ही है।

(३) रीति-रिवाज सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार पुराने रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ अधिकारों के रूप में परिणत हो जाती है, उदाहरणार्थ नीति-व्यवस्था, हिंदुओं का संपत्ति-विभाजन संबंधी मिताक्षरा तथा दायभाग लॉ, मुसलमानों मे विवाह संबंधी मुता ला, इत्यादि।

आलोचना—यह सत्य है कि बहुत से रीति-रिवाज कालान्तर में अधिकार बन जाते है परन्तु यह सिद्धान्त सब अधिकारों के संबंध में लागू नही किया जा सकता। राज्य द्वारा भी बहुत से नये अधिकार प्रदान किए जाते है तथा हानिकारक रीति-रिवाजों को कानून द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। हिंदुओं में अछूतपन तथा हरिजनों के मंदिरों में जाने पर रोक संबंधी रीति-रिवाजों को सरकार द्वारा अमान्य ठहराया गया है। आधुनिक काल में

मजदूरों तथा निर्धनों को अनेक नये अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किये गये हैं। इसलिए अधिकार संबंधी यह सिद्धान्त भी गलत है।

(४) उपयोगिता सिद्धान्त—इस मत के प्रवर्तक बैन्थम, मिल तथा लास्की इत्यादि लेखक हैं। उनके मतानुसार समाज को केवल ऐसे ही अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए जिनसे अधिकतम लोगों का अधिकतम लाभ हो सके।

आलोचना—इस सिद्धान्त में अधिकारों की प्राप्ति के लिए समाज की स्वीकृति तथा जन-साधारण का कल्याण आवश्यक ठहराया गया है। परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि यह किस प्रकार निश्चय किया जाय कि अमुक अधिकार के प्रदान करने से ही अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलेगा। इसके अतिरिक्त कभी-कभी समाज के अधिकांश व्यक्ति एक गलत मार्ग पर चलने में उदाहरणार्थ अछूत-प्रथा के पालन में, अपना लाभ अनुभव कर सकते हैं। अधिकारों का अस्तित्व विशुद्ध नैतिक भावना पर आश्रित है, इसलिए ऐसी माँगों को अधिकार का रूप नहीं दिया जा सकता।

(५) नैतिक या दार्शनिक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का आधार हमारी नैतिक आवश्यकताएँ हैं। हमें अधिकारों की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि उनके बिना हमारा नैतिक जीवन संभव नहीं और हम अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकते। व्यक्ति के आदर्श हित और समाज के आदर्श हित में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, इसलिए जिन अधिकारों से व्यक्ति का हित साधन होता है उनसे समाज की भी उन्नति होती है।

अधिकारों के संबंध में उपरोक्त अंतिम मत ही सर्वश्रेष्ठ मत है। यह मत अधिकारों की सामाजिकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार अधिकार हमारी वह माँगें हैं जो हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं, जो समाज द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं तथा जो समस्त समाज के कल्याण के लिए भी आवश्यक हैं।

राज्य द्वारा अधिकारों का सृजन नहीं होता। अधिकार राज्य से पूर्व उत्पन्न होते हैं। एक अच्छे राज्य का कर्तव्य है कि वह अधिकारों की रक्षा करे तथा ऐसी स्थिति का निर्माण करे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उचित रीति से उपयोग कर सके। राज्य को सब व्यक्तियों को समान अधिकार ही प्रदान करने चाहिए, किसी को कम या किसी को अधिक नहीं।

अधिकार सार्वदेशीय हैं—इस मत के अनुसार अधिकार एक के नहीं वरन् सबकी सम्पत्ति बन जाते हैं। उन पर सारे सामाजिक मनुष्यों का हित अवलम्बित रहता है। वे किसी व्यक्ति विशेष के शरीर या स्थान या काल विशेष से संबन्ध नहीं रखते। वे समाज के प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रदान किये जाते हैं। अधिकारों और कर्तव्यो की दुनिया में छोटे और बड़े, अमीर और गरीब, नीच और ऊँच, स्त्री और पुरुष

बालक और बड़े, काले और गोरे का भेद नहीं किया जाता। एक आदर्श समाज में सारे ही मनुष्यों को बराबर के अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि किसी समाज में कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह अपनी शक्ति के बल से दूसरों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो इससे अधिकारों का नाश नहीं होता, वरन् शक्ति का दुरुपयोग होता है और समाज में अशांति और दुख फैल जाता है। प्रत्येक समाज का धर्म है कि वह अपने नैतिक बल से दुर्बल और शक्तिहीन मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करे।

अधिकार और राज्य

राज्य (State) समाज की एक संगठित व्यवस्था का नाम है। इसका मुख्य ध्येय समाज में शान्ति और अनुशासन कायम रखना और मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। अधिकारों का जन्म राज्य के कारण नहीं होता, वरन् राज्य का जन्म अधिकारों की रक्षा के लिये होता है। अधिकार का संबन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से है। यह उन अवस्थाओं का नाम है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं। यदि कोई राज्य इन अवस्थाओं का प्रबन्ध नहीं करता तो इससे अधिकारों का अस्तित्व नष्ट नहीं होता वरन् राज्य की व्यवस्था बिगड़ जाती है। वह राज्य एक अच्छा राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। प्रायः ऐसे ही देशों में राज्यक्रान्ति भी हुआ करती हैं। जनता राज्य के शासकों के विरुद्ध खड़ी हो जाती है और उनके स्थान पर नये शासकों का चुनाव कर लेती है।

अधिकार केवल कर्तव्यों की दुनिया में ही जीवित रह सकते हैं

अधिकार शब्द का आशय समझ लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि अधिकारों और कर्तव्यों का आपस में क्या सम्बन्ध है। कुछ लोग इन दोनों नियमों को एक दूसरे का विरोधी समझते हैं, क्योंकि अधिकार शब्द से उन्हें एक प्राप्ति की भावना होती है और कर्तव्य से हानि की। वह समझते हैं कि अधिकारों की प्राप्ति से वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु कर्तव्यों के बोझ से उन्हें कुछ शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट होता है।

अधिकार और कर्तव्यों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में यह मत एकदम भ्रमात्मक है। अधिकार और कर्तव्य तो एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सहायक हैं। इन दोनों का कार्य-कारण का-सा सम्बन्ध है, अर्थात् कर्तव्य के बिना अधिकार स्थिर नहीं रह सकते। प्रत्येक अधिकार के दो स्वरूप होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। व्यक्तिगत दृष्टि से जो अधिकार हैं वही सामाजिक दृष्टि से कर्तव्य बन जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार सारे समाज अर्थात् सारे ही दूसरे व्यक्तियों, संस्थाओं और संगठनों का उसके प्रति कर्तव्य हो जाता है। यदि यह दूसरे व्यक्ति और संघ, उस एक अधिकार-प्राप्त मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते तो समाज में अधिकार का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता।

एक-दो उदाहरणों से सम्भवतः हमारा आशय और अधिक स्पष्ट हो जायगा। समाज के प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है, परन्तु यह अधिकार तभी पूर्ण हो सकता

है जब समाज के दूसरे व्यक्ति उस मनुष्य को चोट न पहुँचावें या उसकी हत्या करने का प्रयत्न न करें। इसका मतलब यह हुआ कि मेरे जीवित रहने का अधिकार समाज के दूसरे सारे भी सदस्यों का मेरे प्रति कर्तव्य है। इसी प्रकार एक मनुष्य के सम्पत्ति-अधिकार का आशय है कि समाज के दूसरे व्यक्ति उस मनुष्य की जायदाद या चल-सम्पत्ति पर बलपूर्वक कब्जा न करें और उसे अपनी इच्छानुसार संपत्ति का उपभोग करने दें। इसका मतलब यह हुआ कि एक मनुष्य का संपत्ति-अधिकार समाज के दूसरे सभी व्यक्तियो के कर्तव्य का रूप धारण कर लेता है। अच्छे सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्यों को एक से ही अधिकार प्राप्त हों। जो एक व्यक्ति के लिए अच्छा नियम है वह समाज के दूसरे व्यक्तियो के लिए भी अच्छा है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के अधिकारो के साथ-साथ उसके कर्तव्य भी होते है। समाज में कोई भी मनुष्य ऐसा नही हो सकता जिसके केवल अधिकार ही हों, कर्तव्य नही। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से पृथक् नहीं परन्तु एक दूसरे के पूरक है। वह एक ही नियम के दो पहलू है। सामाजिक दृष्टि से वह नियम कर्तव्य कहलाते है और वैयक्तिक दृष्टि से अधिकार। सहयोग की भावना से अधिकारों की उत्पत्ति होती है और इसी के द्वारा उनकी रक्षा। इस प्रकार दोनो साथ-साथ ही चलते है।

इस मत के विरोध में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि समाज में, कुछ विशेष व्यक्तियों को केवल अधिकार ही प्राप्त होते है, कर्तव्य नही, और इसके विरुद्ध कुछ दूसरे मनुष्यो के केवल कर्तव्य ही होते है अधिकार नही। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि भारत में किसानों के अपने जमींदारों के प्रति जमीन का लगान इत्यादि देने के केवल कर्तव्य ही होते है। इसके एवज में उन्हे किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नही होते। जमीदार भूमिकर प्राप्ति के बदले मे किसानों की किसी प्रकार की भी सेवा करने के लिए बाध्य नही। वे समझते है कि यदि उपरोक्त अधिकार के बदले उनका किसी के प्रति कर्तव्य है तो वह राज्य के प्रति है, किसानों के प्रति नही। इसी मत के कारण अक्सर जमीदार अपने किसानों का निर्दयतापूर्वक शोषण करते है; परन्तु यह दलील ठीक नही। वास्तव में व्यक्तियों की प्रत्येक माँग अधिकार नहीं हो सकती। अधिकार का अर्थ मनुष्य की वह माँग है जो समाज के समान हित के लिए आवश्यक हो। इस दृष्टि से भारतीय जमीदारों का किसानों के विरुद्ध कथित अधिकार, अधिकार माना ही नही जा सकता। वह तो केवल एक शक्ति है जिसका अस्तित्व अन्याय और पशु-शक्ति पर निर्भर है, समाज की नैतिक शक्ति पर नहीं। जमींदारों का किसानो को उनके अधिकारो से वंचित कर देना या उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करना अधिकारों का नाश नहीं, वरन् शक्ति का दुरुपयोग है। समाज में कितने ही मनुष्य शक्ति इकट्ठी कर अपने बल का दुर्बल और शक्तिहीन मनुष्यों पर अत्याचार और अनाचार करके उपभोग करते है। इसी कारण समाज में दुःख और अशान्ति का

वातावरण बना रहना है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का ठीक रूप से पालन करे तथा दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न न करे तो समाज में एक सच्चे स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

अधिकार और कर्तव्यों का दूसरे दो कारणों से भी निकट सम्बन्ध है। प्रत्येक अधिकार-प्राप्त मनुष्य का धर्म है कि समाज के दूसरे व्यक्तियों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करे। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यों से इस बात की आशा करते हैं कि वह हमें अपने अधिकारों का शान्तिपूर्वक उपभोग करने दें, तो हमारा भी समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति कर्तव्य है कि हम उनके अधिकारों की रक्षा में सहायक सिद्ध हों और जिस कर्तव्य पालन की हम दूसरों से आशा करते हैं वही कर्तव्य हम दूसरों के प्रति पालन करने के लिए सदा उद्यत रहें। यदि हम अपने लिए जीवन या सम्पत्ति या वाक्-स्वतन्त्रता का अधिकार चाहते हैं तो हमारा भी धर्म है कि हम दूसरों की जीवन-रक्षा करें, उनकी सम्पत्ति का अनुचित उपभोग न करें; और उनको दूसरों पर अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता दें। यदि हम अपने देश की स्वतन्त्रता चाहते हैं तो हमें कोई अधिकार नहीं कि हम दूसरे देशों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें। हमारे प्रत्येक अधिकार के साथ इस प्रकार हमारा एक कर्त्तव्य भी है। हमारा धर्म है कि हम दूसरों को भी वही अधिकार प्राप्त करने दें जो हम स्वयं अपने लिए चाहते हैं।

अन्त में प्रत्येक अधिकारप्राप्त मनुष्य का एक और भी कर्तव्य है और वह यह कि वह स्वयं अपने अधिकार का उचित रूप से उपभोग करे। अधिकारों की प्राप्ति मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है। यदि मनुष्य उन अधिकारो का अनुचित रूप से उपभोग करता है, तो समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य को अधिकार-वंचित कर दे। यदि हमें समाज द्वारा अपने विचारों को दूसरों के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करनेका अधिकार है तो हमारा यह भी कर्तव्य है कि हम इस अधिकार का अनुचित प्रयोग न करें, दूसरों को गाली न दें, सांप्रदायिक विष न फैलायें या हिंसा का प्रचार न करें। यदि हम धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम दूसरे धर्मावलम्बी मनुष्यों के विचारों का भी आदर करें, उनको बुरा-भला न कहें।

आधुनिक संसार में जितना कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा और लड़ाई-झगड़े हमें देखने को मिलते हैं उनका एक ही मूल कारण है और वह यह कि हम अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो सदा उत्सुक रहते हैं परन्तु अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते। यदि मनुष्य केवल अपने कर्तव्यपालन पर ही जोर दे और कुछ थोड़े समय के लिए अपने अधिकारों को भूल जाय तो संसार सारे दुःखों से मुक्त हो सकता है। हमारे देश के पुराने धर्मशास्त्रों ने भी मनुष्य को अपने कर्तव्य पालन करने की शिक्षा दी है। कर्तव्यों के पालन से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिए नागरिक-

शास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा यही है कि मनुष्य अपने कर्तव्य के पालन पर जोर दें। ऐसा करने से हमारा कलहपूर्ण जीवन एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करने लगेगा।

§ २ अधिकारों के भेद

अधिकारों की कोई विस्तृत सूची देना या उनका अलग-अलग श्रेणियों में विभाजन करना कोई सरल कार्य नहीं, कारण, अधिकारों का संबंध मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास से है। जो भी अवस्थाएँ मनुष्य को इस कार्य में सहायता देती हैं वही उसके अधिकार बन जाती हैं। अधिकारों का स्वरूप भी समय और काल की प्रगति के साथ अदलता-बदलता रहता है। पुरातन काल में जब मनुष्य आखेट अवस्था में रहते थे, व्यक्तियों को दूसरे प्रकार के अधिकार प्राप्त थे; और आजकल की औद्योगिक और व्यापारिक सभ्यता में दूसरी प्रकार के। राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता, परन्तु वह उन्हें मान्यता प्रदान कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो साधारण अधिकार कानूनी अधिकारों में बदल जाते हैं।

साधारणतः अधिकारों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार, (२) नैतिक अधिकार और (३) कानूनी या वैधानिक अधिकार।

प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक अधिकार

प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ कई प्रकार से लगाया जाता है। संविदा सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिक—ह.ब्स, लॉक तथा रूसो—प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ उन अधिकारों से लगाते हैं जो समाज तथा राज्य की रचना से पहिले मनुष्यों को प्राप्त थे। इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार मुख्य हैं।

जैसा पहिले बताया जा चुका है, प्राकृतिक अधिकारों का यह आशय एकदम भ्रमात्मक है। अधिकारों का अस्तित्व सामाजिक दशा में ही संभव है, किसी विचार-जगत् में व्याप्त प्राकृतिक अवस्था में नहीं। अधिकार समाज की देन हैं, इसलिए प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता।

प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग एक दूसरे अर्थ अर्थात् 'आदर्श' के रूप में भी किया जाता है। इस दशा में प्राकृतिक अधिकारों का आशय उन अधिकारों से होता है जो किसी आदर्श समाज में व्यक्तियों को उनके पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास के लिए प्रदान किए जाते हैं। ऐसे अधिकारों का पालन केवल एक ऐसे ही समाज में हो सकता है जो न्याय, सत्य और व्यक्तियों के पूर्ण विकास की भावना पर अवलंबित हों। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि ऐसे अधिकार उसी दशा में आदर्श अधिकार कहे जा सकते हैं जब सारा समाज उन्हें मान्यता प्रदान करे। अधिकारों का अर्थ मनुष्य की प्रत्येक माँग से नही, वरन् केवल उन माँगों से होता है जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं तथा जिनसे सभी मनुष्यों का भला होता है।

प्रत्येक प्राकृतिक अधिकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि राज्य द्वारा उसे मान्यता दी जाय। आरंभ में प्रायः प्रत्येक देश में अधिकारों का पालन लोकमत और जनता की नैतिक शक्ति पर आश्रित रहता है। फिर शनैः शनैः वह कानूनी या संवैधानिक अधिकारों का रूप धारण कर लेते हैं।

नैतिक अधिकार

नैतिक अधिकार वह अधिकार कहे जाते हैं जिनका पालन राज्य की शक्ति पर आश्रित नहीं वरन् मनुष्य की अपनी नैतिक भावना अथवा समाज की नैतिक जागृति पर आश्रित रहता है। इस प्रकार के अधिकारों में हम शिष्ट व्यवहार का अधिकार, आदर का अधिकार, पिता का अपने पुत्र से वृद्धावस्था में पालन-पोषण का अधिकार इत्यादि का उदाहरण दे सकते हैं। राज्य चाहे भी तो भी इन अधिकारों का अपनी सैन्य शक्ति के आधार पर पालन नहीं करा सकता। इनका पालन मनुष्य और समाज की नैतिक भावना पर ही निर्भर रहता है।

यदि एक पुत्र अपने पिता का आदर नहीं करता, अथवा उसे वृद्धावस्था में उदर-पोषण के लिए सहायता नहीं देता, तो पिता कानूनी अदालत में जाकर अपने इस अधिकार को नहीं मनवा सकता, क्योंकि कोई भी राज्य मनुष्य को नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर नही कर सकता। इस प्रकार के अधिकार केवल जन-मत और समाज की नैतिक भावना पर ही अवलंबित रहते हैं।

कानूनी अधिकार

जो अधिकार राज्य द्वारा मान लिए जाते हैं तथा जिनकी वह कानूनों द्वारा रक्षा करता है, वह कानूनी अधिकार बन जाते हैं। इन अधिकारों के उपभोग में जो बाधा डालता है उसे राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। हमारा जीवन या सम्पत्ति का अधिकार कानूनी अधिकार है। यदि कोई मनुष्य हमें मारने अथवा हमारे माल को लूटने का प्रयत्न करे तो सरकार ऐसे व्यक्ति को खून तथा चोरी के अपराध में सजा देती है। विपरीत इसके, प्रत्येक मनुष्य के निःशुल्क शिक्षा तथा नौकरी पाने के अधिकार कानूनी अधिकार नही कहे जा सकते क्योंकि राज-शक्ति इनको नहीं मानती। धीरे-धीरे प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार, स्वाभाविकता के दायरे से निकलकर कानूनी रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आज जो हमारे स्वाभाविक या नैसर्गिक अधिकार हैं, वही कल कानूनी अधिकार बन जाते हैं।

मौलिक अधिकार

जिस समय नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन उस देश के संविधान में कर दिया जाता है तथा कहा जाता है कि राज्य का कोई भी कानून जो इन मूल अधिकारों पर कुठारा-

घात करेगा, अवैध माना जायगा, तो संविधान द्वारा प्रदत्त ऐसे अधिकार नागरिकों के मौलिक अधिकार कहे जाते हैं। कानूनी अधिकार और मौलिक अधिकारों में मुख्य भेद यह होता है कि पहली प्रकार के अधिकार विधान-मंडल द्वारा निर्मित कानूनों द्वारा प्रदान किए जाते हैं और दूसरी प्रकार के अधिकार संविधान की देन होते हैं। मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात होने की दशा में कोई भी व्यक्ति देश के सर्वोच्च न्यायालय में अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रार्थनापत्र दे सकता है। इन अधिकारों को एक अत्यन्त उच्च तथा पावन स्थान प्रदान किया जाता है।

आजकल संसार के बहुत से प्रगतिशील देशों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख संविधान में कर दिया गया है। भारत के नये संविधान में भी नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है।

§ ३ अधिकारों का वर्गीकरण

जैसा पहिले कहा जा चुका है, अधिकारों की कोई विस्तृत सूची देना असंभव कार्य है। फिर भी मोटे रूप से कुछ अधिकार ऐसे हैं जो प्रायः सभी सभ्य देशों में नागरिकों को राज्य द्वारा प्रदान किए जाते हैं। इन अधिकारों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :—

(१) नागरिक या सामाजिक अधिकार

(२) राजनीतिक अधिकार

नागरिक या सामाजिक अधिकार (Civic Rights)

इस श्रेणी में ऐसे अधिकारो की गिनती होती है जो मनुष्य को मनुष्य होने के नाते प्रदान किए जाते है। इन अधिकारों को प्रदान करने मे नागरिक और अनागरिक मे भेद नहीं किया जाता। इन अधिकारो की श्रेणी में जीवन, स्वतत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार सम्मिलित किए जाते हैं, यद्यपि आजकल पारिवारिक अधिकार, भाषण-स्वतंत्रता का अधिकार, सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार, स्वतंत्र समाचारपत्र मुद्रण का अधिकार और धर्म का अधिकार भी इसी श्रेणी में शामिल कर लिये जाते है।

राजनीतिक अधिकार (Political Rights)

ये वे अधिकार है जिनके कारण नागरिक अपने देश के शासन में भाग ले सकते है। इनमें निम्नलिखित अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं :—

(अ) मताधिकार

(ब) विधान सभा में निर्वाचन का अधिकार

(स) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार

राजनीतिक अधिकारों का विश्लेषण

सर्वप्रथम हम उन अधिकारों का वर्णन करेंगे जो समाज में प्रत्येक मनुष्य को नहीं वरन्

केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होते है जो राज-काज के कामों में भाग लेने के योग्य समझे जाते है तथा उसके प्रति अपनी भक्ति का उचित रूप से प्रदर्शन करते है। विदेशियों, नाबालिगों, पागलों, पुराने अपराधियों तथा किसी-किसी देश में स्त्रियों, सरकारी नौकरों और फौजी सिपाहियों को यह अधिकार प्रदान नही किये जाते। इन अधिकारों के अन्तर्गत हम विशेष रूप से तीन अधिकारों का वर्णन कर सकते है :—

(अ) मताधिकार—राज्य के प्रत्येक मदस्य को इस बात का अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह देश की विधान सभा, म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादि संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव में भाग ले सके। इन संस्थाओं के कानूनों का प्रत्येक मनुष्य के हित पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार प्रदान किया जाय कि वह अपने मत द्वारा इस बात को घोषित कर सके कि वह किन विचार वाले और किस प्रकार के शासकों को अपने देश के प्रबन्ध के लिए उचित समझता है। किसी विशेष जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, लिङ्ग अथवा हैसियत के व्यक्तियों को इस बात का अधिकार नही होना चाहिए कि वे राज की सत्ता को अपने हाथो में केंद्रित कर लें और समाज के दूसरे व्यक्तियो को राजसत्ता का उपभोग न करने दें। ऐसा होने से राज्य का शासन सारी जनता की भलाई के लिए नही वरन् समाज के एक विशेष अधिकारप्राप्त वर्ग की भलाई के लिए हो जाता है, और इससे समाज मे अशान्ति और अव्यवस्था फैल जाती है। इसलिए देश में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को ही बराबर के राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ।

(ब) विधान-सभा में निर्वाचन का अधिकार—मताधिकार के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को यह भी अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह स्वयं भी विधान-सभा तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं की सदस्यता के लिए चुनाव में खड़ा हो सके। प्रजातन्त्र शासन में छोटे से छोटे मनुष्य को भी राज्य की ऊँची से ऊँची पदवी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। एक सच्चे प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है "जनता की, जनता के हित मे, जनता द्वारा सरकार।" इस प्रकार की सरकार की स्थापना तभी हो सकती है जब राज्य के प्रत्येक सदस्य को मताधिकार के अतिरिक्त स्वयं राज्याधिकारी बनने का अवसर प्राप्त हो।

(स) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार—नागरिक का तीसरा राजनीतिक अधिकार ऊँची से ऊँची सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अवसर है। किसी व्यक्ति को अपने वर्ण, जाति, लिङ्ग अथवा हेसियत के कारण सरकारी नौकरी से वंचित न रखा जाय। नौकरी प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष योग्यता का होना तो आवश्यक है परन्तु इस योग्यता की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए एक-सी होनी चाहिए। ऐसा न हो कि एक मनुष्य को उसके धन अथवा हैसियत के कारण ऊँचा सरकारी पद दे दिया जाय और दूसरे मनुष्य को योग्यता होने पर भी उसकी गरीबी के कारण नौकरी न मिले। सरकारी नौकरियों में परीक्षा द्वारा भरती होनी चाहिए। जो भी व्यक्ति इन

परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जायँ, उन्हें सरकारी नौकरी मिलने का अधिकार होना चाहिए। सिफारिश या रिश्वत के आधार पर नौकरियों का वितरण नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी **राज्य के सर्वोच्च कर्मचारी के पास सार्वजनिक तकलीफों को दूर करने के लिए प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार** भी राजनीतिक अधिकारों में ही शामिल कर लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ लेखक, **देश से बाहर बसनेवाले नागरिकों की रक्षा का अधिकार, संगठन की स्वतंत्रता, मत प्रकट करने की स्वतंत्रता और सार्वजनिक सभा करने की स्वतंत्रता इत्यादि** अधिकारों को भी राजनीतिक अधिकारों में ही शामिल कर देते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में ऐसे अधिकारों को नागरिक अर्थात् सामाजिक अधिकारों की श्रेणी में रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

नागरिक (Civic) अधिकारों का विश्लेषण

राजनीतिक अधिकारों के वर्णन के पश्चात् अब हमें नागरिक अधिकारों का अध्ययन करना चाहिए। इन अधिकारों में सर्वप्रथम व्यक्तिगत अधिकार आते हैं।

व्यक्तिगत अधिकार—व्यक्तिगत अधिकार हम उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। किसी व्यक्ति के शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए उनकी स्वीकृति आवश्यक है। इन अधिकारों में निम्नलिखित अधिकार शामिल किये जाते हैं :—

(अ) जहाँ चाहें जाने की स्वतंत्रता (Freedom of Movement)

(ब) विचार और भाषण की स्वनंत्रता (Freedom of Thought and Expression)

(म) संगठन की स्वतन्त्रता (Freedon of Association)

(ड) शरीर की रक्षा (Security of Life)

(य) न्याय का अधिकार (Right of Justice)

(फ) व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा (Security of Reputation)

(अ) आने-जाने की स्वतन्त्रता—इस अधिकार का आशय है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने इच्छानुसार, स्वदेश में अथवा संसार के किसी भी देश में रहने, बसने, यात्रा करने और आने-जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। आजकल अधिकतर देशों में, दूसरे राज्यों की यात्रा करने के लिए पासपोर्ट (Passport) की आवश्यकता पड़ती है और एक देश के नागरिक स्वच्छंद रूप से दूसरे देशों में आ-जा नहीं सकते। इस प्रकार की रुकावटें, देश की रक्षा के विचार से लगाई जाती हैं। कुछ देशों में तो नागरिक अपने देश में भी स्वतंत्र रूप से घूम-फिर नहीं सकते। भारत में अंग्रेजों के काल में दफा १४४ लगाकर किसी भी मनष्य को भारत के किसी भी प्रान्त अथवा नगर में दाखिल होने से रोका जा सकता था।

इस प्रकार की रुकावटें नागरिकता के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। इस अधिकार का दूसरा भी आशय है। और वह यह कि किसी भी मनुष्य को बिना अपराध, एक ही स्थान पर रहने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। इँगलेंड और अब स्वयं हमारे देश में एक कानून है जिसके अन्तर्गत किसी भी मनुष्य को, बिना जुर्म साबित हुए, जेल में बंद नही किया जा सकता। इस अधिकार की रक्षा बंदी प्रत्यक्षीकरण प्रार्थना-पत्र (Habeas Corpus Petition) द्वारा की जाती है। संसार के प्रत्येक सभ्य देश में नागरिकों को इस प्रकार के अधिकार अवश्य प्राप्त होने चाहिएँ।

(ब) विचार और भाषण की स्वतंत्रता—सभी प्रजातंत्रवादी देशों में विचार-स्वतंत्रता, मत प्रकट करने की स्वतंत्रता और संगठन निर्माण की स्वतन्त्रता नागरिकों के मौलिक अधिकार माने जाते हैं। विचार-स्वतन्त्रता पर कोई भी देश नियंत्रण नहीं लगा सकता। मनुष्य का मस्तिष्क विचारों की दुनिया में मनमानी दौड़ लगा सकता है। परन्तु इस स्वतन्त्रता का उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक मनुष्य को अपने विचारों को दूसरे व्यक्तियों पर प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती। मनुष्य स्वभावतया अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है। कारण, उसके व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्र-विचार-विनिमय से ही होता है और उसके विचार वाद-विवाद द्वारा ही अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण बनते हैं।

भाषण-स्वतंत्रता का अर्थ दूसरों को गाली देना या हिसा का प्रचार करना अथवा द्वेषाग्नि भड़काना नहीं वरन् अपने स्वतन्त्र विचारों को देश के कल्याण की भावना से, एक शिष्ट भाषा में दूसरों पर प्रकट करना है। भाषण-स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ हमारा समाज के प्रति एक परम कर्तव्य भी हो जाता है और वह यह कि हम दूसरे समाज के व्यक्तियों के विचारों का आदर करें और कोई ऐसी बात न कहें जिससे दूसरे की आत्मा को दुःख पहुँचे और बिना किसी प्रयोजन के समाज में द्वेषाग्नि भड़के। सार्वजनिक हित की दृष्टि से इस अधिकार के अन्तर्गत हम सरकार अथवा सामाजिक संस्थाओं की आलोचना कर सकते हैं परन्तु द्वेष अथवा लोभ की भावना से नहीं, केवल सर्वसाधारण के कल्याण की भावना से।

(स) संगठन की स्वाधीनता—नागरिकों को किसी समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन स्थापित करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन्हें अपने क्लब, साहित्यक समितियाँ, व्यापार संघ या राजनीतिक दल की व्यवस्था करने का अधिकार होना चाहिए। मानव-व्यक्तित्व का उस समय अधिक विकास होता है जब एक मनुष्य विभिन्न सगठनो की सदस्यता में क्रियात्मक भाग लेता है।

(ड) शरीर की रक्षा—प्रत्येक मनुष्य को जीवन-रक्षा का अधिकार प्राप्त है। जीवित रहने पर ही मनुष्य के सारे अधिकार और कर्तव्य अवलम्बित हैं। यदि कोई मनुष्य हमें

मारने अथवा चोट पहुँचाने का प्रयत्न करे तो हमारा अधिकार है कि हम उस समय मनुष्य के आक्रमण से किसी भी प्रकार अपनी रक्षा करें। यह अधिकार इतना अधिक व्यापक है कि मनुष्य को स्वयं अपनी जान लेने अर्थात आत्महत्या करने का भी अधिकार प्राप्त नही। मनुष्य का जीवन एक सामाजिक निधि है और किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त नही कि वह अपने जीवन का स्वय अत कर सके।

(ग) न्याय का अधिकार––इस अधिकार का आशय है कि कानून के सामने सब मनुष्यों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। एक ही प्रकार की कानूनी अदालतों को सब अपराधियों के मुकदमे करने चाहिए; और एक ही कानून सब के लिए लागू होना चाहिए। किसी व्यक्ति विशेष के साथ विशेष प्रकार का व्यवहार न किया जाना चाहिए। मुकदमे की पैरवी के समय किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जाना चाहिए। न्यायालयो को सजा देते समय व्यक्ति की हैसियत, वर्ण, जात या धर्म का कोई विचार नही करना चाहिए। अग्रेज और हिन्दुस्तानी, लखपती और कङ्गाल, ब्राह्मण और शूद्र, बड़े और छोटे––कानून के सामने सब एक समान हैं। इस अधिकार का दूसरा अर्थ यह है कि न्याय में विलम्ब और व्यय अधिक नही होना चाहिए, जिससे कि गरीब भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कानूनी अदालतो की शरण ले सकें। इस सम्बन्ध में नागरिकों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे न्याय के पक्ष में राय दे और अदालतो में कभी झूठी गवाहियाँ न दें।

(फ) व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा––प्रत्येक मनुष्य को अपनी सामाजिक ख्याति बनाये रखने तथा उसके प्रति आक्रमण से रक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। किसी मनुष्य को दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध निर्मूल, निराधार और गलत दोषारोपण करने अथवा गाली देने का अधिकार प्राप्त नही। यदि कोई मनुष्य ऐसा करता है अर्थात् किसी दूसरे की मान-प्रतिष्ठा को सर्व-साधारण की दृष्टि में भंग करने का प्रयत्न करता है, तो अपमानित मनुष्य को अधिकार है कि वह अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोगो को झूठा साबित करके अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध दीवानी या फौजदारी अदालत में मुकदमा दायर कर सके।

(२) सामाजिक अधिकार––इस शीर्षक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित दो अत्यन्त आवश्यक सामाजिक अधिकारो का वर्णन करेंगे :––

(१) सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार
(२) स्वतन्त्र प्रकाशन का अधिकार

सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार––सार्वजनिक सभा करने का अधिकार प्रजा-तन्त्रात्मक शासन की आधारशिला है। सार्वजनिक सभाओं के द्वारा ही जनता अपने विचारों को शासकों पर प्रकट कर सकती है, अपने दुख और कष्टों की कहानी उनके कानों तक पहुँचा सकती है तथा राज्य के अन्यायकारी कानूनों और नियमों के विरुद्ध अपनी आवाज उठा सकती है। जिस देश में जनता को स्वतंत्र रूप से शान्तिपूर्ण सभा करने का

अधिकार प्राप्त नहीं, वह देश फासिस्ट देश कहलाता है। किसी भी राज्य में, शान्तिपूर्ण और न्यायोचित माँग की पूर्ति के लिए की गई सभा को भग करने का, सरकारी कर्मचारियो को अधिकार प्राप्त नही होना चाहिए।

स्वतन्त्र प्रकाशन का अधिकार—सार्वजनिक सभा करने के अधिकार के साथ ही प्रत्येक देश में जनता को समाचार-पत्र निकालने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रजातन्त्र देशो में समाचार-पत्र जनता की राय का प्रतिनिधित्व करते है, वह शासकों के सम्मुख भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर जनता का मत प्रकट करते है, वह निर्भीक रूप से सरकार की योजनाओं की आलोचना करते है और इस प्रकार कर्मचारियों को जनता के हित के विरुद्ध काम करने से रोकते है। फासिस्ट देशों में जहाँ सरकार केवल एक पार्टी के हित के लिए ही शासन का संचालन करती है, स्वतंत्र समाचार-पत्र छापने की आज्ञा नही दी जाती, परन्तु संसार के दूसरे सारे ही सभ्य देशों में स्वतन्त्र समाचार-पत्र प्रकाशित करने का अधिकार जनता का मूल अधिकार समझा जाता है।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि समाचार-पत्रों पर किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण प्रत्येक ही देश की सरकार को रखना पड़ता है। अच्छे समाचार-पत्र जहाँ समाज की सेवा करते हैं वहाँ गन्दे और स्वार्थी व्यक्तियो द्वारा संचालित पत्र समाज की बहुत बड़ी हानि भी कर सकते है। ऐसे पत्र साम्प्रदायिक द्वेष, आपसी झगड़े, मार-काट और कलह की भावनाओं का प्रचार तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियो पर झूठे आरोप लगाकर उनसे रुपया ऐंठने का प्रयत्न अपना पेशा बना लेते है। कभी-कभी कुछ धनी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि और ख्याति की भावना से बहुत से पत्रों के मालिक बन जाते है और फिर उन पत्रों का संचालन जनता के हित की भावना से नही, वरन् अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए करते है। ऐसे समाचार-पत्रों के विरुद्ध प्रत्येक सरकार को कार्यवाही करनी चाहिए। स्वतत्र समाचार-पत्र प्रकाशन अधिकार का अर्थ जनता के हितों का हनन नही वरन् उनकी रक्षा है, इसलिए केवल ऐसे ही पत्रों को स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है जो जनता की सेवा करें।

(३) धार्मिक अधिकार—सामाजिक अधिकारों के पश्चात् धार्मिक अधिकारों का विवरण आवश्यक है। इन अधिकारों में हम :—

(अ) विश्वास की स्वतंत्रता (Freedom of Faith)

(ब) पूजा की स्वतंत्रता (Freedom of Worship)

(स) धार्मिक प्रचार और उपदेश की स्वतंत्रता (Freedom of Religious propaganda) शामिल कर सकते हैं।

विश्वास की स्वतंत्रता—इस अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को किसी भी धर्म, मत या सम्प्रदाय में विश्वास रखकर अपने ईश्वर तक पहुँचने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। कसिी भी राज्य को यह कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि केवल अमुक

धर्म या मत ही अच्छा है दूसरा नहीं। विश्वास एक व्यक्तिगत भावना है और प्रत्येक सरकार को इस भावना की इज्जत तथा रक्षा करनी चाहिए।

धार्मिक प्रचार की स्वतंत्रता—धर्म में विश्वास की स्वतंत्रता के साथ प्रत्येक मनुष्य को शान्तिपूर्ण तथा उचित उपायों से दूसरे मनुष्यों को अपने धर्म में परिवर्तित करने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि झूठ, दगा और धोखे से दूसरे मनुष्यों को किसी धर्म में बदला जाय और न इसका यह ही अर्थ है कि धर्म के नाम पर सामाजिक कुरीतियाँ, जैसे बाल-विवाह, छूत-छात, नरसंहार, भ्रूणहत्या इत्यादि बुराइयों का प्रचार किया जाय। धर्म का संबंध व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन से है; धर्म के नाम पर सामाजिक बुराइयों के प्रचार की आज्ञा नहीं दी जा सकती।

धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में धार्मिक सहिष्णुता भी सम्मिलित है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म के समान ही दूसरे धर्मों का भी आदर-सम्मान करना चाहिए।

(४) सांस्कृतिक अधिकार—सांस्कृतिक अधिकारों में हम निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं :—

(अ) साधारण और वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार।

(ब) वाचनालय और पुस्तकालय-स्थापना का अधिकार।

(स) अन्वेषण संस्थाओं, अजायबघर और अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना का अधिकार।

शिक्षा—(अ) शिक्षा एक अच्छे सामाजिक जीवन की कुजी है। यह मनुष्य को अच्छा और उपयोगी जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है। यह प्रजातंत्र शासन की जड़ है। इसलिए प्रत्येक सभ्य राज्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह राज्य के सारे नागरिकों के लिए उचित तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे।

(ब) शिक्षा का अंत स्कूल और कालिजों की पढ़ाई के साथ ही नहीं हो जाता, वास्तविक शिक्षा तो जीवन के अनुभवों के साथ-साथ ही चलती रहती है। इस शिक्षा में, नव-जीवन और नव-स्फूर्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि राज्य की ओर से वाचनालय, पुस्तकालय, अजायबघर इत्यादि संस्थाओं का प्रबन्ध हो। हमको संसार के प्रगतिशील ज्ञान के साथ सम्पर्क रखना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन सब चीजों की नितान्त आवश्यकता है।

(स) राज्य को अन्वेषण-संस्थाओं का भी प्रबन्ध करना चाहिए जिससे चतुर विद्यार्थी युनिवर्सिटी की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् नए-नए प्रयोगों द्वारा संसार के वर्तमान ज्ञान में उन्नति कर सकें। इसी प्रकार उसे कला-केन्द्र, अजायबघर, साहित्य इत्यादि संस्थाओं का भी संचालन करना चाहिए।

(५) **मनोरञ्जन अधिकार**—दिन भर के शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम के पश्चात् मनुष्य बिल्कुल थक जाता है और अपने शारीरिक कष्टों को मिटाने के लिए किसी प्रकार का मनोरंजन चाहता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों के लिए बगीचे (Parks), खेलने के लिए स्थान, तैरने के लिए तालाब, व्यायामशाला, नाटकघर, सिनेमा, चित्रालय, जू, नृत्यशाला, कलाकेंद्र इत्यादि का प्रबन्ध करे जिससे लोग अपने अवकाश तथा छुट्टी के समय को इन स्थानों पर जाकर व्यतीत कर सकें और इस प्रकार अपनी दिन भर की थकान को दूर कर सकें।

(६) **आर्थिक अधिकार**—आर्थिक अधिकारों के अन्तर्गत हम निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं :—

(अ) आर्थिक न्यूनतम का अधिकार (Right of Economic minimum)

(ब) नौकरी का अधिकार (Right of Employment)

(स) इच्छानुसार उद्योग करने का अधिकार (Right to follow any vocation)

(अ) संसार के प्रत्येक मनुष्य को सुखी और उन्नतिशील जीवन व्यतीत करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है जिससे वह अपनी विभिन्न आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। जिस मनुष्य का पेट ही नहीं भरता और जिसे प्रायः भूखे रहने की नौबत आती है उससे हम किस प्रकार एक अच्छा सामाजिक जीवन व्यतीत करने की आशा कर सकते हैं। गरीबों में इसी कारण बहुधा जुर्म, बीमारी, दुराचार और अन्यान्य निकृष्ट बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को इतनी आमदनी का आश्वासन दे कि वह अपने जीवन को साधारण अच्छे तरीकों से व्यतीत कर सकें। यही आर्थिक न्यूनतम (Economic minimum) का नियम कहलाता है।

(ब) नागरिक का दूसरा आर्थिक अधिकार है कि राज्य की ओर से उसे उपयुक्त रोजगार मिल सके। जो लोग काम करने के लिए तैयार हैं उनके लिए राज्य की ओर से कार्य का प्रबन्ध होना चाहिये। जिन्हें नौकरी नहीं मिल सकती उन्हें बेरोजगार पेंशन (Unemployment dole) इत्यादि मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। बूढ़े और अपाहिज मनुष्यों को जो किसी भी प्रकार का काम नहीं कर सकते अपाहिज घर (Recluse Home) इत्यादि का प्रबन्ध होना चाहिए। भीख माँगने की प्रथा मिटा दी जानी चाहिए। यह आधुनिक सभ्य समाज की भारी कलंककारी प्रथा है।

(स) अन्त में राज्य के किसी भी नागरिक को विशेष व्यवसाय करने से केवल इसलिए न रोका जाय कि वह किसी खास जाति में पैदा हुआ है। रीति-रिवाज या कानून को भी मनुष्य के व्यवसाय में बाधक न बनना चाहिए। भारतवर्ष में हरिजनों को खास प्रकार के नीच काम छोड़कर दूसरे सम्मानित व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं दी जाती। कोई चमार या भंगी, हलवाई, बजाज या होटल का काम नहीं कर सकता। इस प्रकार की रुकावटें हटा देनी चाहिएँ।

(७) निजी सम्पत्ति का अधिकार—नागरिक शास्त्र में शायद ही कोई दूसरा ऐसा अधिकार हो जिसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में राजनीतिक विज्ञेताओं में इतना मतभेद हो जितना निजी सम्पत्ति अधिकार के विषय मे। कुछ राजनीतिक लेखक सम्पत्ति के अधिकार को नागरिक का मौलिक अधिकार मानते है। उनकी राय में धन-पिपासा ही मनुष्य मे अधिक काम करने तथा नए-नए आविष्कारो और प्रयोगों द्वारा रुपया कमाने की प्रेरणा पैदा करती है। धन के कारण मनुष्य सदाचारी तथा स्वतन्त्र विचारशील बनता है। सपत्ति के कारण मनुष्य के चरित्र तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। परन्तु इस मत के विरुद्ध कुछ दूसरे राजनीतिक लेखको का, जिनमें साम्यवादी लेखक प्रमुख है, कहना है कि निजी सपत्ति की प्रथा ही संसार में कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, लूट-खसोट, चोरी, डाका, झूठ, धोखा-धडी इत्यादि बुराइयों का बीज बोती है। धन-लोलुपता के कारण ही संसार में मनुष्य मनुष्य का खून चूसता है। एक भाई अपने दूसरे सगे भाई तथा माता-पिता को मारने के लिए उद्यत हो जाता है, पूँजीपति मजदूरों तथा गरीब किसानों का शोषण करता है और एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करके अपना गुलाम बनाने की चेष्टा करता है। साम्यवादियों की राय में निजी संपत्ति की प्रथा ही ससार में अधिकतर सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयों की जड है।

उपरोक्त दोनों मतों में आशिक सत्यता है। यह सच है कि आधुनिक युग में सम्पत्ति के अधिकार से पूँजीपतियों तथा जमींदारो ने गरीब जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण किया है, परन्तु इसका मुख्य कारण राज्य द्वारा धन-प्राप्ति तथा वितरण (Production and Distribution) की सामग्री पर उचित प्रकार के नियंत्रण की कमी है। सम्पत्ति का अधिकार दो प्रकार का हो सकता है—एक ऐसी सम्पत्ति का अधिकार जो रुपया कमाने के काम में आता है, दूसरा ऐसी संपत्ति का अधिकार जो मनुष्य के उपयोग में आता है। पहली प्रकार की संपत्ति के उदाहरण में हम कारखाने, जमीन, दूकान तथा व्यापार की दूसरी संपत्ति का नाम ले सकते हैं। दूसरी प्रकार की संपत्ति में, रहने का मकान या कोठी, मोटरकार, बाग-बगीचा, फरनीचर इत्यादि ऐसी चीजें आती है जो मनुष्य के स्वयं के काम में आती है और जिनसे धन कमाने का प्रयत्न नही किया जाता। दूसरी प्रकार की संपत्ति से जनता का शोषण नहीं किया जा सकता और ऐसी संपत्ति रखने का अधिकार प्रत्येक सभ्य मनुष्य को मिलना चाहिए परन्तु पहली प्रकार की संपत्ति के अधिकार पर सरकार को कड़ा नियंत्रण रखना चाहिए। सरकार का धर्म है कि वह देखे कि संपत्ति का उपयोग जनता की भलाई के लिए ही होता है न कि उसके शोषण के लिए।

(८) पारिवारिक जीवन के अधिकार

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं :—

(अ) स्वतन्त्र रूप से विवाह करने का अधिकार (Right to free Marriage)

(ब) तलाक अथवा विवाह-विच्छेद का अधिकार (Right to Divorce)

(स) स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन उपभोग करने का अधिकार (Right to free enjoyment of family life)

(अ) स्वतन्त्र विवाह का अधिकार—हिन्दुओं का विश्वास है कि विवाह एक ऐसी विधि का विधान है जो पति और पत्नी को उनके व्यक्तित्व के पारस्परिक विकास के लिए आध्यात्मिक बन्धन में आबद्ध करता है। परन्तु कुछ अन्य धर्मो का कथन है कि विवाह पति और पत्नी के पारस्परिक संबंध का केवल इकरार है जो गार्हस्थ्य जीवन के सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इन दोनों मतों मे कौनसा अधिक सत्य है, यहाँ यह विचार करने की आवश्यकता नही। यहाँ तो केवल यह समझ लेना पर्याप्त है कि विवाह मनुष्य-जीवन की वह महत्त्वपूर्ण घटना है जिसकी सफलता पर मनुष्य का समस्त सुख अवलंबित रहता है। इसलिए मनुष्यों को अपने जीवन के साथी को चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। इस चुनाव मे जाति-सिद्धान्त अथवा धर्म की बाधाएं नही होनी चाहिए।

(ब) तलाक का अधिकार—तलाक के अधिकार की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि यदि किन्ही विशेष परिस्थितियो में पति और पत्नी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके और वह कलह और द्वेष का घर बन जाय तो तलाक के द्वारा मनुष्य का गार्हस्थ जीवन नरक बनने से बचा रहे। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन के साथी चुनने में गलती कर सकता है, परन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि इस गलती के लिए मनुष्य को सारी उम्र एक नारकीय जीवन मे रहने के लिए मजबूर किया जाय। ऐसी विषम परिस्थितियो मे प्रत्येक स्त्री-पुरुष को तलाक का अधिकार मिलना चाहिए। परन्तु तलाक को एक भीषण बीमारी का अंतिम उपचार ही मानना चाहिए, प्रथम नही।

(स) स्वतंत्र पारिवारिक जीवन उपभोग करने का अधिकार—किसी भी मनुष्य के गार्हस्थ्य जीवन के घरेलू मामलो में बाहर के व्यक्तियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होना चाहिए। पारिवारिक जीवन एक व्यक्तिगत विषय है, कोई मनुष्य कैसे मकान में रहता है, अपने बच्चों को किस स्कूल में शिक्षा देता है, अपनी स्त्री को किस प्रकार के आभूषणो से सुसज्जित करता है, इत्यादि व्यक्तिगत मामले हैं। परिवार के बाहर के सदस्यों को इन मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होना चाहिए। परन्तु इसका यह आशय कदापि नही कि कोई माता-पिता अपने बच्चों को चोर और डाकू बनाने की शिक्षा दे सकते हैं या उनको घर से बाहर निकाल सकते हैं, या उनके साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं। समाज को ऐसे मामलो में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक परिवार के बच्चे को उचित प्रकार की शिक्षा मिले; प्रत्येक परिवार एक स्वास्थ्यप्रद मकान में निवास करे, तथा परिवार के सारे भी सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार हो—यह व्यक्तिगत प्रश्न होने के

साथ-साथ सामाजिक मामले भी हैं, और समाज को इन प्रश्नों पर नियंत्रण रखने का उतना ही अधिकार है जितना किसी व्यक्ति को।

अधिकारों की संख्या अनिश्चित है

पिछले पृष्ठों में जिन अधिकारों का वर्णन किया गया है, वह नागरिकों के अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अधिकार कहे जा सकते हैं। अधिकारों की यह संख्या पूर्ण नही है; सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के साथ अधिकारों की संख्या तथा उनकी सीमा भी बढ़ती जाती है। जिस प्रकार समाज और राज्य विकासशील हैं, उसी प्रकार अधिकारों का विचार भी उद्दीयमान है। समय की प्रगति के साथ पिछड़े हुए निरंकुश राज्य भी अपने नागरिकों को अधिकार देने की महत्ता स्वीकार करने लगे हैं। यह सच है कि आज भी संसार में अनेक ऐसे देश हैं जहाँ नागरिकों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता है, जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार की विचार, प्रकाशन अथवा विश्वास की स्वतंत्रता प्राप्त नही है, उन्हें राजकाज के कामों में भाग लेने के लिए आमंत्रित नही किया जाता, जहाँ काले और गोरे का प्रश्न उठाकर केवल एक विशेष जाति के लोगों को ही अधिकार प्रदान किए जाते हैं तथा जहाँ स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त नहीं है। अफ्रीका महाद्वीप, मध्य पूर्व के देशों, दक्षिण पूर्वी एशिया के अनेक द्वीप तथा अधीनस्थ इलाकों की जनता को किसी प्रकार के नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकर प्राप्त नही है। परन्तु धीरे-धीरे राजनीतिक जागृति उत्पन्न होने तथा साम्राज्यवाद के ह्रास के कारण, अब इस दशा में समुचित सुधार हो रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संस्था का मानव अधिकार संबंधी कार्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा भी इस दिशा में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया जा रहा है। इस संस्था की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद ने जनवरी सन् १९४७ में एक १८ सदस्यों की मानव अधिकार कमीशन बनाई जिसकी प्रधान श्रीमती रूज़वेल्ट थीं, तथा जिसमें हमारे देश की प्रतिनिधि श्रीमती हंसा मेहता थीं। इस आयोग ने एक ४४ सूत्री मानव अधिकार घोषणा तैयार की और उसे सदस्य सरकारों के विचारार्थ प्रस्तुत किया। बहुत वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय के पश्चात मानव अधिकार संबंधी धाराओं की संख्या ४४ से घटा कर ३० कर दी गई, अंत में सितंबर सन् १९४८ में घोषणापत्र 'संघ' की साधारण सभा के सन्मुख प्रस्तुत किया गया और १० दिसंबर को, उसी वर्ष, ४८ राष्ट्रों के बहुमत से वह स्वीकार कर लिया गया। इस घटना की पुण्य स्मृति में सारा विश्व १० दिसंबर को मानव अधिकार दिवस के रूप में मनाता है।

घोषणापत्र में जिन अधिकारों का उल्लेख किया गया है उनमें मुख्य यह हैं :—

संसार के सब मानव स्वतंत्र और समान हैं और उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए बराबर के अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ।

अधिकारों की प्राप्ति में स्थान, देश, रंग, वर्ण, जाति, आयु, स्थिति, धन, भाषा, धर्म या राजनीतिक विश्वासों का भेद-भाव नहीं रहना चाहिए। संसार के सभी मनुष्यों को चाहे वह स्वतंत्र है या किसी दूसरे देश के अधीन, बराबर के ही अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ।

प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार है।

संसार में कोई प्राणी गुलाम बनाकर नही रक्खा जायगा। गुलामी की प्रथा को समूल नष्ट कर दिया जायगा।

संसार में किसी व्यक्ति के साथ अमानुषिक, निर्दय या सभ्यता से गिरा हुआ व्यवहार नहीं किया जायगा।

कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होंगे। किसी के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा।

कोई व्यक्ति बिना उचित कार्यवाही के गिरफ्तार नहीं किया जायगा और न ही उसे हिरासत में रक्खा जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को उसके विरुद्ध लगाये गये आरोपों को गलत साबित करने का अधिकार होगा, और उसका मुकदमा स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा सुना जायगा।

मनुष्य के व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को विचरण एवं भ्रमण की स्वतंत्रता होगी।

प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होंगे और उसे बलपूर्वक अनागरिक घोषित नहीं किया जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से विवाह करने तथा परिवार में रहने की आज्ञा होगी।

प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार होगा और बिना उचित कार्यवाही के उसे इस अधिकार से वंचित नहीं किया जायगा।

धर्म, विश्वास, पूजा तथा प्रचार की प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता होगी।

किसी भी प्रकार के विचार रखने तथा दूसरों पर उन्हें प्रकट करने की प्रत्येक मनुष्य को आजादी होगी।

संघ बनाने तथा सार्वजनिक सभा करने का भी प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होगा।

मतदान तथा सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार सभी व्यक्तियों को प्राप्त होगा। राज्य का आधार जनमत होगा तथा इसका निर्णय करने के लिए समय-समय पर चुनाव किये जायँगे।

प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार मिलेंगे। कोई व्यक्ति जिस प्रकार का चाहे व्यवसाय कर सकेगा। बराबर का काम करने के लिए सबको समान वेतन मिलेगा। प्रत्येक मनुष्य को अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए ट्रेड यूनियन बनाने तथा उसमें सम्मिलित होने का अधिकार होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को अवकाश प्राप्त करने तथा बीमारी इत्यादि की दशा में उचित उपचार का अधिकार होगा। बुढ़ापे, दुर्घटना, बेकारी, मौत इत्यादि की दशा में सब व्यक्तियों को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा। प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होगी। व्यक्तियों के दूसरे सांस्कृतिक अधिकारों की भी रक्षा की जायगी।

उपरोक्त अधिकारों के बदले प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों की पूर्ति करनी होगी, क्योंकि कर्तव्यों के पालन पर ही अधिकारों का अस्तित्व कायम है।

उपरोक्त अधिकारों का पालन

संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा द्वारा मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र स्वीकार हो जाने का यह अर्थ नहीं है कि अब विश्व के समस्त राष्ट्रों में व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेंगे। इस घोषणा-पत्र को अलग-अलग सरकारों ने अभी मान्यता नहीं दी है। जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक इस घोषणा-पत्र का केवल नैतिक मूल्य है। संसार के बहुत से सभ्य देश भी उपरोक्त वर्णित बहुत से अधिकारों को नहीं मानते। इस दशा में अभी बहुत अधिक कार्य तथा तीव्र जनमत तैयार करने की आवश्यकता है। अधिकारों की प्राप्ति के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है और वह मूल्य है 'निरंतर जागरूकता तथा सतर्कता।' यदि संसार के सभी मनुष्य अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति सचेत रहें तो कोई कारण नहीं कि उन्हें हर प्रकार के अधिकार प्राप्त न हो जायँ। परन्तु अभी इस आदर्श तक पहुँचने के लिये बहुत बड़े कार्य की आवश्यकता है।

अधिकारों की उपयोगिता

अधिकारों की प्राप्ति से समाज तथा नागरिकों को जो लाभ होता है वह सर्वविदित है।

अधिकारों के द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास संभव है। अधिकार मानव-उत्थान की आधारशिला है। अधिकारहीन मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करता है। अधिकारों की प्राप्ति से मनुष्य की मर्यादा तथा उसकी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा होती है। अधिकारप्राप्त मनुष्य ही अपने समाज और राष्ट्र की उन्नति का हेतु होता है। वही अपने आंतरिक गुणों का पूर्ण विकास कर अपने देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। अधिकारों की नींव पर ही सभ्यता और संस्कृति का विकास कायम है। प्रगति, उत्थान और विकास का मूल मंत्र अधिकारों की स्वीकृति है।

अधिकारों की मान्यता से न केवल व्यक्ति को ही लाभ होता है वरन् समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है। उन्ही के द्वारा विश्व-राज्य और विश्व-शांति का आदर्श पूर्ण हो सकता है। यदि संसार के सभी मनुष्यों को बराबर के अधिकार प्राप्त हों, किसी व्यक्ति के साथ भेद-भाव की नीति न बरती जाय, संसार के सब राष्ट्र स्वतंत्र हों, शोषण, अत्याचार और अन्याय का अंत कर दिया जाय, तो इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि यदि अधिकारों की स्वीकृति पर ही मानव-कल्याण निर्भर है तो बहुत से राज्यों द्वारा इन अधिकारों को मान्यता क्यों नही प्रदान की जाती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज मनुष्यों की कुछ ऐसी प्रकृति हो गई है कि वह अपने अधिकारो का सुरक्षण तो चाहते हैं, परन्तु अपने कर्तव्यो का पालन करना नही। यह भावना शासक और शासित सभी में देखने को मिलती है। हम दूसरों से तो यह आशा करते हैं कि वह अपने कर्तव्यों को पूरा करे, परन्तु हम स्वयं अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए उद्यत नहीं रहते। संसार के वर्तमान कलह, अशाति, संघर्ष, युद्ध, गुलामी, निर्धनता, भूख, महामारी तथा सभी सामाजिक बुराइयो की जड़ मे हमारी यही प्रवृत्ति काम कर रही है। कर्तव्यों की पूर्ति में कुछ स्वार्थ का बलिदान करना पड़ता है। हममे से कोई भी मनुष्य यह बलिदान करने के लिए उद्यत नही होता, और इसका फल यह है कि आज हमारा सबका जीवन दुखी और संतप्त है। समाज के अधिक भाग्यशाली व्यक्ति अपने बल तथा धन के गर्व में गरीबों की चिंता नही करते। वह अपने क्षेत्रिक स्वार्थो की पूर्ति के लिए समाज के विस्तृत हित का ध्यान नही रखते। यह प्रवृति शासकों में और अधिक देखने को मिलती है। वह शक्ति के मद में अंधे हो जाते हैं और यह नही चाहते कि उनके अधिकारों का उपयोग दूसरे व्यक्ति भी करे। यही कारण है कि स्वार्थांधता उन्हें सब व्यक्तियों को समान अधिकार देने से रोकती है और चूँकि हम स्वयं इस भावना के शिकार हैं, इसलिए दूसरों के साथ मिलकर, हम अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सबल आदोलन नही करते। अधिकारों की प्राप्ति का मूल इसलिए कर्तव्यों का पालन है। जिस समय समाज के सब व्यक्ति इस अकाट्य सत्य की यथार्थता को स्वीकार कर, उसके अनुसार आचरण करने लगेंगे, अधिकारो की प्राप्ति हमें स्वय ही हो जायगी।

§ ४ कर्तव्य

पिछले पृष्ठों मे अधिकारों का वर्णन करते समय हमने कर्तव्य शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है। इसलिए अब हम कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है तथा हमारे विभिन्न समुदायों एवं राज्य के प्रति क्या कर्तव्य हैं।

कर्तव्यों का अर्थ और उनके प्रकार

कर्तव्यों का अर्थ एक इस प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य अथवा सारे समाज के प्रति करने चाहिये। कर्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) **नैतिक** (२) **कानूनी**। "हम दूसरों के प्रति आदर-सत्कार का व्यवहार करें, उनकी मान-प्रतिष्ठा को हानि न पहुँचावें; अपने माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें" इत्यादि हमारे नैतिक कर्तव्य कहलाते हैं। नैतिक अधिकारों की भाँति प्रत्येक मनुष्य के नैतिक कर्तव्य भी होते हैं, और इसी प्रकार कानूनी अधिकारों की भाँति उनके कानूनी कर्तव्य। कानूनी कर्तव्यों में हम दूसरों के शरीर को चोट न पहुँचाने का कर्तव्य, चोरी न करने का कर्तव्य, दूसरों की मान-हानि न करने का कर्तव्य इत्यादि के उदाहरण दे सकते है। यदि मनुष्य अपने इन कर्तव्यों की पूर्ति न करें तो उन्हें राज्य द्वारा दंड दिया जा सकता है। नैतिक कर्तव्यों में राज्य-दंड की व्यवस्था नहीं हो सकती। कोई भी राज्य मनुष्य को सच बोलने, दूसरों का आदर करने तथा एक निर्मल जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य नही कर सकता। इस प्रकार का जीवन तो मनुष्य की आंतरिक नैतिकता की भावना पर ही निर्भर रहता है, और इसीलिए ऐसे कर्तव्य कानूनी कर्तव्य न कहलाकर मनुष्य के नैतिक कर्तव्य कहलाते है।

हमारे कर्तव्य किसी व्यक्ति-विशेष अथवा सारे समाज के प्रति हो सकते है। यदि हम किसी एक व्यक्ति से ५० रुपए उधार लेते है तो हमारा उस एक व्यक्ति के प्रति कर्तव्य है कि हम उसका ऋण चुका दें, दूसरी ओर हमारे सारे समाज के प्रति भी कर्तव्य होते हैं, हम सदाचारी जीवन व्यतीत करें, समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने में सहायता दें, राष्ट्रीय सरकार को सहयोग दें, इत्यादि हमारे सारे समाज के प्रति कर्तव्य हैं।

कर्त्तव्यों और अधिकारों का जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'कार्य-कारण' का सम्बन्ध है। अधिकार कर्तव्यों की दुनिया में ही कायम रह सकते हैं। नागरिकशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य समाज के प्रत्येक मनुष्य को उसके अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराना है। जो मनुष्य इतना भीरु है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए नहीं लड़ सकता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्यों को नहीं समझता तथा उनका पालन नहीं करता वह मनुष्य नागरिकता का अधिकारी नहीं बन सकता। नागरिकशास्त्र अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक जोर देता है और इसका कारण यह है कि यदि समाज में प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करता चला जाय तो अधिकारों की रक्षा स्वयं ही हो जाती है। हिन्दू धर्म में भी मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करने पर ही अधिक जोर दिया गया है। "धर्म का अर्थ कर्तव्य से है"। हिन्दू समाज में प्रत्येक अच्छे कार्य को धर्म का स्वरूप इसीलिए दिया गया है कि मनुष्य पाप के भय से अपने कर्तव्यों का उचित रूप मे पालन करे।

कर्तव्यों का क्षेत्र

कर्तव्यों का क्षेत्र भी उतना ही विशाल है जितना अधिकारों का। जिस समय से मनुष्य होश सँभालता है और उसमें भले-बुरे का ज्ञान होने लगता है, उसी समय से कर्तव्यों की माँग होने लगती है। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ कर्तव्यों की शृंखला बँधी हुई है। हम कभी सामाजिक ऋण से उऋण नहीं हो सकते, इसलिए जीवन-पर्यन्त हमें अपने कर्तव्यों की पूर्ति करते रहना चाहिए। कर्तव्य-पालन से हमें अधिकारों की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है, इसलिए अधिकारों की अपेक्षा नागरिकशास्त्र कर्तव्य-पालन पर ही अधिक बल देता है।

अधिकारों की भाँति कर्तव्यों की कोई पूर्ण सूची बनाना असंभव कार्य है। हमारे कर्तव्य विकासशील हैं और उनकी सीमा एवं क्षेत्र, सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ बढ़ती रहती है। फिर भी संक्षेप में हम मनुष्य के कुछ मुख्य कर्तव्यो का उल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) निज के प्रति कर्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति का जीवन राष्ट्र की निधि है। व्यक्तियों के जोड़ से समाज तथा राष्ट्र बनता है। यदि किसी राष्ट्र के नागरिक स्वस्थ, चरित्रवान्, संयमी, उद्योगी तथा स्वावलंबी हैं तो राष्ट्र आगे बढ़ता है और उसकी मान एवं प्रतिष्ठा संसार में फैलती है। इसके विपरीत यदि नागरिक रोगी, अस्वस्थ, काहिल, सुस्त, आलसी, परोपजीवी, चरित्रहीन तथा उच्छृंखल है तो देश पिछड़ा हुआ रहता है और उसे अन्य राष्ट्रों के अधीन रहना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति का इसलिए धर्म है कि वह सर्वप्रथम अपने स्वयं के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे, अपने शरीर को व्यायाम तथा शुद्ध एवं पौष्टिक पदार्थ खाकर स्वस्थ रक्खे, अपने जीवन में संयम तथा अनुशासन लाने का प्रयत्न करे, अपने जीवन को दूसरों के लिए उपयोगी बनाए, अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करे, श्रम का आदर करना सीखे, कभी दूसरों पर निर्भर न रहे, कठिन से कठिन परिश्रम करने के लिए उद्यत रहे, मितव्ययिता का मूल्य सीखे तथा अपनी अधिक से अधिक मानसिक एवं आत्मिक उन्नति करे।

(२) परिवार के प्रति कर्तव्य—व्यक्ति का जीवन, सुख, शान्ति एवं विकास बहुत कुछ परिवार पर ही निर्भर करता है। माता-पिता के अगाध प्रेम के कारण बच्चे बड़े होकर अपने पैरों पर आप चलना सीखते हैं। माता-पिता अपने बालकों को जिस निःस्वार्थ भाव से प्रेम करते हैं तथा उनके सुख एवं सुविधा के लिए जिस प्रकार कष्ट सहन करते हैं, उसका दूसरा जोड़ संसार में नहीं मिलता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि बड़ा होकर वह अपने माता-पिता, बाबा-दादी, चाचा-चाची, भाई-बहिन तथा दूसरे स्वजनों की सेवा-शुश्रूषा, आज्ञापालन तथा आदर-सत्कार करे। उसे चाहिए कि वृद्धावस्था में वह अपने माता-पिता को अकेला और अनाश्रित न छोड़ दे। पहिले अपनी आय का भाग परिवार के दूसरे व्यक्तियों

पर खर्च करे और फिर स्वयं अपनी इच्छाओं की पूर्ति की बात सोचे। उसे अपनी पत्नी तथा बच्चों की भी ठीक प्रकार से देख-भाल करनी चाहिए, उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए तथा उनके साथ बहुत शिष्ट एव अच्छा व्यवहार करना चाहिए।

(३) **ग्राम, नगर, जाति तथा समाज के प्रति कर्तव्य**—जब व्यक्ति वयस्क हो जाता है और परिवार के संरक्षण से हटकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो उसे अपने व्यक्तित्व के विकास में गाँव, नगर, शिक्षा-संस्थाओं, धार्मिक समुदायों तथा दूसरी सामाजिक संस्थाओं से बहुत सहायता मिलती है। वह अपने नगर या गाँव की अनेक संस्थाओं का सदस्य बनता है तथा उनमें दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर जनसाधारण की भलाई के लिए कार्य करना सीखता है। उसकी मित्रता का दायरा बढ़ जाता है और परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त वह अपने पड़ोसियों, सहपाठियों, ग्राम या नगरवासियों, जाति-भाइयों, संबंधियों, मित्रों तथा अपने साथ विभिन्न संस्थाओं में काम करनेवाले साथियों के ऊपर अपने दुःख और कष्ट के समय निर्भर रहने लगता है। उसकी उन्नति और विकास में यह सब संस्थाएँ पूर्ण योगदान देती हैं। मनुष्य के संबंधों का दायरा निरंतर बढ़ता ही रहता है। पहिले पड़ोस, फिर गाँव, फिर जाति, फिर प्रांत, फिर देश तथा अंत में समस्त मानव-समाज से वह संबंध जोड़ लेता है। यातायात तथा संचार की सुविधाओं के कारण आज सारा संसार सिकुड़कर एक छोटी-सी इकाई बन गया है। मनुष्य के सामाजिक संबंध भी इसलिए बहुत विस्तृत होते जा रहे हैं। समाज के सभी अंग, गाँव, नगर, पड़ोस, जाति, संघ इत्यादि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में भारी सहायता प्रदान करते हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह इन सब समुदायों के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करे। हमारा अपने पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य है कि उनके दुःख-दर्द में शरीक हों, उनके सुख और आनंद मे अपना कल्याण समझें, उनकी हर प्रकार से सहायता करने के लिए उद्यत रहे। हमारा अपने गाँव या नगर के प्रति कर्तव्य है कि उसके उत्थान के लिए सदा कार्य करते रहें, ग्राम-पंचायत या नगर-पालिकाओं के काम में सक्रिय भाग लें, शिक्षा-संस्थाओं, पुस्तकालय, सार्वजनिक स्थान, पार्क, आमोद-प्रमोद गृह इत्यादि सुविधाओं का निर्माण करें। हमारा अपनी जाति के प्रति कर्तव्य है कि व्यर्थ की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करें, अपने जाति-भाइयों से प्रेम करें तथा उनका समाज के दूसरे वर्गो के साथ संपर्क बढ़ाएँ। हमारा समस्त समाज के प्रति कर्तव्य है कि विभिन्न संस्थाओं एव सघों के कार्य में सक्रिय भाग लें, सामाजिक उत्थान की योजनाएँ बनाएँ तथा स्वार्थ-परता का त्याग कर सामाजिक हित को तुच्छ व्यक्तिगत हित के समक्ष हेय समझें।

देश तथा विश्व के प्रति कर्तव्य—परिवार, ग्राम, नगर, प्रांत तथा समस्त संघों से ऊपर हमारा देश है। यदि देश उन्नति करता है तो सारा समाज आगे बढ़ता है। अंग्रेजी में एक कहावत है 'Who lives if the country dies, and who dies if the country

lives' अर्थात् यदि देश मरता है तो कौन व्यक्ति जीवित रह सकता है और यदि देश जीवित है तो व्यक्ति कभी नहीं मर सकता। हमारे अपने देश के प्रति कर्तव्यों की इससे अधिक उचित व्याख्या नहीं हो सकती। इसी कर्तव्य-भावना के कारण व्यक्ति अपने राष्ट्र के उत्थान तथा उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उच्च से उच्च बलिदान करने को उद्यत हो जाते हैं। गुलाम देशों में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए, यही भावना असंख्य नागरिकों को जेल जाने, तरह-तरह की यातनाएँ सहने तथा अपने सीने पर गोली भी खाने के लिए प्रेरित करती है। स्वतन्त्र राष्ट्रों के नागरिक इसी भावना की प्रेरणा से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, फौज में भरती होकर, युद्ध के मोरचे पर शत्रु का मुकाबला करते हैं। वह सब ऐसा इसलिए करते हैं कि राष्ट्र की भलाई में ही वह अपना सुख तथा उसकी अवनति में ही अपना दुःख और क्लेश अनुभव करते हैं। राष्ट्रीय सरकार ही किसी देश मे शांति और व्यवस्था कायम रखती है, वही देश की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की योजनाएँ बनाती है, वही समाज के निर्बल, असहाय तथा अनाश्रित व्यक्तियों की रक्षा करती है तथा वही अपराधों की रोक-थाम कर न्याय का प्रबध करती है। संक्षेप मे सारे समाज का सुख उसी की कार्य-कुशलता पर निर्भर करता है। अपने राष्ट्र की इन सर्वोन्मुखी सेवाओं के बदले प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह देशहित के सम्मुख अपने दूसरे स्वार्थों को अत्यन्त हेय समझे तथा उसकी सेवा सुश्रूषा के लिए सदा तत्पर रहे।

परन्तु देश-सेवा तथा देश-भक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि व्यक्ति अपने राष्ट्र की झूठी शान या मान-मर्यादा के लिए दूसरे राष्ट्रो की स्वतन्त्रता हड़प करने में सरकार का साथ दे। यदि व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने देश की सेवा करे, तो राष्ट्र का भी एक द्विमुखी कर्तव्य है—एक यह कि वह अपने देशवासियो की उन्नति की योजनाएँ बनाये और दूसरा यह कि वह अन्य देश के नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। कर्तव्य तथा अधिकारों की दृढ़ शिला पर सामाजिक कल्याण की नीव तभी रक्खी जा सकती है जब विश्व में शांति हो तथा कोई देश दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन गुलाम न रक्खे। हमें चाहिए कि राष्ट्रहित से भी आगे बढ़ कर हम विश्वकल्याण की बातें सोचें और संसार के सभी मानवों को अपना सगा संबंधी भाई समझे।

राज्य के प्रति नागरिकों के कुछ विशेष कर्तव्य

हम ऊपर बता चुके है कि राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही देश में उन परिस्थितियो का निर्माण होता है जिनमें व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा कर सुख और आनंद के साथ अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। अपने राज्य तथा शासन के प्रति इसलिए हमारे कुछ विशेष कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों को पूरा करने पर ही हम अपने राज्य से यह आशा कर सकते है कि वह हमारी सर्वोन्मुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहेगा। ये कर्तव्य इस प्रकार है :—

(१) राजाज्ञाओं के पालन का कर्तव्य—मनुष्य का अपने राज्य के प्रति सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य राज्य के कानूनों का पालन करना है। कानून समाज के हित तथा समाज में शांति रखने के लिए बनाए जाते हैं। हृदय से राज्य का हित चाहनेवाले प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के अच्छे कानूनों को माने। आज्ञा-पालन की सीमा की विस्तृत विवेचना कानून के अध्याय में की जायगी। यहाँ केवल इतना बता देना काफी है कि आमतौर पर नागरिकों को राज्य के सभी कानून को मानना चाहिए।

(२) भक्ति (Allegiance)—राज्यभक्ति के आधार पर ही किसी देश में नागरिक और अनागरिक की पहचान की जाती है। राज्यभक्ति का अर्थ है कि किसी भी नागरिक को राज्य के प्रति विश्वासघाती न होना चाहिए। राज्यभक्ति में नागरिक के निम्नलिखित कर्तव्य शामिल हैं :—

(अ) फौज में नौकरी करने का कर्तव्य—वैसे तो प्रत्येक देश में बाहरी आक्रमणों से उसकी रक्षा के लिए एक फौज का प्रबन्ध होता है परन्तु कभी-कभी राष्ट्र पर इतना संकट आ जाता है कि मामूली फौज देश की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकती। ऐसे अवसर पर प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह फौज में भरती होकर अपने देश की रक्षा के लिए लड़ाई में भाग ले।

(ब) सरकारी अफसरों की सहायता—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है कि वह समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने में सरकार का हाथ बटाये। किसी भी देश में चोर और डकैत, लुटेरे और व्यभिचारी लोगों को पकड़ने का उस समय तक कोई समुचित प्रबन्ध नहीं हो सकता जब तक जनता पुलिस का इस काम में हाथ न बटाये। एक प्रजातन्त्रवादी शासन में जनता के प्रत्येक सदस्य का धर्म है कि वह अपने आपको सरकार का ही एक अंग समझे और उसके कार्य में हर प्रकार की सहायता दे।

(स) करों को चुकाना—कर राज्य का प्राण है। किसी भी देश की सरकार बिना धन के नहीं चलाई जा सकती। यह धन सरकार को केवल करों के रूप में ही मिलता है। प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह इन करों की अदायगी को अपना परम धर्म समझे। करों के चुकाने में किसी प्रकार की बेईमानी नहीं करनी चाहिए। ऐसी बेईमानी से मनुष्य का नैतिक पतन होता है और सरकार को अच्छे प्रकार से शासन-कार्य चलाने के लिए समुचित धन प्राप्त नहीं होता।

उपरोक्त सभी कर्तव्यों की पूर्ति के लिए राज्य नागरिकों के विरुद्ध बल-प्रयोग कर सकता है। यदि नागरिक कानूनों का पालन न करें तो न्यायालय द्वारा उन्हें दंड दिया जा सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय संकट के समय सरकार फौजी भरती को अनिवार्य घोषित कर सकती है, यदि कोई नागरिक अपराधों की छान-बीन में पुलिस की सहायता न करे तो

उन्हे ऐसा करने के लिए कानून द्वारा विवश किया जा सकता है। करों की वसूली मे भी बल का प्रयोग किया जाता है।

परन्तु नागरिकों के राज्य के प्रति कुछ दूसरे कर्तव्य भी होते है जो कानूनी नही वरन् नैतिक होते है। इन कर्तव्यों की पूर्ति के लिए नागरिको को विवश नही किया जा सकता, परन्तु श्रेष्ठ तथा अच्छे नागरिक उन्हें स्वतः ही. अतर्प्रेरणा के कारण, पूर्ण करते है।

(३) मताधिकार का उचित उपयोग—इन कर्तव्यों में मताधिकार का उचित प्रयोग सबसे महत्वपूर्ण है। मत राष्ट्र या नागरिक को सौंपा हुआ एक पवित्र विश्वास है। इसलिये उसका उपयोग वड़ी सावधानी, ईमानदारी और विचारपूर्वक करना चाहिये। किसी विशेष उम्मीदवार के पक्ष मे मत देते समय जातीय अथवा व्यक्तिगत हित की भावना का ध्यान नही रखना चाहिये। इस कर्तव्य का पालन करते समय हमे समाज के हित को ही सबसे प्रमुख समझना चाहिए।

नागरिकों के राज्य के प्रति अन्य नैतिक कर्तव्यों मे हम सदाचारी, अनुशासनपूर्ण, संयमी, परोपकारी तथा प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कर्तव्यो का उल्लेख कर सकते है। नागरिकों के चरित्र-बल पर ही राज्य की शक्ति तथा मान-मर्यादा निर्भर करती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने चरित्र-गठन द्वारा राज्य की मर्यादा को संसार में बढ़ाए।

व्यक्ति का यह भी धर्म है कि वह सरकारी नौकरी द्वारा भी राज्य की सेवा करने के लिए उद्यत रहे। यदि सरकार किसी व्यक्ति को कोई विशेष कार्य करने के लिए उपयुक्त समझती है तो उसका धर्म है कि वह उस कार्य को सँभालने मे आनाकानी न करे।

§ ५ भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकार

१५ अगस्त सन् १९४७ को सदियों की गुलामी के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। परतन्त्रता की घोर निशा को चीरकर भारत ने एक बार फिर स्वतन्त्रता के स्वर्णिम-प्रभात मे प्रवेश किया। भारत के नागरिकों को परतन्त्रता के काल मे किसी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नही थे। भारतीय जनता के स्वतन्त्रता-सग्राम का दमन करने के लिए ब्रिटिश सत्ता ने तरह-तरह के कानून बना रखे थे। जनता को किसी प्रकार की वाक्-स्वतन्त्रता, सार्वजनिक सभा करने की आजादी या स्वतन्त्र रूप से पत्र प्रकाशित करने का अधिकार नही था। किसी भी मनुष्य को बिना मुकदमा चलाये या उस पर बिना किसी प्रकार का अभियोग सिद्ध हुए, जेल मे डाला जा सकता था। नागरिकों के किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने पर रोक लगाई जा सकती थी, उनको धारा १४४ के अन्तर्गत भाषण देने से रोका जा सकता था। यदि ब्रिटिश शासन मे किसी को अधिकार प्राप्त थे तो वह केवल जमीदारों, राजाओं या बड़े-बड़े पूँजीपतियों को थे जिनके कारण

वे स्वच्छन्द रूप से जनता का निर्भीकता तथा निर्दयतापूर्वक शोषण कर सकते थे। भारत में गरीब तथा मूक जनता को किसी भी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

परन्तु, आज भारत स्वतन्त्र है, पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त है। भारत के नए विधान में नागरिकों के अनेक मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। इनमें कहा गया है कि भारत का नया विधान स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व भाव पर अवलम्बित है। भारत के प्रत्येक नागरिक को भाषण, सार्वजनिक सभा, संगठन, चलने-फिरने, पत्र प्रकाशित करने और किसी भी प्रकार का व्यापार करने की स्वतन्त्रता है। किसी भी मनुष्य को उसके धर्म, जाति या सम्प्रदाय के कारण अधिकारों से वंचित न किया जायगा। स्त्री और हरिजनों को बराबर के नागरिक अधिकार प्राप्त होंगे। अस्पृश्यता का अंत कर दिया जायगा। स्वतन्त्र भारत में किसी भी नागरिक को राज्य की ओर से उपाधि नहीं दी जायगी। संपत्ति खरीदने और बेचने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होगा। कोई भी मनुष्य किसी भी धर्म में विश्वास रख सकेगा। अल्पसंख्यकों के धर्म और संस्कृति की रक्षा की जायगी। भारतीय समाज से बेगार और जबरदस्ती काम लेने की प्रथा का अंत कर दिया जायगा। नागरिको के इन अधिकारों की रक्षा देश की सबसे बड़ी अदालत (Supreme Court) के द्वारा की जायगी।

परीक्षा-प्रश्न

१. अधिकारों की व्याख्या कीजिए और बतलाइए कि आपकी राय के मुताबिक राज्य को कौन से अधिकार प्रदान करना चाहिए। (यू० पी०, १९३२)

२. आप 'मनुष्य के अधिकार' शब्द से क्या समझते हैं? वे किस प्रकार स्वीकृत किये जाते हैं और नागरिक के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं। (यू० पी०, १९३७)

३. "अधिकार कर्तव्यों के जगत् में उत्पन्न होते हैं।' इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३७, १९४३)

४. 'अधिकार' की व्याख्या कीजिए। एक नागरिक के नागरिक अधिकारों का वर्णन कीजिए। (कलकत्ता, १९३२, १९४१)

५. 'अधिकार और कर्तव्य' शब्द को समझाइए। प्राकृतिक अधिकार क्या हैं? (यू० पी०, १९३५, १९४६)

६. नागरिकों के राज्य के प्रति कौन से कर्तव्य हैं? किस हद तक राज्य उन कर्तव्यों का पालन करने के लिए मजबूर कर सकता है? (यू० पी०, १९३९, १९५०)

७. 'राजनीतिक अधिकार' शब्द की व्याख्या कीजिये। आपके ख्याल से मुख्य राजनीतिक अधिकार क्या हैं? (यू० पी०, १९३६, १९५३)

८. आधुनिक राज्य के नागरिकों के अधिक आवश्यक अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४२)

ही किया जाता है। साधारणतया जनता राज्य की सेवाओं के आधार पर उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। जनता का यह विश्वास होता है कि राज्य की आज्ञा पालन करने से उसकी सबसे अधिक भलाई हो सकती है। जब एक मनुष्य सड़क के कायदों को मानकर सड़क के बाएँ ओर चलता है तो वह ऐसा इसलिए नही करता कि उसके ऐसा न करने से उस पर मुकदमा चलाया जायगा या उसे सज़ा मिलेगी वरन् इसलिए कि ऐसा करने में वह अपनी तथा समाज के दूसरे आदमियों की भलाई देखता है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे आदमी का खून इस डर से नही करता कि ऐसा करने से उसे कानूनन प्राण-दंड की सज़ा मिलेगी वरन् इसलिए कि वह समझता है उसकी भलाई दूसरों के साथ सहयोग करने में है, उनके विनाश करने में नही।

(२) **केवल शक्ति से राज्य कायम नहीं रह सकता**—इसके अतिरिक्त यह मत इस बात को भूल जाता है कि केवल शक्ति के सहारे राज्य कभी कायम नही रह सकता। शक्ति केवल कुछ समय तक काम दे सकती है; परन्तु ज्यों ही प्रजा को इस बात का बोध होता है कि उसके पास राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति है, त्योही वह राज्य को उलट देती है। केवल शक्ति के आधार पर आश्रित राज्य एक अशक्त वृक्ष के समान है जो असन्तोष की मामूली-सी आँधी से समूल नष्ट हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक बात का और विचार कर लेना आवश्यक है और वह यह कि राज्य जिस शक्ति का प्रयोग करता है वह बिलकुल शारीरिक या यांत्रिक शक्ति नही है। वह सामाजिक शक्ति है। राज्य उसी दशा में अपनी शक्ति का प्रयोग करता है जब कि उसे यह प्रतीत हो कि अधिकांश जनता उसके साथ है। इसलिए राज्य की आज्ञा-पालन के सम्बन्ध मे शक्ति सिद्धान्त भ्रममूलक है।

समझौता सिद्धान्त (Contract School)—राजनीतिक कर्तव्यो के सम्बन्ध में एक दूसरा मत भी है जिसे इक़रार मत या समझौते का सिद्धान्त कहते है। इस मत के अनुसार हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते है कि हम या हमारे पुरखो ने किसी समय व्यक्त या अव्यक्त रूप से राज्य की आज्ञा पालन करने का इकरार किया था। इस मत की यह धारणा बिलकुल गलत है। इकरारनामे के कारण राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई और न हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा के कारण उसके सदस्य बने है। यह सिद्धान्त पूर्णतः अमान्य है। हम इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में करेंगे।

दैवी सिद्धान्त (Divine Theory)—कुछ मनुष्य राज्य के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करते है। उनके विचार से लोग राज्य को इसलिए मानते है कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। यह सिद्धान्त आज से बहुत पहले अमान्य ठहराया जा चुका है। इसमें राजनीतिक कर्तव्यों का कोई भी सच्चा आधार नही है।

स्वभाव, उपयोगिता, रीति-रिवाज इत्यादि राजनीतिक आज्ञा-पालन के आधार है—कुछ दूसरे राजनीतिक दार्शनिक स्वभाव, रीति-रिवाज, आलस्य, वैराग्य, तथा

उपयोगिता के विचार इत्यादि से राज्य के नियमों के पालन को उचित बतलाते हैं। इन विद्वानों के विचारानुसार कुछ मनुष्य केवल स्वभाव अथवा आदत के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं, कुछ दूसरे, दूसरे मनुष्यों की देखादेखी। ये सब मत भी मिथ्या हैं क्योंकि यह हमें राजनीतिक कर्तव्यों के सच्चे आधार का ज्ञान नहीं कराते।

राजनीतिक कर्तव्य का सच्चा स्वभाव

आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory)—हमारे विचार से राज्य की आज्ञा पालन का सच्चा आधार, जैसा कि आदर्शवादी दार्शनिकों ने बतलाया है मानव व्यक्तित्व के स्वभाव में सन्निहित है। मनुष्य उस समय तक अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता जब तक वह किसी व्यवस्थित समाज में नहीं रहता। हम ऊपर बतला आये हैं कि राज्य सभ्यता और नैतिक गुणों का रक्षक है। राज्य के अन्दर रहकर ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। राज्य की आज्ञापालन में ही हम अपनी सच्ची भलाई मानते हैं। राज्य को हममे आज्ञा-पालन कराने का एक नैतिक अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार उसके नैतिक स्वभाव और नैतिक सेवा पर अवलम्बित है। राज्य हमारा शत्रु नहीं वरन् सबसे बड़ा मित्र है। वह हमारी इच्छाओं का प्रतिबिम्ब तथा प्रतिनिधि है। वह मनुष्य के उच्चतम स्वरूप की प्रतिमा है। राज्य हमारा है और हम राज्य के। राज्य की आज्ञा पालन करने में हम किसी दूसरे की आज्ञा पालन नहीं वरन् स्वयं की ही आज्ञा का पालन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक कर्तव्यों का सच्चा आधार न शक्ति है न समझौता, न स्वभाव है न रीति-रिवाज, न आलस्य है और न उपयोगिता का विचार। वह केवल हमारी नैतिक भावना है।

परन्तु यहाँ हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि सभी लोग उपर्युक्त मत की यथार्थता को नहीं समझते। समाज में ऐसे बहुत से मनुष्य होते हैं जो केवल सज़ा के भय के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो स्वभाव, आलस्य, रीति-रिवाज या राज्य की उपयोगिता के भाव से राज्य की आज्ञा पालन करते हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त तो केवल यह प्रदर्शित करता है कि राज्य की आज्ञा पालन का नैतिक आधार क्या है। न आदर्शवादी सिद्धान्त का यह ही अर्थ समझना चाहिये कि संसार का प्रत्येक राज्य नैतिकता के आधार पर अवलम्बित है और राज्य के प्रत्येक सदस्य को अपने राज्य की आज्ञा माननी चाहिये। संसार में ऐसे राज्य भी हैं जो जनता के शोषण और दमन को ही अपना मुख्य कर्तव्य बना लेते हैं। गुलाम देशों में यह बात और भी अधिक चरितार्थ होती है। ऐसे देशों की जनता का यह धर्म नहीं कि वह अपने राज्य की प्रत्येक उचित और अनुचित आज्ञा का पालन करे। राज्य की प्रत्येक आज्ञा का पालन केवल एक आदर्श राम-राज्य में ही धर्म हो सकता है, एक व्यभिचारी, दोषपूर्ण राज्य में नहीं।

राजनीतिक आज्ञापालन की सीमा

कुछ लोगो का कहना है कि नागरिको को अपने राज्य की आज्ञा की अवहेलना कभी नही करनी चाहिए, क्योकि उनके विचारानुसार एक दोषपूर्ण राज्य राज्यविहीनता से कही अच्छा है। अराजकता की दशा मे न केवल मनुष्य को काम करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती वरन् उसका जीवन भी सुरक्षित नही रहता। उसे सदा आकस्मिक मृत्यु का भय बना रहता है। खराब से खराब शासन भी नागरिकों के जीवनाधिकार की रक्षा करता है। यह दूसरी बात है कि वह मनुष्यों की दूसरे प्रकार से सेवा न करता हो। जीवन की रक्षा अराजकता की दशा से कही अधिक अच्छी है। राज्य के विरुद्ध किसी भी प्रकार के विद्रोह से अराजकता फैल जाती है और फिर जनता के सभी अधिकारों का लोप हो जाता है। इसलिए इस मत के माननेवाले दार्शनिकों का कथन है कि नागरिको को विद्रोहात्मक परिस्थितियो मे रहते हुए भी राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

सही दृष्टिकोण—परन्तु हमारी राय मे यह मत भ्रमोत्पादक है। वास्तव मे उपर्युक्त मत के प्रवर्तक राज्य और शासन के अन्तर को नही समझते। विद्रोह हमेशा शासन के विरुद्ध होता है, राज्य के विरुद्ध नही। शासन के प्रति विद्रोह करने से हम समूचे सामाजिक जीवन को सकट मे नही डालते। हम सामाजिक जीवन के केवल एक भाग को चुनौती देते है जो मानव-व्यक्तित्व के प्रति अत्याचार करता है। यदि हम ऐसा न करें और अत्याचार को बराबर सहन करते रहें तो हम उस दशा में मनुष्य ही नही रहेंगे। हमारा अपने और पड़ोसियो के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। यदि एक शासन-प्रणाली हमारे उच्च विकास के मार्ग मे रोड़े अटकाती है तो उसे उलट देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

राज्य की किस प्रकार अवहेलना की जानी चाहिये

परन्तु इसका आशय यह कदापि नही कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त है। सरकार के प्रति बगावत करने से देश में अराजकता फैलने का डर रहता है, इसलिए सरकार के कानूनो की अवहेलना केवल कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही करनी चाहिए।

सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि जिस अधिकार को आज्ञा-भङ्ग करने का आधार-स्तम्भ बनाया जा रहा है वह समस्त समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है अथवा नही। एक या दो या समाज के कुछ थोड़े से व्यक्तियो के किसी बात को अधिकार मान लेने से तथा समाज के दूसरे व्यक्तियों के उस अधिकार के प्रति उदासीन रहने से नागरिकों को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता।

दूसरी बात यह है कि आज्ञा उसी दशा में भंग की जानी चाहिए जब शासन को बदलने के लिए कानूनी और वैधानिक साधन वर्तमान न हों। यदि ऐसे साधन मौजूद हैं तो नागरिको को चाहिए कि वह जनमत को अपने साथ करके आनेवाले चुनाव में सरकार को बदलने का प्रयत्न करें। शासन के कानूनों को न मानना या अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह करना किसी भी प्रबल बुराई को मिटाने के लिए आखिरी उपाय समझना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. समाज और राज्य की भिन्नता बतलाइये और संक्षेप में इन दोनों के सम्बन्ध का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०)

२. क्या शासन के बिना सामाजिक जीवन संभव है ? शासन के अस्तित्व की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९३१)

३. राष्ट्र, समाज, राज्य और शासन मे क्या भिन्नता है, समझाइए। (यू० पी०, १९३३, १९३६, १९४०, १९४४)

४. मनुष्य राज्य की आज्ञा क्यों पालन करते हैं ? क्या ऐसी भी कोई परिस्थिति है जिसमें नागरिकों को राज्य की आज्ञा भंग करने का अधिकार रहता है ? (यू० पी०, १९३३, १९४३)

५. सामाजिक संस्थाओं के नियम क्या हैं ? राज्य के नियम उनसे किस प्रकार भिन्न होते हैं ? (यू० पी०, १९३५)

६. सार्वभौमिक राज्य के आवश्यक तत्त्व क्या हैं ? क्या आप निम्नलिखित राज्यों को सार्वभौमिक राज्य समझते हैं ? अपने उत्तर को सप्रमाण समझाइये—हिन्दुस्तान, काश्मीर, न्यूजीलैण्ड, म्युनिसिपल बोर्ड, अन्तर्राष्ट्रीय संघ, स्पेन। (यू० पी०, १९३९)

७. 'राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है।' समझाइये। (यू० पी०, १९३२, १९४७)

८. राज्य शब्द का अर्थ समझाइये। उसके आवश्यक गुण क्या हैं ? दूसरी संस्थाओं में और उसमें क्या भेद है ? (यू० पी०, १९५१)

९. राज्य का अर्थ समझाइये और बताइये कि राज्य और सरकार में क्या अंतर है ? राज्य का समाज, शासन और देश से पार्थक्य स्पष्ट करो। (यू० पी०, १९४८, १९५३)

१०. नागरिक का अपने धार्मिक समाज तथा राज्य के प्रति सम्बन्ध में जो अंतर है वह समझाने का प्रयत्न कीजिये।

अध्याय १०

राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त हैं। इन सब सिद्धान्तों में थोड़े-बहुत सत्य के तत्व हैं, परन्तु केवल एक सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है। इसलिए हम पहिले उन सिद्धान्तों पर विचार करेंगे जो केवल आंशिक रूप में सत्य हैं। इसके पश्चात् हम उस सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे जिसमें हमारे विचार से सबसे अधिक सत्य के तत्व पाये जाते हैं।

जिन सिद्धान्तों में केवल आंशिक सत्यता है वे निम्नलिखित हैं :—

(१) दैवी सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

(२) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)

(१) दैवी सिद्धान्त

वह सिद्धान्त जो राज्य की उत्पत्ति को दैवी इच्छा पर निर्धारित करता है, सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। प्रत्येक प्राचीन समाज इस सिद्धान्त में विश्वास करता था। भारत, प्राचीन मिस्र, चीन, यूनान तथा अन्य देशों में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है "मनुष्यों में मैं राजा हूँ।" ईसाई धर्म ने भी इस मत को मान्यता दी। इस मत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा के अनुसार हुई। ईश्वर ने कुछ लोगों को राज्य करने के लिए और कुछ को आज्ञापालन करने के लिए पैदा किया। उसने आज्ञापालन के सिद्धान्तों का भी निश्चय किया। राज्य के नियमों की अवज्ञा ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बगावत है और इसलिए भारी पाप है। राज्य के नागरिकों को प्रत्येक देश में राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह अपने अधिकार ईश्वर से प्राप्त करता है और इसलिए केवल ईश्वर के ही सम्मुख वह अपने कर्तव्यों के लिए उत्तरदायी है। प्रजा राजा से उसके कर्तव्य के औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं कर सकती। इसके विपरीत राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते जनता से अपनी हर प्रकार की आज्ञाओं का पालन करा सकता है। राजा ही यह निश्चय कर सकता है कि उसकी प्रजा के लिए क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं। राजा का अपनी प्रजा पर उसी प्रकार का अधिकार है जैसा कि एक पिता का अपनी सन्तान पर होता है। राजा पवित्र है, इसलिए यदि प्रजा उसके शरीर पर आक्रमण करती है तो वह महान् अपराध तथा पाप करती है।

मत की आलोचना—हमारी राय में राज्य का दैवी सिद्धान्त अनुचित धारणाओं पर आधारित है और इसलिए वह भ्रमोत्पादक है। कुछ लोगों का तो ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास नही और इसलिए वह इस सिद्धान्त को नही मानते। इसके अतिरिक्त अन्यान्य लोग निम्नलिखित आधार पर इसकी आलोचना करते हैं :—

(१) यह सिद्धान्त मनुष्य के उन आवश्यक कार्यो को भूल जाता है जिनके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण और विकास होता है। इतिहास से पता चलता है कि मनुष्य ने शासनो को बनाया और मिटाया है। हम आज देखते हैं कि मनुष्य जान-बूझकर नियम बनाता है और उन संस्थाओ का निर्माण करता है जिनमें उसे जीवन व्यतीत करना है। इसलिए ऐसा समझना उपयुक्त नही कि राज्य दैवी इच्छा से उत्पन्न हुआ है।

(२) इस सिद्धान्त से अपरिवर्तनशीलता का प्रचार होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान अवस्था को दैवी इच्छा की स्वीकृति देकर पवित्र बना देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान संस्थाओ को बदलने का तात्पर्य यह लगाया जाता है कि मनुष्य ईश्वर की वृद्धि में दोष निकाल रहा है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मानव-व्यक्तित्व के शक्तिशाली स्वभाव के विपरीत है।

(३) यह सिद्धान्त स्वेच्छाचार तथा अत्याचार का मार्ग खोल देता है। राजाओं को मनमाने ढङ्ग पर शासन करने का अधिकार इसी सिद्धान्त के आधार पर दिया जाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मनुष्य की भलाई की दृष्टि से अत्यन्त भयानक है।

(४) यह सिद्धान्त केवल राजा की व्यवस्था का ही वर्णन करता है, परन्तु प्रजातन्त्र शासन की उत्पत्ति को नही समझा सकता। इस प्रकार यह राजनीतिक सस्थाओं के आंशिक अध्ययन पर अवलबित है।

सिद्धान्त का औचित्य—परन्तु ऊपर की बातों से हमारा यह तात्पर्य कदापि नही कि इस सिद्धान्त में सत्य का कोई भी अंश नही है या यह सिद्धान्त मानव इतिहास में उपयोगी सिद्ध नही हुआ है।

इस सिद्धान्त का यह कथन बिल्कुल उचित जान पड़ता है कि प्रत्येक समाज के कुछ लोगो मे शासन करने की और कुछ लोगों मे आज्ञापालन करने की स्वाभाविक मनोवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में इस मनोवृत्ति को ईश्वर प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त राज्य के नैतिक स्वभाव पर जोर देता है। यह कथन भी उचित जान पड़ता है कि राज्य की उत्पत्ति उस नैतिक और न्यायपूर्ण चैतन्यता के कारण हुई जो मानव-जीवन पर शासन करता है। यह सिद्धान्त समाज के बाल्यकाल में बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ, इसने शासन के अधिकारों को दैवी इच्छा की स्वीकृति देकर मनुष्यों मे आज्ञापालन और सहयोग की आदत डाली। परन्तु वर्तमान काल में यह सिद्धान्त केवल

अनुन्नत समाजों के लिए ही उपयुक्त है जिनमें राजनीतिक चैतन्यता बहुत कम पाई जाती है। सभ्य समाजों के लिए यह सिद्धान्त बिल्कुल व्यर्थ है।

(२) शक्ति-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई जब किसी बलवान् पुरुष या पुरुषों के समूह ने निर्बल मनुष्यों के विरुद्ध युद्ध करके उन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। युद्ध के पश्चात् विजेता शासक बन गये और विजित शासित अथवा प्रजा। आरम्भ में पृथ्वी पर मनुष्यों के बहुत से गिरोह भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहते थे। यह गिरोह खाने-पीने की चीजों की तलाश में इधर-उधर घूमते रहते थे। इन गिरोहों मे जो शक्तिशाली होता था वह निर्बल गिरोहो पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई।

युद्ध का कार्य पुराने जमाने मे ही नहीं चलता था, आज भी यह क्रम बराबर जारी है। एक राज्य दूसरे राज्य पर अपनी सैन्य-शक्ति के आधार पर कब्जा करने की सदा बाट जोहता रहता है। १९१४ तथा १९३९ के महायुद्ध शक्ति के आधार पर ही हुए। शक्ति के ह्रास से देश अपनी राजसत्ता खो बैठता है। जिस राज्य की शक्ति अधिक है वह दूसरों पर शासन कर सकता है। शक्ति के अभाव से रोम साम्राज्य खंडित हुआ, नैपोलियन की हार हुई तथा हिटलर का अन्त हुआ। शक्ति के कारण ही आज अमेरिका और रूस संसार मे सबसे अधिक सम्पन्न राष्ट्र माने जाते है। इस प्रकार राज्य शक्ति के आधार पर ही निर्भर रहता है।

मत की आलोचना—दैवी सिद्धान्त की भाँति शक्ति-सिद्धान्त मे आंशिक सत्यता है। यह सच है कि किसी राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति का उपयोग आवश्यक है। जनता के अधिकारो की रक्षा के लिए कभी-कभी राज्य सैन्य तथा पुलिस शक्ति का प्रयोग करता है, परन्तु अधिकतर राज्य केवल अपनी नैतिक तथा सामाजिक शक्ति के आधार पर ही अपनी आज्ञाओ का पालन कराते है। राज्य के अधिकार सहयोग और सेवा से पैदा होते हैं, पुलिस और फौज के बल मे नही। इसके अतिरिक्त केवल शक्ति के सहारे कोई भी राज्य अधिक देर तक कायम नही रह सकता। शक्ति के अनुचित प्रयोग से जनता मे विद्रोह की आग भड़क उठती है। ऐसे देश मे सदा गृह-युद्ध की अवस्था बनी रहती है, परन्तु हम यह दशा अधिकाश राज्यो मे नही पाते। वास्तविकता यह है कि राज्य की शक्ति उस भलाई पर निर्भर रहती है जिसे राज्य समूचे समाज के लिए करता है। इस प्रकार राज्य केवल शक्ति से ही उत्पन्न नही होता।

(३) सामाजिक समझौता या संविदा सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक या राजनीतिक प्राणी नहीं है। आदिम अवस्था मे वह जंगल में अकेला रहता था। उस समय न राज्य

था, न समाज। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना मालिक था और अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र था। कोई मनुष्य किसी दूसरे पर अपनी इच्छा को नही लाद सकता था। इस काल में न कोई कानून था और न सामाजिक बंधन मनुष्यों की इस आदि अवस्था को सामाजिक समझौते के प्रवर्तकों ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का नाम दिया है। बहुत काल तक सब मनुष्य इसी अवस्था में रहे। यह अवस्था आरम्भ में अच्छी थी या बुरी, इसके सम्बन्ध में, इस मत के दार्शनिकों में मतभेद है; परन्तु वह सब इस बात को मानते है कि कुछ समय पश्चात मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था असह्य हो गई और फिर सब मनुष्यों ने मिलकर यह निश्चय किया कि प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करके उन्हें एक सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन बनाना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। राजनीतिक सगठन बनने समय क्या-क्या शर्त तय की गई, इस विषय में भी इस मत के प्रवर्तकों में मतभेद है। कुछ लेखकों के विचार से मनुष्यों ने अपने अधिकारों को पूर्णतया त्याग दिया; परन्तु कुछ दूसरे लेखकों के विचार से परित्याग केवल आंशिक रूप में हुआ। इकरारनामे की विस्तृत शर्त चाहे जो कुछ भी रही हो परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य राज्य की व्यवस्था करना था। फलस्वरूप राज्य का प्रादुर्भाव इस उद्देश्य से हुआ कि वह मानव-जीवन को व्यवस्थित करे और उससे प्राकृतिक दशा (State of Nature) के दोष अलग कर दे।

दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त राज्य को मानव-समझौते की उपज समझता है, मानव-स्वभाव की नही। मनुष्य राज्य में इसलिए रहता है कि उसने ऐसा करने के लिए वचन दिया है। वह राज्य मे इसलिए नही रहता कि उसका स्वभाव उसे वहाँ रहने के लिए विवश करता है। यह सिद्धान्त न केवल राज्य के विकास को समझाता है वरन् उस सम्बन्ध को भी समझाता है जो शासक और शासित के बीच रहना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से समझौते का सिद्धान्त कोई नई चीज नही है, अरस्तू (Aristotle) से पहिले सूफी लोग इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। सुकरात (Socrates) भी इस सिद्धान्त को मानता था। मध्यकाल में भी इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा, परन्तु १७वी तथा १८वी शताब्दी में हाब्स, लॉक तथा रूसो ने इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक महत्त्व प्रदान किया।

इस सिद्धान्त की आलोचना करने से पहले हम यह आवश्यक समझते है कि इसके तीन मुख्य प्रवर्तक अर्थात् हाब्स, लॉक तथा रूसो के मतो की सक्षेप में विवेचना करें :—

हॉब्स—(Hobbes)—हॉब्स ने १७वी शताब्दी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथान' (Laviathan) में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह चार्ल्स प्रथम के जमाने में पैदा हुआ था। उसने पार्लियामेंट तथा चार्ल्स प्रथम का युद्ध और उसके भयंकर परिणाम देखे थे। वह प्रकृति से डरपोक था और लडाई-झगड़ों से घृणा करता था। फलस्वरूप हॉब्स का मत इसी वातावरण से प्रभावित हुआ है।

हॉब्स का कहना है कि मनुष्य प्रकृति से जंगली, असभ्य, झगड़ालू तथा स्वार्थी है। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में इसलिए मनुष्यों मे बराबर झगड़े होते रहते थे, उनमे निरन्तर युद्ध होता रहता था। इस वातावरण मे न शान्ति थी, न सभ्यता, न सम्पत्ति की रक्षा और न कला-कौशल की उन्नति ही। प्रत्येक मनुष्य को हर समय अपनी जान बचाने की ही फिक्र रहती थी। हर मनुष्य दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका स्वयं का जीवन जगली था। उसके पास न घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि। सभी प्रकार से उसका जीवन दुखी तथा घृणित था। उस काल में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम का साम्राज्य था। किसी भी मनुष्य की जान सुरक्षित नही थी। इन सब विपत्तियों से तग आकर और जीवन-रक्षा तथा शान्ति के निमित्त एक दिन सब मनुष्यो ने निश्चय किया कि वह एक व्यक्ति (अथवा सभा) को अपना राजा बनायेगे और उसके हाथ मे अपने सभी अधिकार दे डालेगे। बस यही हुआ। सब ने मिलकर अपना एक राजा चुना और उसकी हर प्रकार की आज्ञा को मानने का वचन दिया। राजा से किसी प्रकार की प्रतिज्ञा या शर्त नही करवाई गई। इस प्रकार राजा सर्वशक्तिमान् हो गया। प्रजा को उसके विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया। हॉब्स, इस प्रकार, समझौते के सिद्धान्त के आधार पर निरकुश शासन-प्रणाली का समर्थन करता है।

लॉक (Locke)—हॉब्स के बाद लॉक का जन्म इंगलैण्ड में उस समय मे हुआ जब वहाँ का शासन स्टुअर्ट वंश से निकलकर विलियम और मेरी के हाथ मे चला गया था। राजा के अत्याचार से जनता ऊब चुकी थी और प्रजातन्त्र शासन की स्थापना चाहती थी। लॉक ने इसी वातावरण से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। उसने कहा, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, उसे खाने-पीने की काफी सामग्री प्राप्त थी, प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की इज्जत करता था। सब मनुष्य बराबर थे। वे एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखते थे। 'दूसरों के साथ भी वैसा ही करो जैसा तुम अपने साथ चाहते हो' (Do unto others as you want others to do unto you) सब मनुष्य प्रकृति के इस नियम का पालन करते थे। जीवन शान्तिपूर्ण तथा संघर्षरहित था।

परन्तु लॉक के कथनानुसार, प्रकृति की यह दशा अधिक समय तक न चल सकी। इसके दो कारण थे। प्रथम यह कि यदि दो मनुष्यों मे उनके अधिकार तथा कर्तव्यों के विषय में झगड़ा होता था, तो उसका यह निश्चय करनेवाला कोई नहीं था कि किस मनुष्य का अधिकार उचित है और किसका अनुचित। दूसरे, प्राकृतिक समाज में कोई न्यायालय नही था जिससे अपराधियों को दण्ड दिया जा सकता।

इन्ही दो बातों से तंग आकर सब मनुष्यों ने निश्चय किया कि वह एक सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन बनायेंगे। परन्तु लॉक के कथनानुसार, इस सगठन को बनाते

समय जनता ने केवल समाज में शान्ति रखने तथा न्याय करने का काम ही राजा (अथवा सभा) को सौंपा। जनता के बाकी अधिकार व्यक्तियों के अपने ही हाथ में रहे। राजा को आदेश दिया गया कि वह कुछ विशेष कार्यों की पूर्ति करे, उसको यह भी बतला दिया गया कि यदि वह अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं करेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जायगा। लॉक ने इस प्रकार वैधानिक प्रजातन्त्र (Constitutional or Limited Monarchy) की प्रथा का प्रतिपादन किया।

रूसो (Rousseau)—रूसो का जन्म फ्रान्स में राज्य-क्रान्ति के समय से कुछ पहले हुआ था। उसके काल में फ्रान्स की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वहाँ के राजा का जीवन घृणित था। थोड़े से अमीर जनता का शोषण करते थे। प्रजा दमनकारी कानूनों से तंग आ चुकी थी, ऐसे समय में सन् १७६२ ई० में रूसो ने सामाजिक इकरार (Social Contract) नामक एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के द्वारा उसने दुनिया में प्रजातन्त्रवादी शासन का प्रतिपादन किया।

रूसो का कहना है कि मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) में स्वर्गीय जीवन व्यतीत करता था। वह पक्षी के समान स्वतन्त्र था, वह जहाँ चाहता घूम सकता था तथा जहाँ चाहता रह सकता था। उसका जीवन स्वस्थ और प्रसन्न था। वह सामाजिक बन्धनों से मुक्त था। परन्तु यह आदर्श अवस्था और अधिकार अधिक समय तक नहीं टिक सका। शीघ्र ही जनसंख्या बढ़ने के कारण जीविका के नये साधनों, विशेषकर खेती का आविष्कार हुआ। खेती के आविष्कार से लोगों ने भूमि पर अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों ने सबसे अच्छी व अधिक भूमि ले ली। औरों को खराब भूमि मिली या दूसरों से थोड़ी। इस प्रकार अमीर या गरीब का भेदभाव उत्पन्न हुआ। अमीरों ने गरीबों पर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। लूट, खसोट, हत्या तथा चोरी का बाजार गर्म हो उठा। प्राकृतिक जीवन की यह अंतिम दशा थी। इस अवस्था में मनुष्यों में घृणा, क्रोध, लोभ, मोह तथा अपने-पराये के ज्ञान का संचार हुआ। इस प्रकार यह जीवन असह्य हो उठा।

रूसो लिखता है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में सरल, स्वस्थ, प्रेमपूर्ण तथा चिंता-रहित जीवन व्यतीत करता था। उसे हम और तुम का ज्ञान नहीं था। परन्तु आज मनुष्य समाज में रहकर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा है। वह अपने आपको जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, सामाजिक शृंखलाओं में जकड़ा हुआ देखता है। रूसो ने प्राकृतिक जीवन की अन्तिम अवस्था की बुराइयों को दूर करने के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का संगठन तो किया, परन्तु इस संगठन को चलाने के लिए कोई राजा नहीं बनाया, उसने अलग-अलग आदमियों की वैयक्तिक शक्ति को जनता की सामूहिक शक्ति का रूप दे दिया; और फिर इसी जनमत की शक्ति को सब अधिकार सौंप दिये। रूसो ने इस प्रकार अपने सिद्धान्त के द्वारा प्रजातन्त्रवादी शासन का प्रतिपादन किया

और कहा कि किसी देश में 'जनता का शासन' राजा द्वारा नही वरन् सर्वमत (General Will) द्वारा होना चाहिए। राज्य के कानून बनाने का अधिकार भी रूसो ने सारी जनता को ही दिया, किसी राजा या जनता के प्रतिनिधि संघ को नही।

आलोचना—सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की बहुत से राजनीतिज्ञों ने आलोचना की है। यह आलोचनाएँ ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा तार्किक दृष्टिकोण से की गई है। नीचे हम इनका साराश देते है :—

(१) यह सिद्धान्त ऐतिहासिक नहीं है—इतिहास ऐसा एक भी उदाहरण नही बतलाता जिस समय समझौते के द्वारा जनता ने इस प्रकार के राज्य की स्थापना की हो। मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है। वह समझौते के कारण किसी राज्य का सदस्य नही बनता।

(२) यह तर्क के विरुद्ध है—यह सिद्धान्त इस बात का उत्तर नही देता कि जंगल में रहनेवाले असभ्य लोगों में समझौता करने की उच्च सामाजिक भावना किस प्रकार जागृत हो सकती थी और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि ऐसा इकरार किया भी गया, तो ऐसे जंगली लोगों से समझौते की शर्तो पर अमल करने की किस प्रकार आशा की जा सकती थी।

(३) यह बुद्धि के विरुद्ध है—राज्य समझौते पर स्थापित नही रह सकता, कारण इसका तात्पर्य यह होता है कि राज्य की सदस्यता मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है; और यदि वह चाहे तो राज्य की सदस्यता छोड़ भी सकता है। यह बात एकदम असम्भव है।

(४) यह कानून के विरुद्ध है—समझौते का ऐसे समय में किया जाना, जब उसे अमल में लाने के लिए कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं थी, कानून की दृष्टि से ठीक नहीं है। ऐसे समझौते को कोई कानूनी अदालत नही मान सकती।

इतना सब कुछ होने पर भी यह कहे बिना नही रहा जाता कि समझौते का सिद्धान्त उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ जब इसका प्रचार किया गया। यह राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त को नष्ट करने में सफल हुआ और इसने मनुष्यों को राज्य व्यवस्थित करने की शक्ति प्रदान की। सफल प्रजातंत्रवादी शासन के विकास में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory of State)

वास्तव में राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐतिहासिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति किसी एक विशेष समय में नही हुई। यह धीरे-धीरे समय की प्रगति के साथ हुई। जिस प्रकार एक वट का वृक्ष एक दिन या एक वर्ष

मे बढकर तैयार नहीं होता, ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक दिन की चीज नही है। सदियों में इसका विकास हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज किसी भी अवस्था में राज्यविहीन नहीं था, उसमें किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण अवश्य मौजूद था। यही नियंत्रण समाज का सगठन चलाता था। आरम्भ मे राजनीतिक व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी, परन्तु धीरे-धीरे उसमें सुधार होता चला गया। आज भी राजनीतिक सगठन पूर्ण नहीं है, अभी भी उसमें दोष है। और इसी कारण राजनीतिक व्यवस्था का विकास निरन्तर जारी है।

मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। जब से संसार में मनुष्य-रूपी जीव ने जन्म लिया है तभी से समाज तथा राजनीतिक संगठन का भी जन्म हुआ है। आरम्भ मे यह सामाजिक सगठन अत्यन्त अस्त-व्यस्त था। मनुष्य जंगली अवस्था मे रहते थे। जानवरों को मारकर उनके मांस से वह अपनी क्षुधा शांत करते थे। सारा समाज कुछ गिरोहो मे बँटा हुआ था। गिरोह का एक नेता होता था जिसके नियन्त्रण मे सारा गिरोह काम करता था।

आखेट अवस्था को त्यागकर मनुष्य पशु-पालन की अवस्था में आया और फिर कृषि अवस्था में। कृषि के युग में सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप कुछ सुधर गया। गिरोह के लोग इधर-उधर घूमने के बजाय गाँव मे बसकर खेती करने लगे। गाँव का एक मुखिया होने लगा जो सब सार्वजनिक कार्यो की देखभाल करने लगा। धीरे-धीरे गाँव में अनेक प्रकार के दूसरे व्यवसाय जारी हो गये और छोटे-छोटे कारखानों की नीव पडी। इसके पश्चात् भाप तथा बिजली के आविष्कार से वर्तमान् कारखानो के युग की नीव पड़ी।

इस प्रकार हम देखते है कि समाज का अपूर्ण तथा अपरिपक्व सगठन धीरे-धीरे एक सुसंगठित तथा जटिल रूप में परिवर्तित हो गया।

राज्य निर्माण के अंग (Factors in State Building)

राज्य के विकास में किसी एक या दो तत्वों ने भाग नही लिया। इसकी उत्पत्ति मे अनेक कारणों ने भाग लिया है। इन तत्वों मे हम निम्न तत्वों का विशेष रूप से वर्णन कर सकते है :—

(१) रक्त सम्बन्ध—इस कारण से सबसे पूर्व युग मे मानव प्राणियो के बीच एकता उत्पन्न हुई। इसी कारण से सबसे प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अर्थात् परिवार की उत्पत्ति हुई। पारिवारिक जीवन के विकास से वश, वर्ग और जातियां बनी। इन सब के बनने मे आपस में मेल और घनिष्ठता की भावना मनुष्यों के हृदय मे जागृत हुई।

(२) धर्म—रक्त के द्वारा जो मेल के बन्धन उत्पन्न हुए उन्हें धर्म ने दृढ़ बनाया, इसका प्रभाव विशेषकर प्राचीन समाजों में बहुत अधिक हुआ। आदिम धर्म का आधार-स्तम्भ पूर्वजों और प्रकृति की आराधना थी। लोग प्रकृति की उन शक्तियो की

आराधना करते थे जिन्हें वे समझ नही सकते थे, और जिनके कोप से रक्षा प्राप्त करने का उनके पास कोई दूसरा साधन नही था। ऐसी प्राकृतिक शक्तियों मे बादल की गरज, विद्युत् की चमक, वर्षा, तूफान इत्यादि थे। आदिम मनुष्यो के प्राण तथा सम्पत्ति की रक्षा तभी सम्भव हो सकती थी जब मनुष्य प्रकृति की इन विपत्तियों से अपनी रक्षा कर सकता। इसीलिए वह प्रकृति के देवताओं की आराधना करने लगा। जाति के सभी लोग इन देवताओं की आराधना तथा समान धर्म का पालन करते थे। इस प्रकार धर्म ने राज्य के विकास में और आपस में युद्ध करनेवाली जातियों में मेल की भावना बढाने में, बहुत प्रबल काम किया।

(३) **शान्ति और सुरक्षा की आवश्यकता**—कृषक अवस्था मे, स्थायी सामाजिक जीवन की उत्पत्ति से, नियम और शासन की आवश्यकता अनुभव हुई। रक्षा और आक्रमण की आवश्यकता मे सामाजिक मेल और अधिक दृढ़ हुआ और इस कारण सैनिक सरदारों के हाथ में अधिकार सौप दिये गये। सैनिक सरदारों के बीच बहुत से युद्ध हुए। उनका परिणाम यह हुआ कि निर्बल और छोटे समुदाय अधिक शक्तिशाली और बड़े समुदायों के अधीन हो गये। इस प्रकार अधिकाश शक्तिशाली जातियो का अधिकार-क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया। राज्य-क्षेत्र के अधिक विस्तार के कारण प्राचीन जातीय सस्थाएँ, नई परिस्थिति की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुईं। इस कारण से इनके स्थान में अधिक विशुद्ध राजनीतिक प्रणालियाँ स्थापित की गई।

(४) **आर्थिक आवश्यकताएँ**—समाज में धन की वृद्धि के कारण ऐसे नियमों के बनाने की आवश्यकता हुई जिससे सम्पत्ति के नियन्त्रण, परिवर्तन और झगड़ों के फैसले किये जा सकें। आदिम समाजों में आर्थिक लेन-देन के झगड़े रीति-रिवाज और प्रथाओं के अनुसार तय किये जाते थे। परन्तु आर्थिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ अधिक निश्चित और अधिकारपूर्ण नियमो को बनाने की आवश्यकता पड़ी।

(५) **राजनीतिक जागृति**—धीरे-धीरे राज्य की उन्नति की अवस्था में धर्म और राजनीति पृथक्-पृथक् हो गये। राज्य का धर्म से विच्छेद हो गया। जैसे-जैसे अधिकाधिक लोगों के मस्तिष्क में शासन की व्यवस्था में सम्मिलित होने की भावना बढ़ी, उसी प्रकार राज्य का स्वरूप राज्यतन्त्र (Monarchy) से कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और कुलीनतन्त्र से प्रजातंत्र (Democracy) में परिवर्तित हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के विकास तथा उत्पत्ति में अनेक तत्वों ने भाग लिया है। परन्तु इस विकास के युग में भिन्न-भिन्न कालों में सामाजिक व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इसके सम्बन्ध में विकासवादी लेखकों में मतभेद है। इसलिए इन लेखकों के दो भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन कर देना हम यहाँ आवश्यक समझते हैं।

(१) पितृ-प्रधान मत—(Patriarchal Theory)—इस सिद्धान्त की यह धारणा है कि राज्य परिवार का बड़ा स्वरूप है। बहुत से परिवार मिलकर एक वंश बनते हैं, बहुत से वंशों से एक जाति बनती है और बहुत सी जातियों से मिलकर एक राज्य-बनता है। समाज के सबसे पहले संगठन का स्वरूप परिवार था। परिवार का मुखिया पिता होता था जिसे अपने सदस्यों पर हर प्रकार का नियंत्रण रखने का पूर्ण अधिकार था। वंशों या जाति का मुखिया या तो किसी प्रमुख परिवार का सबसे अधिक आयुवाला मनुष्य होता था या बड़े-बूढ़ों की एक सभा होती थी। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक सर हेनरी थे।

(२) मातृ-प्रधान मत—(Matriarchal Theory)—उपरोक्त सिद्धान्त के जोड़ का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे मातृ-प्रधान सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रधान प्रवर्तक मेकलेगन, मौर्गन इत्यादि हैं। उन लोगों का विश्वास है कि प्रारम्भ में परिवार का मुखिया पिता नहीं माता थी। आदिम जंगली अवस्था में पति और पत्नी के बीच का सम्बन्ध अज्ञात था। इस अवस्था में विवाह जैसी कोई चीज नहीं थी। एक स्त्री एक पुरुष के साथ, या एक पुरुष एक स्त्री के साथ बँधकर नहीं रहता था। सन्तान और परिवार की सभी सम्पत्ति माता की समझी जाती थी और वह सामाजिक समूह की शासिका मानी जाती थी। परिवार के इस स्वरूप के चिह्न, संसार के कुछ भागों में जैसे तिब्बत या भारत की ट्रावनकोर रियासत में, अभी भी पाये जाते हैं।

आदिम काल में समाज जातियों में नहीं वरन् वंशों में विभाजित था। वंश का समूह उन मनुष्यों का समूह था जो किसी स्वाभाविक वस्तु जैसे कोई पशु या वृक्ष के संकेत से पहचाने जाते थे। इस समूह के अन्दर लोगों के आपस में विवाह नहीं होते थे। एक वंश के लोगों को दूसरे वंश की स्त्रियों के साथ विवाह करना पड़ता था। समाज की इस अवस्था में सम्पत्ति की अधिकारिणी स्त्री होती थी; और उत्तराधिकार का निर्णय स्त्रियों के पक्ष में ही किया जाता था।

आलोचना—उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। यह सच है कि आरम्भ में समाज का संगठन माता या पिता से हुआ। परन्तु ऐसा कहना मिथ्या है कि आरम्भ में सब सामाजिक समूह मातृक या पैतृक था। प्रोफेसर लीकॉक (Leacock) का कथन है कि कहीं-कहीं मातृक और कहीं-कहीं पैतृक संगठन समाज के प्रारम्भिक काल में पाये जाते थे।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य के विकास के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ? आपके विचार से कौनसा सिद्धान्त सही है और क्यों ? (यू० पी०, १९३५)

२. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक आवश्यक सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९३७)

३. राज्य के विकास और महत्त्व पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३९)

४. राज्य के विकास के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक सिद्धान्त कौन से हैं? (यू० पी०, १९४०)

५. राज्य के विकास के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइए और उसकी सूक्ष्म आलोचना भी कीजिये। (यू० पी०, १९४२, १९४७)

६. 'वर्तमान राज्य धीरे-धीरे सामाजिक विकास का फल है' इस मत को समझाइए। (यू० पी०, १९४५)

७. राज्य के निर्माण में किन कारणों ने आवश्यक भाग लिया है? संक्षेप में समझाइए।

८. पैतृक और मातृक सिद्धान्तों में आप कितनी सत्यता पाते हैं?

९. हॉब्स, लॉक और रूसो के मतानुसार सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइये। यह राज्य के विकास के संबंध में असन्तोषजनक सिद्धान्त क्यों माना जाता है?

१०. राज्य के विकास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट कीजिये और उन कारणों को समझाइए जिन्होंने राज्य के निर्माण में प्रमुख भाग लिया है।

११. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और संक्षेप में उसकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९५४)

अध्याय ११

संप्रभुता अथवा सार्वभौमिकता (Sovereignty)

हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कह चुके हैं कि सार्वभौमिकता अथवा संप्रभुता या राजसत्ता राज्य का सबसे आवश्यक गुण है। वास्तव में यही गुण राज्य को अन्य संस्थाओं से पृथक् करता है। राज्य वह संगठन है जिसके आदेशों का प्रत्येक मनुष्य तथा संस्था पालन करने के लिए बाध्य हो तथा जो स्वयं किसी के आदेशों को न माने। राज्य का यह गुण सार्वभौमिक गुण कहलाता है। यदि किसी राज्य में यह गुण नहीं है तो वह राज्य एक स्वतन्त्र अथवा आजाद देश नहीं कहा जा सकता।

सार्वभौमिकता के दो लक्षण होते हैं: (१) आंतरिक (२) बाह्य। आंतरिक लक्षण का अर्थ है कि राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले प्रत्येक मनुष्य तथा मनुष्यों के समुदाय राज्य की सार्वभौमिकता या राजसत्ता को स्वीकार करें तथा उसके आदेशों का स्वाभाविक रूप से पालन करें। राज्य के अन्दर रहनेवाले किसी भी मनुष्य को, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यह कहने का अधिकार नहीं कि वह राज्य की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं। ठीक इसी प्रकार राज्य के अन्दर काम करनेवाली कोई संस्था भी राज्य की आज्ञा का पालन करने से इन्कार नहीं कर सकती। धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व प्रत्येक प्रकार की संस्थाएँ राज्य के कानूनों को मानने के लिए बाध्य हैं। वह यह नहीं कह सकतीं कि हमारा कार्य-क्षेत्र आध्यात्मिक है, या हमें कार्य करने का अधिकार ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ है। राज्य के अन्तर्गत काम करनेवाली प्रत्येक संस्था राज्य के अधीन रहकर ही काम कर सकती है, उससे अलग रहकर नहीं।

सार्वभौमिकता के बाह्य लक्षण का अर्थ यह होता है कि राज्य के बाहर भी कोई ऐसी संस्था अथवा शक्ति नहीं होनी चाहिए, जिसकी आज्ञा का पालन करने के लिए उसे बाध्य किया जा सके। यदि किसी देश के प्रबन्ध में कोई बाहरी सरकार हस्तक्षेप करती है तो वह देश स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। देश की विदेशी नीति क्या हो, वह किन राष्ट्रों के साथ मिलकर काम करे, युद्ध में किसका साथ दे, व्यापारिक समझौते किस देश से करे—इत्यादि, किसी स्वतन्त्र राजसत्ताप्राप्त देश के अपने प्रश्न हैं। किसी दूसरे देश को इन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं।

सार्वभौमिकता, इस प्रकार राज्य की सबसे बड़ी शक्ति का नाम है। यह वह शक्ति है जिसे न कोई दबा सकता है, न बाहर निकाल सकता है और न अलग ही कर सकता है। यह राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के शरीर से अलग होते

ही मनुष्य का शरीर एक मिट्टी का ढेर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सार्वभौमिकता अथवा राजसत्ता के अलग होने से राज्य की स्वतन्त्रता का अंत हो जाता है।

सार्वभौमिकता के गुण (Attributes of Sovereignty)

डाक्टर गारनर (Dr. Garner) सार्वभौमिकता के अन्तर्गत निम्नलिखित साधारण गुणों का वर्णन करता है :

(१) स्थिरता (Permanence)——जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सार्वभौमिकता और राज्य का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। यदि सार्वभौमिकता का अंत होता है तो राज्य का भी लोप हो जाता है। जब कभी राज्य अपनी स्वाधीनता खो देता है और दूसरे राज्य के अधीन हो जाता है तो समझा जाता है कि उसने अपनी सार्वभौमिकता खो दी और इस प्रकार वह राज्य की दृष्टि से मिट गया।

(२) सर्वत्र व्यापकता (All-comprehensiveness)——राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहनेवाली सभी संस्थाएँ, संगठन तथा मनुष्य राज्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। कोई भी मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय राज्य के अधिकार-क्षेत्र के बाहर रहने का दावा नहीं कर सकता। सब लोगों को विवश होकर राज्य के कानूनों का पालन करना पड़ता है।

(३) अनियन्त्रितता (Absolutism)——राज्य की सार्वभौमिकता कानून असीमित है। राज्य के अन्दर या बाहर उससे बड़ी या उस पर शासन करनेवाली कोई शक्ति नहीं होती। मेरियम का कहना है कि "सार्वभौमिकता को सीमित करने के लिए कोई भी राजनीतिक शक्ति समर्थ नहीं है, अन्यथा सीमित करनेवाली शक्ति ही सार्वभौमिक बन जायगी।"

(४) अदेयता (Inalienability)——राज्य अपनी सार्वभौमिकता दूसरे को नहीं दे सकता। सार्वभौमिकता राज्य का आवश्यक गुण है। यह उसका जीवन-प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी आत्मा को दूसरे मनुष्य को नहीं दे सकता ठीक उसी प्रकार राज्य अपनी सार्वभौमिकता को भी नहीं बदल सकता।

(५) अविभाज्यता (Indivisibility)——एक राज्य में दो सार्वभौमिक शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। नागरिक केवल एक स्वामी की आज्ञा पालन कर सकते हैं दो की नहीं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं या एक वन में दो शेर, ठीक उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा (सार्वभौमिक शक्तियाँ) नहीं रह सकते। इस प्रकार सार्वभौमिकता एक अविभाज्य गुण है।

सार्वभौमिकता की परिभाषाएँ——सार्वभौमिकता के उपरोक्त गुणों के आधार पर राजनीति के भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस धारणा की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है :——

प्रो० बरगेस (Burgess) का कथन है कि "सार्वभौमिकता नागरिकों तथा नागरिकों के संगठनों पर एक मौलिक अनियन्त्रित तथा असीमित अधिकार है।"[१]

जैलिंक (Jellink) का कथन है कि "सार्वभौमिकता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।"[२]

बोडीन (Bodin) लिखते हैं "सार्वभौमिकता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ी शक्ति है जिसे बड़े से बड़ा कानून नहीं दबा सकता।"[३]

आस्टिन की परिभाषा—जान आस्टिन (John Austin) का कथन है "यदि किसी राजनीतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे देखा जा सके, जो किसी के मातहत नहीं हो और सारा संगठित समाज जिसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करता हो तो वह व्यक्ति राजा और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।"[४] राजसत्ता की यही परिभाषा सबसे पूर्ण तथा श्रेष्ठ मानी जाती है।

आस्टिन की परिभाषा को देखने से पता चलता है कि उसने सार्वभौमिकता के तीन मुख्य अंग बतलाए हैं :—

(१) सार्वभौमिकता आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में होनी चाहिए।

(२) सार्वभौमिकता कहाँ है अर्थात् सार्वभौमिक अधिकार किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में है यह आसानी से देखा जा सके। किसी पारलौकिक शक्ति अथवा किसी सन्दिग्ध और अप्रत्यक्ष शक्ति में राजसत्ता का विकास नहीं होना चाहिए।

(३) प्रजा का बहुमत सार्वभौमिक सत्ता की आज्ञाओं का आदतन पालन करे, न कि किसी अनुचित दबाव या विवशता के कारण।

आस्टिन के सार्वभौमिक सिद्धान्त की आलोचना—प्रश्न उठता है कि क्या किसी देश में इस प्रकार की राजसत्ता हो सकती है जो किसी की आज्ञा का पालन न करे, जो

---

१ "The original, absolute and unlimited power over individual subjects and associations of subjects."—(Burgess)

२ "That characteristic of the state by virtue of which it cannot be bound except by its own will, or limited by any power other than itself."—(Jellink)

३ "Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws."—(Bodin)

४ "If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent."—(Austin)

किसी के मातहत न हो, जिसकी शक्ति असीमित हो और जो किसी प्रकार के कानूनों को मानने के लिए बाध्य न हो। यदि हाँ, तो हमें देखना है कि भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों में यह शक्ति किस मनुष्य या मनुष्यों के समुदाय में विद्यमान रहती है।

राजनीति के प्रसिद्ध लेखक लास्की (Laski), डेगविट (Deguit) तथा क्रैब (Krabbe) ने, जिन्हें बहुसमुदायवादी भी कहा जाता है, सार्वभौमिकता के मत की कड़ी आलोचना की है। उनके कथनानुसार राज्य के अन्दर कोई ऐसा महान् मानव, जिसकी शक्ति अविभाज्य, असीमित तथा सम्पूर्ण हो, नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक राज्य की शक्ति, अनेक कारणों से सीमित होती है, जिनमें दूसरे संघों की शक्ति सबसे प्रमुख है। प्रसिद्ध राजनीतिक विद्वान् ब्राइस (Bryce) का कहना है "संसार में कभी कोई ऐसा मनुष्य या मनुष्यों का समूह नहीं जन्मा जिसकी शक्ति अनियन्त्रित तथा असीमित थी।" जर्मन लेखक ब्लटश्ली (Bluntschli) भी यही कहता है कि "राज्य सर्वशक्तिमान् संस्था नहीं क्योंकि बाहर के अन्य राज्यों के अधिकार द्वारा, तथा अंदर से अपने स्वभाव और व्यक्तियों के अधिकार द्वारा उसकी शक्ति सीमित रहती है।" इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी राज्य की शक्ति को सीमित करते हैं :—

(१) जनमत—राज्य का कोई भी कानून अधिक समय तक जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि कानून जनता का दमन करता है अथवा उसके मौलिक अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो ऐसा राज्य बहुत समय तक कायम नहीं रह सकता।

(२) राज्य के अन्य संगठन—राज्य की शक्ति समाज के अनेक संगठनों, जैसे गिरजाघर, व्यापार संघ, राजनीतिक दल, धार्मिक संघ द्वारा भी सीमित हो जाती है। राज्य के समान यह संगठन भी अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं और राज्य इच्छा रहने पर भी इनके कार्य में अधिक हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं कर सकता। इस मत के प्रतिपादक बहुसमुदायवादी कहलाते हैं।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मत और नैतिकता—किसी राज्य के कानूनों पर दूसरे राज्यों के अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। आजकल कोई भी राज्य, दमनकारी कृत्यों द्वारा शेष संसार की सहानुभूति खोना पसन्द नहीं करता। जब कभी इस प्रकार दमन-चक्र का प्रयोग किया भी जाता है तो राज्य निरन्तर प्रचार-कार्य द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय मत को अपने हक में करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कोई राज्य नैतिकता के सिद्धान्तों के विरुद्ध कानून नहीं बना सकता।

(४) अन्त में राज्य, मनुष्यों के **नैतिक और स्वाभाविक अधिकार,** समाज के प्रचलित **रीति-रिवाज, जन-श्रुतियों और संगठन के नियमों** की अवहेलना नहीं कर सकता। ऐसा करने से समाज में विद्रोह का डर बना रहता है और जनता राज्य के विरुद्ध बगावत करने लग जाती है।

सार्वभौमिकता की स्थिति––उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि इसके सम्बन्ध में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किसी देश मे सार्वभौमिक सत्ता कहाँ निवास करती है। इगलैण्ड को ही ले लीजिए, वहाँ एक सम्राट् का राज्य है, जिसके नाम पर प्रत्येक कानून की घोषणा होती है, जो वहाँ की फौज, समुद्री बेड़े तथा हवाई सेना का सर्वोच्च अधिकारी है, और जो सरकारी कर्मचारियो की नियुक्ति करता है। परन्तु वास्तव में इंगलैण्ड के सम्राट् को सार्वभौमिक सत्ता का अधिकारी ठहराना भारी भूल है; क्योंकि वह स्वय अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कुछ भी नही कर सकता। वह तो इगलैण्ड के प्रधान मत्री तथा वहाँ की पार्लियामेंट के हाथो मे एक कैदी के समान है। वह अपने मन्त्रियो की आज्ञा के बिना न कही जा सकता है, न बोल सकता है, न शादी कर सकता है और न किसी से मेल-मुलाकात ही कर सकता है। इगलैड की सरकार की वास्तविक शक्ति तो वहाँ की पार्लियामेंट के हाथो मे निवास करती है। पार्लियामेंट भी जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नही कर सकती। पार्लियामेंट के सदस्य जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते है। वह उसकी मरजी के विपरीत काम नही कर सकते। जनता की जो इच्छा होती है, पार्लियामेंट के सदस्य उसी पर विचार करते है। तो फिर क्या यह कहना उचित होगा कि इगलैड मे सार्वभौमिक सत्ता जनता के हाथो मे है? विचार करने पर मालूम पडता है कि यह बात भी गलत है, कारण जनता राज्य के सभी कार्यो मे भाग नही लेती। राय देने का अधिकार केवल बालिगो को ही होता है और फिर मतदाता अपनी स्वतन्त्र राय से बहुत कम काम करते है, उन पर अधिकतर प्रभाव राजनीतिक पार्टियो, अखबारो तथा प्रचार की दूसरी सस्थाओ का पडता है। प्रजातन्त्र राज्यों में देश की सरकार की वास्तविक कुजी राजनीतिक दलो के हाथ मे रहती है। तो फिर क्या हम यह कह सकते है कि राजनीतिक पार्टियाँ ही सार्वभौमिक सत्ता की अधिकारी है? वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि यह बात भी एकदम गलत है। राजनीतिक पार्टियो का सचालन कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगो के हाथ में रहता है। पार्टी के दूसरे सदस्य इन नेताओ की इच्छा के विरुद्ध जाने की हिम्मत नही कर सकते; ऐसा करने पर उन्हे पार्टी से निकाल दिये जाने का बराबर डर रहता है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रजातन्त्र राज्यो मे यह निश्चय करना कि राजभत्ता किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में रहती है, अत्यन्त कठिन है।

इगलैड से भी अधिक दुष्कर अमरीका मे राजसत्ता का निर्णय करना है। वहाँ के प्रधान (President) के अधिकार सीमित है। वह विधान के विरुद्ध कार्य नही कर सकता। उसे कानून बनाने का भी कोई अधिकार प्राप्त नही। अमरीका की काग्रेस (Congress) को भी सार्वभौमिक-शक्ति-प्राप्त संस्था नही कहा जा सकता; क्योकि वह भी संविधान के अन्दर रहकर ही कार्य करती है।

कुछ लेखकों का मत है कि राजसत्ता संविधान बदलने की शक्ति रखनेवाली संस्था में निवास करती है। इस मत के अनुसार इंगलैंड में राजसत्ता पार्लियामेंट के हाथों में और अमरीका में संघीय 'कांग्रेस' के दोनों विभागों के दो-तिहाई बहुमत और राज्यों की विधान सभाओं के तीन-चौथाई बहुमत को प्राप्त है। इस मत के विरुद्ध कहा जाता है कि संविधान बदलनेवाली संस्था तो केवल किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही काम करती है, उसे जनता देख नहीं सकती, वह दिन प्रति दिन काम नहीं करती, इसलिए ऐसी संस्था को भी राजसत्ता-प्राप्त-संस्था नहीं कहा जा सकता।

एक और कारण से भी राजसत्ता सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रचार के कारण राज्य में निरंकुश शासनों का प्रचार किया गया है। इन आलोचकों की राय में यह सिद्धान्त नागरिकों की स्वतन्त्रता और विश्व-शान्ति के लिए घातक है। इसी कारण संसार में युद्ध होते हैं। आजकल जब सारा संसार यातायात के साधनों की उन्नति के कारण एक सूत्र में बँध गया है तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और राज्य की पृथक्ता का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

सार्वभौमिकता सिद्धान्त का औचित्य

जो लेखक आस्टिन तथा दूसरे विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राजसत्ता सिद्धान्त की आलोचना करते हैं, वह यह भूल जाते हैं कि सार्वभौमिक सिद्धान्त का उद्देश्य यह नहीं कि वह निरंकुशता का प्रचार करे या यह बतलाए कि राजसत्ता कहाँ वास करती है, वह तो राज्य के एक आवश्यक गुण को बतलाती है। उसका कहना है कि कोई देश उस समय तक सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता, जब तक उसे अपने नागरिकों पर पूर्ण रूप से शासन करने का अधिकार प्राप्त न हो, और जब तक वह बाहरी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र न हो। यह दूसरी बात है कि कोई राज्य जनता की भलाई के विचार से अपने अधिकारों का कहाँ तक प्रयोग करता है। राज्य को हर प्रकार के कार्य करने की शक्ति तो है, परन्तु वह जनता के अधिकारों या उसके हित के विरुद्ध कार्य नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय मत के सम्बन्ध में भी यही बात है। राज्य इस मत के विरुद्ध कार्य तो कर सकता है, परन्तु जब तक मजबूरी न हो, वह इस मत के विरुद्ध जाना उचित नहीं समझता। इसलिए सार्वभौमिकता के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले लोगों का मत है कि राज्य सिद्धान्त रूप से सर्वशक्तिमान् अवश्य है, व्यावहारिकता के दृष्टिकोण या औचित्य के विचार से वह अपनी शक्ति का प्रयोग करे या न करे। उनकी राय में सार्वभौमिकता का सिद्धान्त नागरिक-स्वतन्त्रता या विश्व-शान्ति के लिए घातक नहीं; क्योंकि यह सिद्धान्त यह नहीं कहता कि नागरिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं रहने चाहिए या एक देश को दूसरे के साथ मेल-जोल नहीं करना चाहिए। राष्ट्र स्वतन्त्र रहते हुए भी दूसरे देशों के साथ मिलकर काम कर सकते हैं, उनसे व्यापारिक तथा सैन्य सन्धि कर सकते

है। राजसत्ता और नागरिकों के अधिकार में भी कोई विरोध नही। कोई राष्ट्र नागरिकों के अधिकारों की अधिक से अधिक रक्षा करता हुआ भी, राजसत्ता प्राप्त राज्य रह सकता है। राजसत्ता का अर्थ केवल इतना है कि विपत्ति काल में यदि आवश्यकता पडे, तो राज्य नागरिको के अधिकारों की परवाह न करते हुए भी उन्हें विशेष प्रकार के कार्य करने पर विवश कर सके। लडाई तथा गृह-युद्ध के समय, प्रायः प्रत्येक देश में जनता के अधिकारों में कमी कर दी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अधिक महत्वपूर्ण है। राजसत्ता का इसलिए केवल यही अर्थ है कि राज्य सकटकाल में, विपत्ति को दूर करने के लिए जो भी चाहे कर सकता है।

सार्वभौमिकता तथा सरकार में अन्तर

सरकार का अर्थ उन सब कर्मचारियों से है जो राज्य के सचालन मे भाग लेते है। यह एक स्थूल चीज है जिसे प्रत्येक मनुष्य देख सकता है। सार्वभौमिकता इसके विपरीत राज्य का एक गौण गुण है जिसके कारण वह स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है। यह गुण अनुभव किया जा सकता है, परन्तु देखा नही जा सकता। इसके अतिरिक्त सरकार सदा बदलती रहती है परन्तु राजसत्ता सदा एक-सी ही रहती है। सरकार एक संगठन है, राजसत्ता एक शक्ति। राजसत्ता के समाप्त होने पर देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, परन्तु एक सरकार की समाप्ति से दूसरी सरकार उसका स्थान ग्रहण कर लेती है।

सार्वभौमिकता के विविध स्वरूप

सार्वभौमिकता का अर्थ कई मानों में किया जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसके विभिन्न स्वरूपों पर अच्छे प्रकार दृष्टि डालें।

नामधारी राजसत्ता बनाम वास्तविक राजसत्ता (Titular vs. Actual Sovereignty)

सार्वभौमिकता नाम की भी हो सकती है और सच्ची भी। इंगलैंड का सम्राट् नामधारी राजसत्ता रखता है। वह कहने को तो सम्राट् है परन्तु वास्तव मे उसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं। वहाँ का असली शासक पार्लियामेंट है। राजा तो केवल नाम के लिए ही सम्राट् कहा जाता है। इसलिए इंगलैंड में हम वहाँ के सम्राट् को नाम का और वहाँ की पार्लियामेंट को वास्तविक सार्वभौम कह सकते हैं।

वैध राजसत्ता बनाम राजनीतिक राजसत्ता (Legal vs. Political Sovereignty)

राजसत्ता का दूसरा स्वरूप राजनीतिक और वैध सार्वभौमिकता है। वैध राजसत्ता वह है जिसे राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है तथा जिसकी सत्ता को अदालतें स्वीकार करती हैं। ऐसी संस्था इंगलैंड की पार्लियामेंट है।

राजनीतिक राजसत्ता इसके विपरीत वह शक्ति है जो वैध राजसत्ता के पीछे निवास करती है तथा जिसकी इच्छा और आज्ञा का पालन वैध राजसत्ता को अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार की राजसत्ता प्रत्येक देश में मतदाताओ के हाथ मे रहती है। मतदाता चाहे कानून न बना सकें, चाहे न्यायालय उनकी आज्ञाओं का पालन न करे, परन्तु देश की व्यवस्थापिका सभा उनकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकती। राजनीतिक सत्ता वैध राजसत्ता को उलट सकती है, इसलिए यह उससे कही अधिक शक्तिशाली होती है।

लोकप्रिय राजसत्ता (Popular Sovereignty)

लोकप्रिय राजसत्ता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रूसो ने किया था। किसी देश मे यदि सारी बालिग जनता राजकाज के काम में भाग लेती है तथा अपने कानून स्वयं बनाती है तो ऐसे देश को लोकप्रिय राजसत्ता प्राप्त देश कहा जाता है। इस सत्ता के अतर्गत जनता को ही परम शक्ति माना जाता है।

तथ्यतः बनाम विधानतः राजसत्ता (De facto vs. De jure Sovereignty)

कई बार बहुत राष्ट्रों में कानूनी सम्राट् दूसरा होता है और गद्दी पर काबिज सम्राट् दूसरा। पिछले दिनों सन् १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला करके वहाँ के राजा को गद्दी से निकाल दिया था। परन्तु दूसरे राष्ट्रो ने इटली की जीत को स्वीकार नहीं किया और वह अबीसीनिया के पुराने सम्राट् को ही वहाँ का राजा मानते रहे। ऐसी दशा में राजनीतिक विद्वान् पदच्युत राजा को विधानत. (De jure) और गद्दी पर काबिज राजा को तथ्यतः (De facto) राजा मानते है। अफ़गानिस्तान में भी अमानुल्ला के समय में एक ऐसी ही घटना हुई थी। अमानुल्ला गद्दी का कानूनी मालिक था, परन्तु देश के कुछ लोगो ने विद्रोह करके उसे गद्दी से उतार दिया। फिर कुछ समय तक बच्चा सक्का गद्दी पर बैठा और फिर नादिरशाह अफगानिस्तान का असली शासक रहा और अमानुल्ला वहाँ का कानूनी सम्राट्। परन्तु बाद में सारी जनता ने नादिरशाह को ही अपना राजा स्वीकार कर लिया और फिर वह विधानतः तथा तथ्यतः दोनों तरह से वहाँ का राजा बन गया।

तथ्यतः और विधानतः राजसत्ता बहुत समय तक अलग-अलग आदमियों के हाथ में नही रह सकती। कुछ समय पश्चात् यह दोनों एक ही आदमी के हाथ में केन्द्रित हो जाती है।

योग्यता-प्रश्न

१. सार्वभौमिकता के स्वभाव को समझाइए और उसके प्रधान गुण बतलाइए। (यू० पी०, १९३५)

२. ऑस्टिन के सार्वभौमिकता सिद्धान्त की आलोचना कीजिए और उसकी अन्य सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

३. सार्वभौमिकता की स्वतंत्र शक्ति की व्यावहारिक सीमाएँ कौन-सी हैं ?

४. सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। इसके आवश्यक गुण क्या हैं ? (यू० पी०, १९४२)

५. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ स्पष्ट रूप से समझाइए :—

१—नामधारी सार्वभौमिकता

२—वास्तविक सार्वभौमिकता

३—विधानतः सार्वभौमिकता

४—राजनीतिक सार्वभौमिकता

६. तथ्यतः (De facto) और विधानतः (De jure) सार्वभौमिकता की भिन्नता को स्पष्टतया समझाइए।

७. आप सार्वभौमिकता का अर्थ क्या समझते हैं ? इसके मुख्य अंगों का वर्णन कीजिये।

८. सार्वभौमिकता के गुण क्या हैं ? राजनीतिक और वैध सार्वभौमिकता में क्या अंतर है ? (यू० पी०, १९४७)

९. आधिपत्य (Sovereignty) से आप क्या समझते हैं ? किस अर्थ में राज्य अधिपति (Sovereign) माना जा सकता है ? (यू० पी०, १९५३)

———

अध्याय १२

विधि अथवा कानून

§ १. कानूनों का अर्थ तथा स्वभाव

पिछले अध्यायों में कानून शब्द का प्रयोग अक्सर किया गया है। इस अध्याय में इस शब्द का वास्तविक अर्थ, इसके विभिन्न रूप तथा इसके स्रोतों पर विचार किया जायगा, तथा यह भी बतलाया जायगा कि अच्छे और बुरे कानूनों की क्या पहिचान है, और बुरे कानूनों का किस प्रकार विरोध किया जा सकता है।

कानून का अर्थ—सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कानून शब्द का अर्थ क्या है? वास्तव में इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। जब इस शब्द का प्रयोग प्रकृति के साथ किया जाता है तब इससे कार्य और कारण का सम्बन्ध तथा उस समानता का बोध होता है जिससे प्राकृतिक वस्तुओं के व्यवहार की विशेषताओं का पता चलता है। जब इस शब्द का प्रयोग मानवी व्यवहार के साथ किया जाता है, तब इससे उन नियमों का बोध होता है जो सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करते हैं। अंतिम अवस्था में **सब कानूनों का तात्पर्य व्यवहार के नियमों** से होता है, कहीं पर यह प्राकृतिक पदार्थों अथवा शक्तियों का व्यवहार होता है और कहीं मनुष्यों का।

सर्वप्रथम, मोटे तौर पर, कानूनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) भौतिक कानून, (२) मानवीय कानून।

भौतिक कानून—प्राकृतिक पदार्थों तथा शक्तियों के व्यवहार के नियमों को भौतिक कानून (Physical Laws) कहा जाता है। यह कानून कार्यकारण संबंध को बतलाते हैं। जैसे यदि कहा जाय कि कोई वस्तु ऊपर उछाली जाय तो पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वह जमीन पर गिरेगी, या किसी वस्तु को गरम किया जाय तो तापमान की प्रवृत्ति के कारण वह फैलेगी। ऐसे कानून भौतिक कानून कहलाते हैं। वह मनुष्यों द्वारा नहीं बनाए जाते न वे व्यक्ति की इच्छा पर ही निर्भर रहते हैं। मनुष्य कितना भी चाहे, पानी सदा ऊपर से नीचे की ओर ही बहेगा। भौतिक कानून इसलिए वह नियम होते हैं जो स्थायी, अटल तथा निश्चित होते हैं। काल और स्थान भी उनकी प्रकृति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं ला सकता। हाँ, यह बात दूसरी है कि मानव-ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ कुछ पुराने नियम जिन्हें हम ठीक मान बैठे थे, नयी खोजों के आधार पर गलत साबित हो जायँ, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भौतिक कानून गलत सिद्ध हो गये, इसका अर्थ केवल इतना है कि मनुष्य ने पहिले कानून को समझने में गलती की थी।

मानवीय कानून

मानवीय कानून उन नियमो को कहा जाता है जो समाज के अन्दर रहनेवाले मानव प्राणियों के पारस्परिक संबंधों को व्यवस्थित करते है। इस कोटि मे नैतिक कानून, सामाजिक कानून, राज्य के कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून आते है।

नैतिक कानून—नैतिक कानून हम उन नियमों को कहते है जो मनुष्य के आदर्श आचरण से संबंध रखते है। इन कानूनो का पालन मनुष्य राज्य या समाज के भय से नही करता, वरन् मनुष्य की अपनी आतरिक नैतिक प्रेरणा उन्हे इन कानूनो को मानने के लिए विवश करती है। नैतिक कानूनों के उदाहरण मे हम गरीबो की सेवा, दान-पुण्य की भावना, अतिथि-सत्कार, माता-पिता का आदर इत्यादि नियमों के नाम ले सकते है। नैतिक कानूनों का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन तथा काम के पीछे उसके उद्देश्य से होता है। नागरिकशास्त्र में हम उन कानूनों का अध्ययन करते है जो समाज से संबध रखते है, व्यक्तिगत जीवन से नही।

सामाजिक कानून—सामाजिक कानून समाज में प्रचलित उन नियमो को कहा जाता है जिनका पालन मनुष्य लोकमत के डर से करते है। इन नियमों के उल्लघन करने पर राज्य द्वारा दंड नही दिया जाता, परन्तु समाज ऐसे आचरण को निदनीय ठहराता है, उदाहरणार्थ, अगर कोई व्यक्ति अपने बूढ़े माता-पिता को घर से निकाल दे, अथवा अपनी पत्नी या बच्चो के साथ दुर्व्यवहार करे, अपनी जाति को छोड़कर अन्य वर्ग में विवाहादि करे, एक स्त्री के रहते हुए दूसरी शादी करे तो इन कृत्यों की समाज द्वारा घोर निन्दा की जाती है। बहुत बार आगे चलकर सामाजिक कानून राजकीय कानूनो का रूप भी धारण कर लेते है जैसे केवल एक विवाह करने का अधिकार इत्यादि, परन्तु अधिकतर इन नियमों का पालन लोक-लाज के भय से ही किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून—राज्य के कानूनों का अध्ययन करने से पहिले हम अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अर्थ तथा उनका महत्व समझने का प्रयत्न करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों को कहा जाता है जो विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सबधों को व्यवस्थित करते है। ओपनहाइम (Oppenheim) इन कानूनों की परिभाषा इस प्रकार करता है कि "रीति-रिवाजों पर आधारित जो नियम सभ्य देशों के बीच संबंधों को कानूनन निर्धारित करते है, वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहे जाते है।" यह नियम केवल शांतिकाल में ही नहीं, युद्धकाल में भी लागू किए जाते है।

बहुत से राजनीतिक विद्वान् अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को कानून नही मानते, कारण इनका पालन कराने के लिए कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो विभिन्न राष्ट्रों को इन्हें मानने के लिए विवश कर सके। इनका मानना न मानना राष्ट्रों की सद्भावना पर निर्भर है। इसलिए आस्टिन के मतानुसार यह कानून अभी अपूर्ण हैं, वह कानून बनने की राह

में है (Laws in the process of making), अभी तक पूर्ण कानून नहीं। इस मत के विरुद्ध ओपनहाइम का कहना है कि किसी कानून के लिए तीन चीज़ों की आवश्यकता होती है—एक व्यक्तियों का समूह, दूसरा समूह के कुछ नियम तथा तीसरा उन नियमों का साधारणतया सदस्यों द्वारा पालन। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसलिए कानून है कि राज्यों का एक समूह होता है, उस समूह मे कुछ नैतिक नियम प्रचलित होते हैं, तथा साधारणतया सभी राज्य इन नियमों का पालन करते है। ओपनहाइम कहता है कि यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अशक्त कानून है, परन्तु वह कानून तो है ही।

राज्यीय कानून—नागरिक शास्त्र में कानून शब्द का प्रयोग अधिकतर राजकीय कानूनों के अर्थ में ही किया जाता है। राज्य के कानूनों को स्थिर या आवश्यक नियम (Positive Laws) भी कहा जाता है। यह वह नियम होते है जो राज्य द्वारा स्वयं निर्मित किए जाते है अथवा उसके द्वारा स्वीकार कर लिये जाते है और जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर शक्तिपूर्वक मनवाया जाता है।

परिभाषा—राजकीय कानूनों की अनेक परिभाषाएं दी गई है। आस्टिन के मतानुसार 'कानून जनता के लिए राजसत्ताधारी की आज्ञा है।'[1] हालैंड के मतानुसार "सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू मनुष्य के बाह्य जीवन से सम्बन्धित सामान्य नियम कानून है।"[2] वुडरो विलसन लिखता है, "कानून स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है जिसे समान नियमो के रूप में विशिष्ट और नियमानुसार स्वीकृति प्रदान की गई हो और जिसे सरकार की शक्ति लागू करती हो।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कानून के दो आवश्यक तत्व है, एक जनता के बाह्य जीवन के कार्यो की व्यवस्था के लिए सामान्य नियमों का समूह, दूसरे, इन नियमों का सरकार द्वारा पालन।

उद्देश्य—कानूनों का मुख्य उद्देश्य अधिकारो की रक्षा करना होता है। इसलिए उन्हे उल्लंघन करनेवालों को दंड दिया जाता है।

आधुनिक समाज की पूर्ण व्यवस्था कानूनों के उचित पालन पर ही निर्भर है। यदि कानूनों द्वारा जनता के दुर्बल तथा अशक्त व्यक्तियो की रक्षा न की जाय, तो समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नियम का साम्राज्य हो जाय। जनता के मौलिक

१ "Law is the Command of the sovereign".—(Austin)

२ "A Law is a general rule of external human action enforced by a sovereign political authority."—(Holland)

३ "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of the government."

—(W. Wilson)

अधिकारों की रक्षा कानूनों द्वारा ही की जाती है। कानूनों के निर्माण के लिए ही विधान-मंडल का जटिल संगठन बनाया जाता है। उन्हीं के पालन के लिए न्यायपालिका का संगठन किया जाता है। कार्यपालिका का भी यही मुख्य उद्देश्य होता है कि जनता द्वारा राज्य के कानूनों पर अमल कराया जाय। संक्षेप में समस्त शासन का उद्देश्य कानूनों के आधार पर जनता का कल्याण करना होता है।

हम एक ऐसे राज्य की बात सोच ही नहीं सकते जहाँ कानून न हों। कानून संहिता अथवा रीति-रिवाज, प्रचलन, रूढ़ियों इत्यादि के रूप में हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी कानून लिखित हों, बहुत से कानून अलिखित भी हो सकते हैं। परन्तु कानून-शून्य राज्य का कोई अर्थ नहीं होता। ऐसे समाज में पूर्ण अराजकता का ही साम्राज्य हो सकता है। कानूनों के अभाव का अर्थ होता है, जनता को मनमाने करने की छूट। विदित है कि ऐसे राज्य में न किसी के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं, न किसी की स्वतन्त्रता। कलह, विषाद, युद्ध, लड़ाई, झगड़े तथा संघर्ष का ही ऐसे राज्य में शासन हो सकता है। प्रत्येक राज्य को इसलिए कानूनों का निर्माण तथा उनकी रक्षा के लिए उचित व्यवस्था करनी पड़ती है।

कानूनों का स्वभाव—प्रश्न उठता है कि कानूनों का आधार क्या है? जनता कानूनों का पालन क्यों करती है? कानूनों के पालन से मनुष्य की स्वतन्त्रता में कुछ न कुछ बाधा अवश्य पड़ती है, फिर भी व्यक्ति कानूनों का पालन क्यों करते हैं। इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर इसी पुस्तक के नवें अध्याय के तीसरे परिच्छेद में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है। उस स्थान पर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि नागरिक स्वेच्छा से राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं? राज्य की आज्ञा केवल कानूनों द्वारा ही व्यक्त होती है, इसलिए जिन कारणों से मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं, उन्हीं कारणों से वह उसके कानूनों का भी आदर करते हैं।

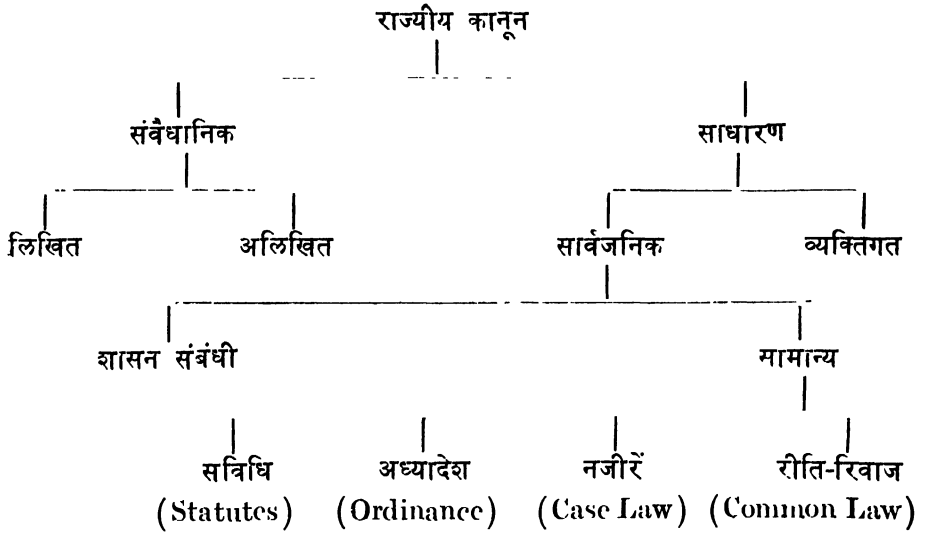
संक्षेप में हम यहाँ इतना ही दोहरा देना चाहते हैं कि राज्य के कानूनों का आधार भय या शक्ति या उदासीनता अथवा आदत नहीं। मनुष्य सजा के डर से कानूनों का पालन नहीं करता, वरन् इसलिए करता है कि वह एक नैतिक प्राणी है। वह अच्छे और बुरे को समझता है और जानता है कि जो उसके लिए प्रिय है, वह दूसरों को भी प्रिय होगा। कानून इसलिए बनाए जाते हैं कि उनसे सर्वसाधारण की भलाई हो, उनके अधिकार सुरक्षित रहें। कानूनों से नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास होता है, उन्हें वह सुविधाएँ मिलती हैं जिनसे वह अपने जीवन में उन्नति कर ऊँचे-से-ऊँचा उठ सकते हैं।

कानून किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं, वरन् प्रजातन्त्र राज्यों में समस्त जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की राय से बनाए जाते हैं। उनके निर्माण में जनता के रीति-रिवाज, विश्वास, जनश्रुतियाँ तथा विश्वास का विचार रक्खा जाता है। वह जनता के किसी

एक वर्ग की भलाई की दृष्टि से नही वरन् समस्त समाज की भलाई के लक्ष्य से बनाए जाते है। इसलिए जनता ऐसे कानूनों का स्वेच्छा से पालन करती है।

§ २. कानूनों का वर्गीकरण

कानूनों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। नीचे की तालिका में एक श्रेष्ठ वर्गीकरण दिया जाता है जिससे आशा है पाठकों को कानून के विभिन्न रूपों को समझने में आसानी होगी :—



(१) संवैधानिक कानून (Constitutional Laws)—संवैधानिक कानून हम ऐसे कानूनों को कहते है जो किसी देश की शासन-व्यवस्था का निर्णय करते है। इन कानूनों मे सरकार की बनावट अर्थात् विधान-मंडल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का स्वरूप, राज्य के अंगों का एक दूसरे के साथ पारस्परिक संबध तथा नागरिकों के अधिकारों का वर्णन होता है। संवैधानिक कानून और दूसरे कानूनों (अधिनियम) में यह अन्तर होता है कि संवैधानिक कानूनों के निर्माण एवं संशोधन के लिए एक खास व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है, जैसे विधान-मडल के दोनों भवनो का दो-तिहाई बहुमत इत्यादि; साधारण कानून विधान-मंडल के साधारण बहुमत द्वारा निर्मित किए जाते हैं। संवैधानिक कानूनों को अत्यन्त पावन कानून माना जाता है क्योंकि उनकी रक्षा पर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा निर्भर करती है। इसीलिए इन्हें आसानी से नही बदला जा सकता।

संवैधानिक कानून लिखित भी हो सकते है और अलिखित भी। इगलैण्ड का संविधान अलिखित है, दूसरे राष्ट्रों के लिखित। रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों के आधार पर

चालित संविधान अलिखित कहलाते हैं, और ऐसे संविधान लिखित जिनमें शासन-व्यवस्था की अधिकतम बातें लेखनीबद्ध कर ली जाती है।

(२) साधारण कानून—राज्य के दूसरे हर प्रकार के कानूनों को जिनके द्वारा नागरिकों के आचरण पर अंकुश लगाया जाता है साधारण कानून कहते है। यह कानून अधिकतर विधान-मंडल द्वारा ही बनाए जाते है, यद्यपि रीति-रिवाज, धर्मशास्त्र, नजीर इत्यादि भी उनके आधार होते है।

साधारण कानूनो के अतर्गत दो प्रकार के कानून आते है :

(अ) व्यक्तिगत कानून (Private Laws)—व्यक्तिगत कानून वह कानून है जो दो मनुष्यों के आपस के संबधों को व्यवस्थित करते है। इन कानूनों का मनुष्य के सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह केवल, एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसका निर्णय करते है। इन कानूनो के उदाहरण में हम कर्ज के कानून (Laws of Debts), जायदाद खरीदने-बेचने के कानून (Transfer of Property), हकशफा का कानून (Laws of Pre-emption) इत्यादि के उदाहरण दे सकते है।

(ब) सार्वजनिक कानून (Public Laws)—सार्वजनिक कानून वे कानून है जो जनता के राज्य के साथ सम्बन्ध का निर्णय करते है। इन कानूनों के द्वारा मनुष्यो को बताया जाता है कि उन्हे किस प्रकार के कार्य नही करने चाहिए। इन कानूनो को तोडनेवाले व्यक्ति समाज तथा राज्य के प्रति अपराधी समझे जाते है। इन कानूनो में चोरी या डकैती, खून, धोखादेई इत्यादि के कानून शामिल किये जाते है।

सार्वजनिक कानूनों के मुख्य रूप से दो भेद होते है :—(१) शासनीय कानून (Administrative Laws) और (२) सामान्य कानून।

शासनीय कानून—डाइसी के अनुसार शासन सबधी कानून वह है जो सरकारी कर्मचारियों के पद और जिम्मेदारियों का, आम जनता के साथ उनके व्यवहार का, तथा उन विशेष अधिकारो का उल्लेख करते है जो सरकारी कर्मचारियो को विशेष रूप से कुछ राज्यों द्वारा प्रदान किए जाते है। यह कानून फ्रास में लागू है और इंगलेण्ड से बिल्कुल भिन्न है। फ्रांस मे जब राज्य के कर्मचारी कोई जुर्म करते है तो उनके मुकदमे की सुनवाई देश के साधारण कानून के मातहत या साधारण न्यायालयों द्वारा नही होती। इसके लिए विशेष कानून तथा विशेष अदालतें होती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों को पूरा करने मे एक विशेष भार वहन करते हैं। यदि उन्हें साधारण कानून द्वारा ही शासित किया जाय तो वह अपने कर्तव्य अच्छे प्रकार पूरे न कर सकेंगे। इगलैंड तथा दूसरे राज्यों में ऐसी व्यवस्था नही है। वहाँ सब नागरिकों के लिए समान कानून तथा समान अदालतें है।

सामान्य कानून—राज्य के दूसरे हर प्रकार के कानून जिनका संबंध नागरिको से होता है, सामान्य कानून कहलाते है। इन कानूनो के मुख्य रूप से निम्न स्रोत एवं भेद होते है :—

(१) **संविधि** (Statutes)—देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये गये कानूनों को संविधि या स्टेट्यूट कहा जाता है।

(२) **अध्यादेश** (Ordinances)—देश की सरकार द्वारा असाधारण और आवश्यक परिस्थितियों का सामना करने के लिए कुछ थोड़े समय के लिए पास किये गये कानूनों को अध्यादेश या आर्डिनेंस कहा जाता है। हमारे देश के लोग इन कानूनों से भली भाँति परिचित है। अंग्रेजी राज्य मे यह कानून समय-समय पर छ महीने के लिए गवर्नर जनरल द्वारा घोषित किये जाते थे।

(३) **नजीरें अथवा वादजनित विधान** (Case Laws)—वह कानून जो अदालतो के फैसलों द्वारा बनाये जाते है, केस लॉ या वादजनित विधान या नजीरें कहलाते है। यह नजीरें वकील लोग अपने मुकदमो की पैरवी में बहस के समय पेश करते है।

(४) **रीति-रिवाज** (Common Laws)—ये वे कानून है जो किसी विधान सभा द्वारा तो नही वरन् रीति-रिवाजों के आधार पर अदालतें प्रयोग मे लाती है। इगलैंड में इसी प्रकार के कानून अधिक प्रयोग में आते है। बहुत पुराने काल मे प्रचलित होने के कारण इन कानूनो को वही स्वरूप मिल जाता है जो विधान सभा द्वारा पास कानूनो को। भारतवर्ष में इस प्रकार के कानून गोद लेने के कानून, स्त्रीधन के कानून, शादी-विवाह इत्यादि के कानून है।

§ ३. कानून और कुछ दूसरे तत्वों का सम्बन्ध

कानून और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध (Laws and Ethics)

आचार-शास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का विज्ञान है। वह नागरिको के लिए आदर्श सदाचार के नियमो को निर्धारित करता है। राज्यकृत कानूनो का आदर्श भी यही है कि नागरिक नैतिक सिद्धान्तो पर चले। इस प्रकार राज्यकृत कानून भी यथासम्भव आचार-शास्त्रों में वर्णित सदाचार सम्बन्धी नियमो का ही पालन करते है। कानून उसी दशा में प्रभावोत्पादक हो सकते है जब वे मनुष्यो के नैतिक विचारो के संरक्षक हो। परन्तु इस सम्बन्ध का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि कानून और आचार-शास्त्र एक ही चीज है। वास्तव मे अनेक कारणों से वह एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी है।

कानून और आचार-शास्त्र में भिन्नता

(१) सर्वप्रथम राज्यकृत कानून और आचार-शास्त्र मे यह भिन्नता है कि राज्यकृत कानूनों का पालन राज्य की शक्ति पर निर्भर होता है। परन्तु आचार-शास्त्र के नियमों का पालन मनुष्य के अन्त.करण तथा उसकी नैतिक भावना पर निर्भर रहता है।

(२) दूसरे राज्यकृत कानूनों का सम्बन्ध केवल मनुष्यो के बाहरी कर्तव्यों से रहता है। आचार-शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के आतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आचरणो से रहता है। राज्यकृत कानूनों के सम्बन्ध में राज्य केवल उन्हो लोगों को सजा देता है जो चोरी, खून, डकैती इत्यादि जुर्म करके देश के साधारण कानूनों की अवहेलना करते है। यह उन लोगो को सजा नही देता जो अविश्वासी, झूठे या अकृतज्ञ होते है। इसके विपरीत आचार-शास्त्र के नियम न केवल यह कहते है कि चोरी, खून या डकैती करना पाप है वरन् वह यह भी कहते है कि मनुष्य को अकृतज्ञ, अविश्वासी या झूठा नही होना चाहिए।

(३) राज्यकृत कानून, बहुत-सी बातो को जो नैतिक दृष्टि से अनुचित है—जैसे अकृतज्ञता, विश्वासघात और झूठ बोलना इत्यादि—बुरा नही समझते। बहुत-सी अवस्थाओ में तो, जैसे विदेश-नीति निर्धारित करने में, इन चीजों को अपनाया भी जाता है। दूसरी तरफ राज्य बहुत-सी बातों को जो नैतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण उचित है, जैसे सड़क के दाईं ओर चलना, तेजी से गाड़ी चलाना इत्यादि अनुचित समझता है और ऐसा करने के लिए लोगो को सजा देता है। वास्तव मे आचार-शास्त्र के नियम नैतिक कर्तव्यो के सम्बन्ध रखते है और राज्य-दत्त कानून शासन सम्बंधी कर्तव्यों से।

प्राकृतिक और मनुष्यकृत नागरिक कानूनों का सम्बन्ध (Relationship between Natural Laws and Positive Laws)

प्राकृतिक कानून का अर्थ राजनीतिक दार्शनिको ने कई प्रकार से किया है। ग्रीक और स्टोइक लेखक प्राकृतिक कानून को तर्क (logic) या अंतःकरण का कानून समझते थे। रोमन भी इसी प्रकार प्राकृतिक नियमों को मानव कर्तव्य का सच्चा कानून समझते थे। उनके विचारानुसार प्राकृतिक कानून मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट तर्क का नमूना था। उनका राज्यदत्त कानून (Jus Gentium), प्राकृतिक कानून (Jus Natural) पर अवलम्बित था। मध्यकाल मे भी प्राकृतिक कानूनों को ईश्वर के कानूनों के समान समझा गया। परन्तु आजकल प्राकृतिक कानूनों का असली अर्थ यह किया जाता है कि यह वे आदर्श नियम है जो प्रत्येक समाज में उसके नागरिकों की अधिकाधिक उन्नति के लिए आवश्यक है। इस अर्थ में राज्य के सभी कानून प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होने चाहिए। परन्तु कभी-कभी प्राकृतिक कनून शब्द का प्रयोग

भौतिक कानूनों (Physical Laws) के अर्थ मे भी किया जाता है; जैसे अग्नि का कानून, पानी का कानून इत्यादि। ऐसी दशा मे प्राकृतिक और राज्यकृत कानूनो में निम्नलिखित भेद होते है :—

प्राकृतिक और मनुष्यकृत कानूनों में भेद (Difference between Physical Laws and Positive Laws)

(१) प्राकृतिक या भौतिक कानून प्रकृति की घटनाओं की समानता का वर्णन करते है, जैसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति कानून, या वायु का कानून इत्यादि। परन्तु राज्यकृत कानून नागरिकों के आचरण का नियंत्रण करने के लिए बनाये जाते है।

(२) प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई घटना हो, तो हम समझते है कि वह कानून गलत था। परन्तु यदि कोई मनुष्य राज्य के नियम के विरुद्ध काम करे तो हम उस कानून को गलत नही समझते, बल्कि ऐसे मनुष्य को अपराधी ठहराते है और उसे सजा देते है।

(३) भौतिक कानूनों को मनुष्य केवल खोज निकालता है, वह उसे बनाता नही; परन्तु राज्य के कानूनों को मनष्य स्वयं बनाता है।

(४) भौतिक कानून स्थायी और सदा एक-से रहते है परन्तु राज्य के नियम अदलते-बदलते रहते हैं, वह तोड़े जा सकते है तथा हर एक देश में अलग-अलग होते है।

§४. कानूनों के स्रोत (Sources of Laws)

आधुनिक संसार में अधिकतर कानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये जाते है; परन्तु इसके अतिरिक्त कानूनों के दूसरे स्रोत भी है :—

(१) रीति-रिवाज (Customs)—बहुत से रीति-रिवाज पुराने पड़ जाने पर कानून का रूप धारण कर लेते है और राज्य द्वारा स्वीकृत हो जाते है। बात यह है कि रीति-रिवाज हमारी आवश्यकताओ के अनुसार ही बनते है। उनका धीरे-धीरे विकास होता है; अतः उनका हमारे पूर्व इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सभ्यता के प्रसवकाल में रीति-रिवाज ही जनता के कानून थे। आजकल भी बहुत-से पुराने रीति-रिवाज हमारे कानूनों मे शामिल हैं। इगलैंड का कॉमन लॉ (Common Law) प्राचीन रीति-रिवाजों पर ही अवलम्बित है।

(२) धार्मिक सिद्धान्त (Religious Practices)—पुराने समय मे रीति-रिवाजो तथा धर्म में कोई अन्तर नहीं था, रीति धर्म के आधार पर ही बनती थी। आजकल भी बहुत से देशो मे जातियों के कानून उनके धर्म पर अवलम्बित है। भारत में हिन्दू और मुसलमानों के कानून (Hindu and Mohemmedan Law) स्मृतियों, कुरान व हदीस ही में पाये जाते हैं जो इन जातियों के धर्मग्रन्थ है। इस प्रकार हम देखते है कि धर्म जातियों के कानूनों के विकास में मुख्य भाग लेता है।

(३) प्राचीन नीति-शास्त्र (Ancient Codes)—पुराने समय मे लोग समाज के धार्मिक नेताओं द्वारा बनाये गये नीति-शास्त्रो का पालन करते थे जैसे मोजेज के कानून, मनु के कानून, कुरान हदीस के कानून इत्यादि। इन नीति-शास्त्रों में धर्म के आधार पर सदाचार के नियम वर्णित है। लोग इनका व्यावहारिक रूप में पालन करते थे। इन नीति-शास्त्रों के आधार पर भी बहुत से देशों के वर्तमान कानून बनाये गये है।

(४) कानूनी फैसले और नजीरें (Interpretation and Adjudication of Legal Decisions and Precedents)—न्यायाधीश, राज्य के कानूनों को, विशेष मुकदमों की आवश्यकता के अनुसार व्यवहार में लाते है। इस प्रकार वह कानून की व्याख्या करते है और समाज की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार उसमें संशोधन करते है। न्यायाधीशों द्वारा बनाये गये ऐसे कानून अगले मुकदमों के फैसले के लिए नजीरें माने जाते है। इस प्रकार से भी नए कानूनों का जन्म होता है।

(५) वैज्ञानिक चर्चा (Scientific Discussion)—बडे-बड़े वकील और कानूनी पंडित, कानूनों का अपनी समझ के अनुसार अर्थ लगाते है; और नये कानूनो के बनाने की आवश्यकता का सुझाव पेश करते है। इस प्रकार वह कानून की सीमा की वृद्धि करते है।

(६) नैतिक न्याय (Equity)—जब किसी मुकदमे का फैसला करने के लिए कोई विशेष कानून नही मिलता तब न्यायाधीश नैतिक न्याय (Equity) या शुद्ध अन्तःकरण के सिद्धान्त के आधार पर मुकदमों का फैसला करते है और इस प्रकार एक नये कानून का निर्माण करते है। नैतिक न्याय (Equity) इस प्रकार एक तरह का न्यायाधीश द्वारा बनाया गया कानून है।

(७) व्यवस्थापिका सभा (Legislature)—वर्तमान समाज मे सबसे अधिक कानून देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये जाते है। इन कानूनो को प्रत्येक अदालत को मानना पड़ता है।

अच्छे और खराब कानूनों की पहचान (Distinction between good and bad Laws)

राज्य की व्यवस्था नागरिकों के सुखद जीवन तथा उन्नति के उद्देश्य से की जाती है। राज्य अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानून बनाता है। दूसरे शब्दों मे, कानूनों का अस्तित्व स्वयं अपने लिए नही वरन् जनता के सुखद जीवन के लिए होता है। कानून कोई स्वय आदर्श नही वरन् आदर्श तक पहुँचने के लिए एक साधन है। सब कानूनों का एक ही आदर्श होता है और वह यह कि वह जनता की अधिक से अधिक सेवा कर सके; तथा उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हो सके। यदि राज्य का कोई कानून इस

परीक्षा में पूरा उतरता है, अर्थात् वह जनता के सुख की वृद्धि करता है तो वह कानून अच्छा कहलाता है; इसके विपरीत, यदि कोई कानून जनता के अधिकारों का विनाश तथा उसके सुख की हानि करता है तो वह कानून बुरा होता है।

कुछ लेखकों का कहना है कि कानूनों के विषय में अच्छाई और बुराई का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। कानून एक राज्य का आदेश है। वह प्रत्येक दशा में माना जाना चाहिए। कोई कानून इसलिए कानून नहीं होता कि वह जनता की भलाई के लिए बनाया गया है, वरन् इसलिए कि वह सार्वभौमिकता का आदेश है। परन्तु हमारी राय में यह मत एकदम निकृष्ट है। कानून को उसके उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कानून को बनाते समय राज्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यदि यह उद्देश्य जनता का सांस्कृतिक अथवा आर्थिक अथवा सामाजिक विकास है तो वह कानून अच्छा समझना चाहिए, यदि उस कानून से जनता के अधिकारों का हनन होता है तथा उसकी प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है तो उस कानून को निकृष्ट समझना चाहिए।

संक्षेप में हम कानूनों की अच्छाई के निम्न रूप दे सकते हैं :—

(१) सर्वप्रथम, कानूनों की अच्छाई की परख उनकी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायता देने की शक्ति है। यदि कोई कानून नागरिकों को उनकी नैतिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति करने में मदद करता है तो वह अच्छा कानून है। इसके विपरीत यदि कोई कानून जनता का दमन करता है अथवा समाज के केवल कुछ मुट्ठी भर मनुष्यों को, उनके व्यक्तित्व के विकास की सुविधा देता है, तो वह कानून निकृष्ट है।

(२) दूसरे, अच्छे कानून की परख यह है कि जनता उस कानून की आज्ञा का पालन स्वेच्छा से करे; और उस पर अमल करते समय इस बात का अनुभव करे कि वह कानून उसकी भलाई और उन्नति के लिए है। दूसरे शब्दों में, जनता राज्य के किसी कानून का इसलिए पालन न करे कि उसकी अवहेलना से उसे दंड मिलेगा, वरन् इसलिए कि उस कानून का पालन उसकी अपनी नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(३) तीसरे, अच्छे कानून की पहचान यह है कि वह जनता को उसके नैतिक और प्राकृतिक अधिकारों से वंचित न करे।

(४) चौथे, अच्छे कानूनों का निर्माण जनता की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में उनकी व्यवस्था केवल ऐसे व्यक्तियों के द्वारा होनी चाहिए जो वास्तव में जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकें।

जब कोई कानून ऊपर लिखी हुई चार परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता है, तभी वह एक आदर्श कानून कहा जा सकता है। परन्तु आजकल हम देखते हैं कि संसार के सभी राष्ट्रों में कुछ न कुछ कानून ऐसे अवश्य होते हैं जो जनता के अधिकारों की रक्षा नहीं वरन् उनकी अवहेलना करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या जनता इस प्रकार के कानूनों

को भी मानने के लिए बाध्य है ? यदि नही तो राज्य के ऐसे कानूनों की किस प्रकार और किस दशा में अवहेलना की जा सकती है ?'

वह अवस्थाएँ जिनमें नागरिक राज्य के कानूनों की अवहेलना कर सकते हैं

(Conditions under which citizens can disobey State Laws)

जब राज्य का कोई विशेष कानून इस दृष्टि से खराब है कि वह मनुष्य के सदाचार के विकास मे बाधक सिद्ध होता है; और ऐसा किसी व्यक्ति-विशेष के साथ नही वरन् सारी जनता के साथ होता है, तो उस कानून की अवहेलना करना जनता का नैतिक अधिकार हो जाता है। हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में बतला चुके है कि किसी कानून का पालन इसलिए नही करना चाहिए कि वह राज्य की आज्ञा का प्रतिबिंब है, वरन् इसलिए कि हम यह अनुभव करे कि इस कानून के पालन करने से हम अपनी स्वयं की उन्नति करते है। अतः यदि कोई कानून जनता के हित की रक्षा नही करता वरन् उसके मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात करता है, तो जनता का धर्म है कि वह ऐसे कानून का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मुकाबला करे।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सरकारी कानून की अवहेलना करने से पहले, हमे इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि जनता, अवज्ञा आन्दोलन के कार्य मे हमारे साथ है अथवा नही। यदि जनता की नैतिक भावना हमारे साथ नही है तो अवज्ञा आन्दोलन करने से कोई लाभ न होगा। दूसरे, अवज्ञा करने से पहले यह भी देख लेना चाहिए कि उस कानून को रद्द कराने के लिए हमने हर प्रकार के वैधानिक तरीको का प्रयोग किया है अथवा नही। अवज्ञा आन्दोलन तो एक खतरनाक बीमारी की आखिरी औषधि होनी चाहिए, प्रथम नही। सर्वप्रथम, जनता के सहयोग से सरकार पर यह बात दर्शाने का प्रयत्न करना चाहिए कि अमुक कानून जनता का अहित करता है। इसके पश्चात् यदि सरकार उस कानून को रद्द न करे तो व्यवस्थापिका सभा के अगले चुनाव के समय, इस प्रश्न पर जन-मत लेना चाहिए, अर्थात् उस विषय को चुनाव का एक मुख्य प्रश्न (Election issue) बनाना चाहिए। यदि इस आन्दोलन के पश्चात् सरकार सार्वजनिक इच्छा के अनुसार काम करे तो ठीक है अन्यथा, सरकार को नोटिस देकर उस कानून के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरभ कर देना चाहिए। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अर्थ यह होता है कि जनता कानून तोड़ने मे हिंसा का व्यवहार न करे वरन् अहिंसात्मक तरीकों से काम ले। आज हमारे देश के वासी, महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण इस सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अर्थ को भली भाँति जान गये है। गांधीजी के सारे आन्दोलन अहिंसात्मक थे और उन्होंने कभी भी हिंसा का प्रचार नही किया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन, इस प्रकार, संसार को भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अनुपम देन है।

क्या मनुष्य किसी दशा में फौज में काम करने से इनकार कर सकता है ?

(Can a citizen refuse to serve in the Army when called upon to do so under any circumstances ?)

पिछले प्रश्न से ही मिलता-जुलता एक और प्रश्न है जो कभी राजनीतिक विद्वानों से पूछा जाता है, और वह यह कि क्या किसी दशा में कोई नागरिक, सरकार की आज्ञा के विरुद्ध फौज मे काम करने से इन्कार कर सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर भी बिल्कुल स्पष्ट है । यदि किसी देश की सरकार अपनी जनता से फौज मे भरती होने के लिए इसलिए कहती है कि उस देश को किसी विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करनी है, अथवा अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़नी है, तो नागरिकों का धर्म है कि वे अपने राष्ट्र की इज्जत कायम रखने के लिए हर प्रकार की कुरबानी दें तथा अपने प्राणो की आहुति देने से भी मुँह न मोड़ें। परन्तु यदि किसी देश की सरकार किसी दूसरे मुल्क पर चढ़ाई करने या उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए जनता से फौज मे भरती होने के लिए कहती है, तो ऐसी दशा मे जनता का धर्म हो जाता है कि वह ऐसे घृणित कार्य मे, सरकार का हाथ बँटाने से इनकार कर दे। युद्ध मे लाखों नागरिकों के अमूल्य जीवन, करोड़ों रुपये की धन-सामग्री, तथा जनता के सुख और ऐश्वर्य की बलि देनी पड़ती है। इसलिए युद्ध केवल ऐसी ही दशा में करना चाहिए जब इसके बिना राष्ट्र की स्वतन्त्रता अथवा मान कायम न रह सके। साम्राज्यवादी उद्देश्यो के लिए किये गये युद्ध मे जनता का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार का सहयोग न दे।

योग्यता-प्रश्न

१. कानून की व्याख्या कीजिये। उसके विभिन्न प्रकार क्या हैं ? नागरिकशास्त्र में कौन से कानून का अध्ययन किया जाता है ?

२. कानून के विभिन्न स्रोत कौन-कौन हैं ?

३. कानून और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

४. "कानून राज्य की इच्छा का स्वरूप है।" "कानून सार्वजनिक मत का स्वरूप है।" क्या इन दोनों कथनों में कोई पारस्परिक भिन्नता है ?

५. प्राकृतिक कानून क्या है ? उनका नागरिक कानूनों से कैसा सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९३३)

६. क्या आप अच्छे कानून और खराब कानून को पहचान सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस पहचान का क्या आधार है ? आप खराब कानून को कैसे रद्द करेंगे ? (यू० पी०, १९३२, १९३६)

७. कानून की व्याख्या कीजिये। कानून के स्रोत और उनके प्रकार कौन-कौन से हैं? (यू० पी०, १९३२, १९३६, १९४२)

८. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

१—वैधानिक कानून

२—स्टेचूट्स (Statutes)

३—साधारण कानून

४—नैतिक न्याय (Equity)

९. क्या नागरिक को राज्य के द्वारा आदेश दिये जाने पर युद्ध से इन्कार करने का अधिकार है? किन परिस्थितियों में वह राज्य के आदेश का विरोध कर सकता है? (यू० पी०, १९३४)

१०. कानून का उद्देश्य क्या है? क्या आप एक ऐसे राज्य की प्रतिमा खींच सकते हैं, जहाँ कोई कानून न हो। (यू० पी०, १९४५)

११. कानून किसे कहते हैं और वे कैसे बनते हैं? (यू० पी०, १९५२)

१२. कानून से आप क्या समझते हैं? कानून और स्वतंत्रता में क्या संबंध है? (यू० पी०, १९५४)

अध्याय १३

राज्य का संविधान (Constitution of the State)

§ १. संविधान का अर्थ और आवश्यकता

संविधान का अर्थ

संविधान शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डाइसी (Dicey)* लिखता है, "शासन संविधान उन राजकीय नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य पर अपना प्रभाव डालते हैं।" गिलक्राइस्ट (Gilchrist) इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है, "ये वे कानून और कायदे हैं जो लिखित या अलिखित रूप में शासन की व्यवस्था का निश्चय, उसके विविध अंगों के अधिकारों का वितरण तथा उन आम सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं जिनके अनुसार किसी देश की सरकार चलाई जाती है।" ब्राइस (Bryce) के अनुसार "शासन संविधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकर के आकार का निर्णय और उसके प्रति नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों का निश्चय करते हैं।" लीकॉक (Leacock) ने इसकी परिभाषा केवल छः शब्दों में की है। उसके कथनानुसार, "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन-विधान कहते हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान उन कायदों और कानूनों का समूह है जो चाहे लिखित हों अथवा अलिखित, जिनके अनुसार किसी देश का शासन चलाया जाता है।

संविधान की आवश्यकता

शासन को जन-मत के अनुसार चलाने के लिए तथा शासकों को जनता के हित के विरुद्ध मनमाने तरीकों पर काम करने से रोकने के लिए उसे कुछ खास कानूनों और कायदों में आबद्ध करना पड़ता है। सरकार का संगठन सारे देश में नीचे से ऊपर तक फैला रहता है। गाँव के चौकीदार से लेकर सरकार के बड़े से बड़े कर्मचारी सरकार के संगठन के अन्तर्गत काम करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार के इन विभिन्न कर्मचारियों के अधिकार तथा कर्तव्य भली भाँति स्पष्ट रूप से वर्णित हों जिससे वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें। इन नियमों के न होने से शासक जालिम बन जाते हैं और जनता के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते। इसलिए प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे नियमों

---

* "All rules which directly or indirectly affect distribution or exercise of sovereign power in the state."—(Dicey)

की आवश्यकता पड़ती है जो चाहे लिखित हों या अलिखित, परन्तु जो शासक की शक्तियों को सीमित रख सकें तथा उसके विभिन्न अगों का कार्य भली-भाँति बतला सकें। इन्हीं नियमों को शासन-सविधान कहा जाता है।

अच्छे संविधान के आवश्यक गुण (Requisites of Constitution)

गैटल (Gettel) अच्छे संविधान के लिए निम्नलिखित गुण अनिवार्य बतलाता है:—

(१) स्पष्टता (Clarity or Definiteness)—प्रत्येक शासन-संविधान स्पष्ट और सुलझा हुआ होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार की संदेहयुक्त बातें नहीं होनी चाहिएँ। कोई भी उसे पढ़कर समझ ले और उसके मन में दो-अमली बात पैदा न हो। शासन-संविधान जितना भी स्पष्ट होगा, सरकार को उतनी ही कम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेगी। इसी कारण से आजकल लिखित संविधान, जिनकी शब्द-रचना बहुत सावधानी के साथ की गई हो, अत्यन्त सन्तोषजनक समझे जाते हैं।

(२) व्यापकता (Comprehensiveness)—संविधान को शासन के सभी क्षेत्रों अर्थात् विधान-मडल, कार्यपालिका और न्याय संस्थाओं का वर्णन करना चाहिए। उसके अध्ययन से सरकार की पूरी जानकारी हो जानी चाहिए। ऐसा न हो कि उसके पढ़ने के पश्चात् भी किसी व्यक्ति को सरकार का पूरा संगठन समझ में न आये। सविधान में विविध अंगों के अधिकारों का विस्तृत वर्णन होना चाहिए, जिससे सरकारी कर्मचारी अपनी मनमानी न कर सकें।

(३) सूक्ष्मता (Brevity)—सविधान यथासम्भव सूक्ष्म होना चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी व्यापकता और स्पष्टता ही नष्ट हो जाय। इसका आशय केवल इतना है कि संविधान में फिजूल की बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए। उसमें केवल शासन के साधारण सिद्धान्तों का वर्णन किया जाना चाहिए। विस्तृत सविधान में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ चलने की क्षमता नहीं होती, उसमें आगे चलकर बहुत से संशोधन और परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए जहाँ तक बने, संविधान सूक्ष्म होना चाहिए।

(४) परिवर्तनशीलता (Flexibility)—किसी भी देश का संविधान मनुष्यों की आवश्यकताओं और समय की परिस्थिति के अनुसार बनना चाहिए। कोई भी संविधान सदा-सर्वदा के लिए पूर्ण नहीं माना जा सकता। जो आज उचित होता है वही कल अनुचित हो सकता है। उसे उन्नतिशील युग के साथ चलना चाहिए, अर्थात् समय की आवश्यकता के अनुसार उसमें तबदीली की गुजाइश होनी चाहिए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे अपना स्थायीपन त्याग देना चाहिए और प्रतिदिन बदलते रहना चाहिए। विधान में स्थायीपन और परिवर्तनशीलता का एक साथ समन्वय होना चाहिए।

गैटल द्वारा अच्छे संविधान की उपरोक्त वर्णित आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ लेखक इसके दो अन्य गुण भी बतलाते हैं, (१) अधिकारों की घोषणा और (२) न्याय विभाग की स्वाधीनता।

(५) अधिकारों की घोषणा (Declaration of Rights)—अच्छे संविधान में व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा के उद्देश्य से नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा अवश्य होनी चाहिए।

(६) न्याय विभाग की स्वाधीनता (Independence of Judiciary)—इसी प्रकार निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न्याय विभाग की व्यवस्था होनी चाहिए।

§ २. संविधानों का वर्गीकरण (Classification of Constitutions)

शासन संविधानों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। कुछ लेखक ऐतिहासिक आधार पर, कुछ स्पष्टीकरण की नीति से और कुछ भौगोलिक दृष्टि से इसका विभाजन करते हैं। एक ही शासन-विधान कई विभाजनों में लाया जा सकता है। वे विभाजन चार प्रकार से किये जाते हैं:—

(१) विकसित और निर्मित संविधान (Evolved and enacted Constitution)

विकसित संविधान—विकसित संविधान हम एक ऐसे संविधान को कहते हैं जो किसी एक विशेष समय में किसी संविधान परिषद द्वारा नहीं बनाया जाता, वरन् जो इतिहास की उपज है और धीरे-धीरे रीति-रिवाजों तथा जन-श्रुतियों के आधार पर बन जाता है। पुराने युग में जब जनता को शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उसने कुछ रीति-रिवाज और जन-श्रुतियाँ अपना कार्य चलाने के लिए अपना ली। ये रीति-रिवाज और जनश्रुतियाँ समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार बदलती गई और अन्त में यही राज्य का संविधान बन गई। इंगलैंड का संविधान इसी प्रकार बना और अभी भी वह उसी प्रकार उन्नति करता चला जा रहा है। इस प्रकार के संविधान की सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि उसको बदलने के लिए किसी धारा सभा या संविधान परिषद् का अधिवेशन नहीं बुलाना पड़ता, वह स्वयं जनता की राजनैतिक जागृति के कारण बदलता रहता है।

निर्मित संविधान (Enacted Constitution)—निर्मित संविधान वह संविधान है जो किसी संविधान परिषद् द्वारा किसी खास समय में बनाया जाता है। इस संस्था के सदस्य किसी केन्द्रवर्ती स्थान में एकत्रित होकर पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद एक लिखित संविधान बनाते हैं। अमेरिका का संविधान इसी प्रकार से सन् १७७८ में बनाया गया था। निर्मित संविधान निश्चित रूप से लिखित संविधान होता है। वह अलिखित नहीं हो सकता।

(२) लिखित और अलिखित संविधान (Written and Unwritten Constitutions)

लिखित संविधान (Written Constitution)—लिखित संविधान वह संविधान कहे जाते हैं जो रीति-रिवाजों या जनश्रुतियों के आधार पर नहीं वरन् लिखित कानूनों के आधार पर अवलम्बित होते है। वह संविधान परिषद् के अथक परिश्रम के परिणाम होते है। परिषद् के लिखित संविधान में, मनुष्यों के मौलिक अधिकार, शासन-यंत्र की बनावट, उसके काम करने के तरीके, विधान-मंडल, कार्यकारिणी तथा न्यायालय के अधिकार तथा कर्तव्य, इत्यादि बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन होता है।

अलिखित संविधान (Unwritten Constitution)—गार्नर (Garner) के कथनानुसार अलिखित संविधान वह संविधान है "जिसमें राज्य के संगठन की अधिकांश बातें किसी कागज या पुस्तक में सकलित नहीं की जाती।" इस प्रकार का संविधान देश के रीति-रिवाज और रस्मों के आधार पर अवलम्बित रहता है। वह राष्ट्रीय जीवन के विकास के साथ ही बढ़ता है। इंगलैण्ड मे इसी प्रकार का अलिखित संविधान है।

आलोचना—लिखित और अलिखित संविधान की भिन्नता वास्तव में केवल मात्रा की भिन्नता है, तत्व की भिन्नता नहीं। संसार में ऐसा कोई भी संविधान नही है जो पूर्ण रूप से लिखित या पूर्ण रूप से अलिखित हो। इंगलैंड का संविधान अलिखित विधान कहलाता है परन्तु उसके भी बहुत लिखित अंग हैं, जैसे अधिकारों का पत्र (Bill of Rights), मैगना कार्टा (Magna Charta) इत्यादि।

इसी प्रकार अमेरिका के संविधान में, जो लिखित संविधान कहलाता है, रीति-रिवाज और जन-श्रुतियों के रूप में बहुत से अलिखित अंश हैं। राजनीतिक दलों के अधिकार और राष्ट्रपति का चुनाव, इसके कुछ उदाहरण हैं। प्रत्येक देश के लिखित संविधान में इसी प्रकार के अलिखित अंश होते है।

(३) सुपरिवर्तनशील और दुष्परिवर्तनशील या नमनीय और अनमनीय संविधान (Flexible and Rigid Constitutions)

सुपरिवर्तनशील संविधान (Flexible Constitution)—सुपरिवर्तनशील संविधान वह है जो कानून बनाने के साधारण तरीकों के द्वारा बदला जा सकता है। ऐसी दशा में संवैधानिक कानून और साधारण कानूनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता और इसलिए सवैधानिक नियमों को बदलने के लिए किसी खास शासन-व्यवस्था की जरूरत नही रहती। वे उसी सत्ता द्वारा बनाये तथा बदले जा सकते है जिस पर साधारण कानून बनाने की जिम्मेदारी रहती है। इंगलैड में इसी प्रकार का संविधान है। इस देश में संवैधानिक कानून उसी प्रकार बदले जा सकते है, जिस प्रकार कोई साधारण कानून। उदाहरणार्थ ब्रिटिश पार्लियामेंट, हाउस आफ कामन्स की अवधि बढ़ाने का

कानून पास कर सकती है, वह राज्य प्रथा को रद्द कर सकती है, वह मतदाताओं की योग्यता में परिवर्तन कर सकती है, इत्यादि।

दुष्परिवर्तनशील संविधान (Rigid Constitution)—यह वह संविधान है जो आसानी से न बदला जा सके अर्थात् जिसको बदलने के लिए असाधारण तरीकों का व्यवहार करना पड़े। इस प्रकार के संविधान में साधारण तथा संवैधानिक कानूनों में अन्तर होता है। साधारण कानून देश की विधान सभा द्वारा बदले जा सकते हैं। वे देश के साधारण कानूनों की अपेक्षा बहुत पवित्र समझे जाते हैं। उन्हें बदलने के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिका, फ्रांस और हिन्दुस्तान के संविधान दुष्परिवर्तनशील हैं। लिखित संविधान बहुधा दुष्परिवर्तनशील और अलिखित संविधान सुपरिवर्तनशील होते हैं।

दोनों प्रकार के संविधानों के गुण और दोष (Merits and Demerits)

सुपरिवर्तनशील संविधान के गुण (Merits of Flexible Constitution)—सुपरिवर्तनशील संविधान में गुण और अवगुण दोनों होते हैं। पहिले हम इसके गुणों पर विचार करेंगे। (१) सर्वप्रथम, सुपरिवर्तनशील संविधान के बदलने में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होती। वह समाज की नई और परिवर्तित दशा के अनुसार बदला जा सकता है। उसको बदलने के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती। (२) दूसरे, ऐसे संविधान के अन्तर्गत क्रान्ति का बीजारोपण देश में नहीं होने पाता। जनता जब चाहे विधान को बदल सकती है। (३) तीसरे, वह समय के अनुसार चलता है और सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ आगे बढ़ता है। सुपरिवर्तनशील संविधान विशेष परिस्थितियों, जैसे युद्ध या राष्ट्रीय संकट का मुकाबला करने के लिए, सुगमता से तोड़ा और मरोड़ा जा सकता है। इसके विपरीत दुष्परिवर्तनशील संविधान उस कपड़े के समान है जो मनुष्य के शरीर के नाप का बनाया जाता है, और जिसके बनाते समय मनुष्य के शरीर के विकास और वृद्धि का तनिक भी ध्यान नहीं रखा जाता।

सुपरिवर्तनशील संविधान के दोष (Demerits of Flexible Constitution)—जहाँ सुपरिवर्तनशील संविधान में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी पाये जाते हैं :—

(१) सर्वप्रथम यह विधान सभा के सदस्यों के हाथ में बहुत अधिक अधिकार दे देता है, जो स्वेच्छाचारी बनकर मनुष्यों के अधिकारों का अपहरण कर सकते हैं।

(२) दूसरे, संविधान में हर समय परिवर्तन किया जाना उचित नहीं; क्योंकि इससे दलबन्दियाँ और द्वेष की भावनाएँ बढ़ जाती हैं और सार्वजनिक कार्य में बहुत अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जनता आवेश में आकर बिना सोचे-समझे संविधान को बदल डालती हैं। संवैधानिक कानूनों में आये दिन परिवर्तन होने से देश का शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

(३) तीसरे, सुपरिवर्तनशील संविधान केवल वही समाज स्वीकार कर सकता है जिसकी राजनीतिक शिक्षा उच्चतम शिखर तक पहुँच चुकी हो। पिछड़े हुए देश इस प्रकार के संविधान पर अमल नही कर सकते।

दुष्परिवर्तनशील संविधान के गुण (Advantages of Rigid Constitution)—सुपरिवर्तनशील सविधान के समान दुष्परिवर्तनशील संविधान मे भी गुण और अवगुण दोनों का समावेश होता है।

(१) सर्वप्रथम, दुष्परिवर्तनशील संविधान निश्चित, स्थायी और दृढ़ होता है। उसे एक साधारण आदमी भी आसानी से समझ सकता है; और उसे पढ़कर अपने अधिकारो को जान सकता है। वह अलिखित संविधान के सब सन्देहो से परे रहता है।

(२) दुष्परिवर्तनशील संविधान मनुष्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता की अधिक रक्षा करता है, क्योकि इसके अंतर्गत कार्यकारिणी सभा के अधिकार सीमित रहते है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विधान में बहुधा नागरिको के मौलिक अधिकार का भी वर्णन होता है।

(३) तीसरे, यह अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करता है और इस प्रकार उनकी बहुमूल्य सेवा करता है।

दोष (Disadvantages)—परन्तु इस प्रकार के सविधान में कुछ कमजोरियाँ भी होती है, जैसे (१) यह आसानी से नही बदला जा सकता और कभी-कभी इसमें बहुत आवश्यक परिवर्तन भी नही किये जा सकते।

(२) यह समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको नही बदल सकता और इस प्रकार, ऐसा संविधान राष्ट्र की स्वास्थ्यपूर्ण उन्नति और विकास मे बाधक सिद्ध होता है। लार्ड मैकाले ने बहुत ठीक ही कहा था कि "क्रान्ति का मूल कारण शासन संविधान की दुष्परिवर्तनशीलता है।"

(३) यह कानूनी बारीकियों से भरा हुआ और कानूनी भाषा मे लिखा हुआ होने के कारण, साधारण जनता द्वारा नही समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल बड़े-बड़े सवैधानिक पंडित ही समझ सकते है और उनकी राय में भी किसी एक धारा के आशय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है।

परिणाम—इस प्रकार हम देखते है कि सुपरिवर्तनशील तथा दुष्परिवर्तनशील दोनो ही प्रकार के सविधानो मे गुण और दोष दोनो होते है। वास्तव मे एक सविधान के गुण दूसरे के दोष और दूसरे के दोष उसके गुण कहलाते है। उदाहरणार्थ सुपरिवर्तनशील संविधान का समय के अनुसार बदलना, दुष्परिवर्तनशील सविधान का दोष है और अनिश्चितता जो सुपरिवर्तनशील संविधान का दोष है, वही दुष्परिवर्तनशील संविधान गुण का है।

हमारी राय में जिन समाजों की राजनीतिक शिक्षा उच्च दर्जे की पूर्णता प्राप्त कर चुकी हो अर्थात् जहाँ के लोग शिक्षित और उन्नतिशील हों, अपने अधिकारों और कर्तव्यों को बहुत अच्छी प्रकार से समझते हों, वहीं अलिखित तथा सुपरिवर्तनशील संविधान सफल हो सकता है।

परन्तु, जिस समाज की शिक्षा अपूर्ण है और जहाँ की जनसंख्या समान धर्मानुयायी नहीं है, अर्थात् जहाँ अल्पसंख्यक जातियाँ भी रहती हैं, उन स्थानों के लिए लिखित अथवा दुष्परिवर्तनशील संविधान अधिक उचित और न्यायसंगत जान पड़ता है।

वर्तमान समय में राज्यों की मनोवृत्ति निम्नलिखित कारणों से लिखित और दुष्परिवर्तनशील संविधान बनाने की ओर ही दिखलाई पड़ती है :—

(१) कार्यकारिणी शासन के अधिकारों को सीमित रखने लिए,

(२) मनुष्यों के मौलिक अधिकारों की घोषणा करने के लिए,

(३) परस्पर विरोधी रीति-रिवाज और जन-श्रुतियों के मतभेद को मिटाने के लिए,

(४) संघीय विधान का निर्माण करने के लिए और अंत में,

(५) पुराने विधान का पुनः निर्माण करने के लिए।

एकात्मक और संघात्मक शासन संविधान (Unitary and Federal Constitutions)

एकात्मक शासन संविधान (Unitary Constitution)—यह वह संविधान है जिसमें सरकार अपना सब काम एक केन्द्रीय स्थान से करती है। सुविधा की गरज से केन्द्रीय शासन, प्रान्तों अथवा लोकल बोर्डों की स्थापना कर सकता है तथा उन्हें थोड़े-बहुत अधिकार प्रदान कर सकता है, परन्तु वास्तव में सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में ही निहित रहते हैं, और इन अधिकारों को वह अपने इच्छानुसार छीन अथवा बढ़ा सकता है। इँगलैंड, फ्रांस और इटली में इसी प्रकार के एकात्मक शासन संविधान हैं। एकात्मक संविधान में केन्द्रीय धारा सभा, केन्द्रीय न्यायालय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी को प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं की अध्यक्षता में बाकी शक्तियाँ अपना काम करती हैं। ऐसा संविधान उन राज्यों में अधिक सफल हो सकता है जिनका क्षेत्रफल छोटा हो तथा जिनकी जनता की भाषा एक हो तथा रस्म-रिवाज में विषमता न हो।

संघात्मक संविधान (Federal Constitution)—यह वह संविधान है जिसमें बहुत से स्वतन्त्र राज्य मिलकर, समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक संघ शासन कायम करते हैं। इस संघ में प्रत्येक संघीय राज्य विशेष क्षेत्रों के अन्तर्गत अपनी स्वाधीनता कायम रखता है, परन्तु कुछ ऐसे विषयों को जिसमें संघ के दूसरे राज्यों के समान ही उसका

हित होता है, वह एक केन्द्रीय सत्ता को सुपुर्द कर देता है। ऐसे विषयों में हम देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा, रेल, तार, डाक इत्यादि का प्रबन्ध, शामिल कर सकते हैं। बाकी मामलों में प्रान्त स्वतन्त्र रहते है। वह इच्छानुसार उनका प्रबन्ध कर सकते है। इस प्रकार का शासन संविधान अमरीका, रूस, आस्ट्रेलिया, कैनाडा, अफ्रीका आदि देशों में है।

संघात्मक शासन संविधान के अन्दर शासन की सभी मशीनें दोहरी होती हैं:— एक केन्द्रीय शासन की और दूसरी राज्यों या प्रान्तों की। दोनों को ही अपनी अलग-अलग शासन-व्यवस्था रखनी पड़ती है? दो धारा सभाएँ, दो कार्यकारिणी, दो न्यायालय, दोहरी राजसत्ता, दो प्रकार के कानून इत्यादि दोहरी चीजें संघात्मक शासन विधान में पाई जाती हैं। नागरिकों को दो जगह के नागरिक अधिकार प्राप्त होते है —एक संघीय शासन के, दूसरे प्रान्त या राज्य की सरकार के। इसलिए उन्हें दोनों ही सरकारों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

एकात्मक और सङ्घीय शासन में अन्तर (Distinction between Unitary and Federal Governments)

(१) संघीय शासन में अधिकार बँटे हुए रहते हैं, एकात्मक विधान में वह केन्द्रीभूत होते है।

(२) संघीय शासन में शासन के अंग, संविधान से अधिकार प्राप्त करते है। एकात्मक राज्य में प्रान्त, केन्द्रीय शासन से अधिकार प्राप्त करते हैं।

(३) संघीय संविधान लिखित और दुष्परिवर्तनशील रहता है। एकात्मक राज्य के लिए ऐसा संविधान जरूरी नही है।

(४) संघीय शासन में, एक स्वतन्त्र न्यायालय (Supreme Court) का होना अनिवार्य है, एकात्मक संविधान में नही।

संघ शासन के उद्देश्य (Purposes of Federation)

संघ शासन की स्थापना मुख्यतया निम्नलिखित उद्देश्यों से की जाती है:—

(१) छोटे-छोटे राज्यों के एक साथ मिलकर संघ बनाने से उनकी शक्ति बढ़ जाती है और वे बाहरी आक्रमण का आसानी से मुकाबला कर सकते हैं।

(२) छोटे राज्य, आमदनी के साधनों की कमी के कारण, अपनी आर्थिक उन्नति ठीक प्रकार से नही कर सकते। बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से यह असुविधा जाती रहती है।

(३) बहुत से राज्य जिनकी सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय परम्परा समान होती है, परन्तु जो अलग-अलग राज्यों में बँटे हुए रहते है, राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के लिए एक संघ बना लेते हैं।

(४) संघ शासन विधान से देश की अंतर्राष्ट्रीय मर्यादा बढ़ जाती है। उसकी राजनीतिक शक्ति बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ उसका आदर-सत्कार करने लगती हैं।

(५) संघात्मक शासन विधान में बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से, उनका खर्चा कम हो जाता है। बची हुई रकम से देश की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति आसानी से की जा सकती है।

(६) इस प्रकार के शासन में एकात्मक शासन तथा स्वतन्त्र शासन दोनों के गुणों का सम्मिश्रण हो जाता है और उनकी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

संघ शासन की स्थापना के लिए आवश्यक शर्तें (Requisite Conditions for the formation of a Federation)

संघ शासन संविधान के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। इनके बिना संघ की स्थापना नहीं हो सकती। डाइसी (Diccy) के कथनानुसार ये शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ की स्थापना के लिए बहुत से छोटे-छोटे राज्य—कम से कम दो—होने चाहिए।

(२) संघ में शामिल होने की इच्छा रखनेवाले राज्य भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से मिले-जुले होने चाहिएँ—दूर-दूर नहीं। उनका क्षेत्रफल भी जहाँ तक हो, समान ही होना चाहिए जिससे कोई बड़ा अंग छोटे अंग को दबाकर न रख सके।

(३) संघ में मिलनेवाले राज्यों की संस्कृति, इतिहास, भाषा, रीति-रिवाज, धर्म जाति इत्यादि एक-से ही होने चाहिएँ जिससे उनमे राष्ट्रीय भावना की जागृति उत्पन्न होने में दिक्कत न हो।

(४) संघ में शामिल होनेवाले राज्यों में मिलकर काम करने की उत्कंठा होनी चाहिए परन्तु एकरूप होकर नहीं। एकरूप होकर काम करने की भावना से संघ का नहीं एकात्मक (Unitary) राज्य का जन्म होता है। उपरोक्त शर्तों के पूरा होने पर ही एक अच्छे और स्थायी संघ की स्थापना हो सकती है।

सङ्घीय संविधान की विशेषताएं (Salient Features of a Federal Constitution)

संघीय शासन का संविधान बनाते समय तीन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए—

(१) संविधान दुष्परिवर्तनशील और लिखित हो—बहुत से राज्यो के बीच, कुछ समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक समझौते या मुहायदे का नाम ही सघ है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इस समझौते या मुहायदे की शर्तें संविधान के रूप मे लिख ली जायँ और बाद में उनको आसानी से न बदला जा सके। संविधान के अलिखित होने से केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य की सरकारों में मतभेद हो सकता है।

(२) अधिकारों का बँटवारा—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार भली भाँति स्पष्ट होने चाहिए। उनका विभाजन साफ और स्पष्ट होना चाहिए। जिस उद्देश्य से संघीय राज्य की स्थापना की जाती है उसमें राष्ट्रीय शासन और पृथक् राज्यो के अधिकारों का बँटवारा सन्निहित होता है और इसलिए, उनके पृथक् कार्य-क्षेत्रों को विशेष रूप से निश्चित कर देना चाहिए। बँटवारे का सिद्धान्त यह होता है कि जो अधिकार सब अंगों के समान हित के लिए होते हैं अर्थात् जिन विषयों में समान नियम तथा नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है वे केन्द्रीय शासन के अधिकार मे रखे जाते है, बाकी विषय स्थानीय अंगों के अधिकार में। उदाहरणार्थ, इस प्रकार के अधिकार जैसे विदेशी नीति (Foreign Policy), रक्षा (Defence), करेन्सी (Currency), सिक्का (Coinage), डाक और तार (Post and Telegraph), आयात और निर्यात (Customs), मुद्रण और प्रकाशन अधिकार (Patents and Copyrights) इत्यादि सभी जगह केन्द्रीय शासन के सुपुर्द किये जाते है। दूसरे अधिकार जैसे शान्ति और व्यवस्था (Law and Order), जेल, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग इत्यादि प्रान्तों के अधिकार में रखे जाते है। संविधान के बचे हुए अधिकार (Residuary powers) कुछ देशों जैसे अमरीका और स्विट्जरलैंड मे केन्द्रीय शासन को दिये जाते हैं। परन्तु कुछ दूसरे संविधानों जैसे, कैनेडा में संघीय शासन को दिये जाते है, प्रान्तों को नहीं।

(३) संविधान के संरक्षण के लिए एक स्वतंत्र न्यायालय की स्थापना—(The establishment of a court to act as interpreter or guardian of the Constitution)—सघ शासन में विषयों का विभाजन कितना ही पूर्ण क्यो न हो, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारो मे संघर्ष अनिवार्य ही रहता है। लिखित शब्दो की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। इसलिए संघ तथा राज्यो की सरकारो का फैसला करने के लिए प्रत्येक सघीय राज्य मे एक स्वतन्त्र न्यायालय का होना अनिवार्य है। यह न्यायालय सघ शासन का रक्षक कहा जाता है।

उपसंहार—शासन संविधानों के उपरोक्त वर्णन के पश्चात् यह जानने की अभिलाषा होती है कि किस प्रकार का संविधान सबसे अच्छा माना जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते है कि कोई एक प्रकार का संविधान प्रत्येक देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नही हो सकता। संविधान की उपयोगिता देश की भौगोलिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था पर निर्भर होती है। एक देश के लिए एकात्मक और दूसरे के लिए संघीय शासन उपयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार की बात लिखित और अलिखित संविधान के बारे में भी है। अच्छे संविधान की पहचान यही है कि वह कहाँ तक जनता की सच्ची इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

शासन संविधान के विकास के साधन (Methods of the Growth of Constitution)

प्रत्येक देश के शासन संविधान में समय की क्रान्ति के साथ-साथ कुछ न कुछ विकास की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह के विकास के तीन मुख्य साधन हैं :—

(१) संशोधन द्वारा (By Amendment)—शासन संविधान में लिखित परिवर्तन करने के तरीके भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। अमेरिका में यह परिवर्तन वहाँ की काग्रेस के तीन-चौथाई तथा राज्यों की धारा सभाओं के दो-तिहाई बहुमत से किया जाता है। इंगलैंड में यह पार्लियामेंट द्वारा किसी दूसरे साधारण कानून की भाँति किया जा सकता है। फ्रान्स में यह परिवर्तन वहाँ की नेशनल एसेम्बली ही कर सकती है। वर्तमान समय में अधिकतर संवैधानिक परिवर्तन लिखित रूप में ही किये जाते हैं।

(२) न्यायालयों के फैसले द्वारा—बहुत से संविधानों में न्यायालयों के फैसलों के द्वारा परिवर्तन किये जाते हैं। जब किसी विषय पर संविधान में कोई निश्चित बात नहीं होती या उसकी किसी धारा के आशय के सम्बन्ध में राजनीतिक पंडितों में मतभेद होता है तो अदालतें ही ठीक बात का निश्चय करती हैं। यही अदालतों के फैसले आगे चलकर शासन संविधान के नियम बन जाते हैं।

(३) रीति-रिवाज (Customs and Conventions)—प्रत्येक शासन संविधान में कुछ रीति-रिवाज भी जन्म ले लेते हैं। जनता की अनुमति के कारण यह शासन संविधान के आवश्यक अंग बन जाते हैं। इनके तोड़े जाने पर कोई संवैधानिक आपत्ति तो नहीं होती परन्तु जनमत, इनके तोड़नेवालों के विरुद्ध हो जाता है। इंगलैंड में इन्हीं रीति-रिवाजों के आधार पर वहाँ का संविधान आश्रित है।

योग्यता-प्रश्न

१. आप राज्य के संविधान से क्या अर्थ समझते हैं ? परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधानों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझाइए। (यू० पी०, १९३७)

२. ऐसा कहा जाता है कि लिखित और अलिखित, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान का अन्तर केवल मात्रा (Degree) का है, प्रकार (Kind) का नहीं। इस पर प्रकाश डालिये।

३. आप संविधान शब्द से क्या समझते हैं ? किस सिद्धान्त पर वर्तमान संविधानों का वर्गीकरण अवलम्बित है ?

४. अच्छे संविधान की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं ?

५. विभिन्न प्रकार के संविधान के तरीकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये और उनका वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है, उसे समझाइए। (यू० पी०, १९३२)

६. एकात्मक और संघीय विधान के भेद को स्पष्ट रूप में समझाइए। (यू० पी०, १९३६)

७. नमनीय और अनमनीय संविधानों पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

८. संविधान शब्द की व्याख्या कीजिए और यह बताइये कि एक अच्छे संविधान में किन-किन बातों की आवश्यकता है? (यू० पी०, १९५४)

अध्याय १४

राज्यों और शासन का वर्गीकरण

§ १. राज्यों का वर्गीकरण

विविध राजनीतिक दार्शनिकों में राज्य के वर्गीकरण के आधार के सम्बन्ध में भारी मतभेद हैं। कुछ लेखकों का कहना है कि राज्यों का वर्गीकरण शासन के आधार पर ही होना चाहिए, क्योंकि शासन ही राज्य का बाहरी स्वरूप है। राज्य के दूसरे गुण गौण हैं। उन गुणों के आधार पर राज्य का वर्गीकरण करना न उपयोगी ही है और न वैज्ञानिक ही। उदाहरणार्थ, राज्य के चार तत्वों में भूमि, जनसख्या, शासन और सार्वभौमिकता हैं। यह चार गुण सभी राज्यों में समान रूप से पाये जाते हैं। यह बात ठीक है कि कुछ राज्यों में भूमि कम होती है, कुछ में अधिक, कुछ राज्यों की जनसंख्या अधिक होती है और कुछ की कम। परन्तु इतना कहने से राज्यों का वर्गीकरण नहीं हो जाता। वास्तव में राज्य का बाह्य स्वरूप, जिसे जनता देखती है तथा जिसे आसानी से जाना जा सकता है, शासन ही है। इसी के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण होना चाहिए। लीकॉक (Leacock), गिलक्राइस्ट (Gilchrist) और कुछ अन्य लेखक भी इसी मत के अनुयायी हैं।

§ २. शासन या सरकार का वर्गीकरण

अरस्तू का वर्गीकरण

शासन के आधार पर, भिन्न-भिन्न लेखकों ने राज्यों का अलग-अलग प्रकार से वर्गीकरण किया है। इन वर्गीकरणों में प्राचीन राजनीतिज्ञ अरस्तू (Aristotle) का वर्गीकरण सबसे प्रसिद्ध है। इस वर्गीकरण का आधार सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों की संख्या तथा उनका शासन-सिद्धान्त है। अरस्तू के कथनानुसार, शासकों का शासन या तो जनता के हित के लिए होता है या अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए। जिन राज्यों का लक्ष्य जनता की सेवा है उन्हें उचित (Normal form) तथा जिनका लक्ष्य स्वार्थसिद्धि है उन्हें विकृत (Perverted form) राज्य कहा जाता है। इस सिद्धान्त को शासकों की सख्या वाले सिद्धान्त से मिलाकर अरस्तू ने राज्यों की निम्नलिखित किस्में बतलाई हैं :—

शासन-विधान का स्वरूप	उचित दशा जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान रखता है	विकृत दशा जिसमें शासक अपनी स्वार्थ सिद्धि का ध्यान रखता है
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र या एकतंत्र (Monarchy)	अत्याचार तन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र (Oligarchy)
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	प्रजातन्त्र (Democracy)	भीड़तन्त्र (Mobocracy)

अरस्तू ने बहुसंख्यक, उचित शासन के लिए प्रजातंत्र (Democracy) शब्द के स्थान पर बहुतन्त्र (Polity) शब्द का प्रयोग किया था, और भीडतन्त्र (Mobocracy) के स्थान पर प्रजातन्त्र (Democracy) शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु आजकल प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग बहुधा शुद्ध और साधारण तरीके के शासन के लिए किया जाता है। इसलिए उपरोक्त तालिका में प्रजातन्त्र के कलुषित रूप के लिए भीड़तन्त्र (Mobocracy) शब्द का प्रयोग किया गया है।

सरकारों का परिवर्तनचक्र—अरस्तू ने बतलाया कि किस प्रकार सरकारों के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। उसने कहा कि सर्वप्रथम सब राज्यों में एकतंत्रीय सरकार होती है। इस सरकार के अन्तर्गत राजा जनता के हित में देश का शासन करता है, परन्तु कालान्तर में ऐसे राजा जन्म लेने हैं जो जनता के हित की नहीं, वरन् स्वयं अपनी स्वार्थसिद्धि करने लगते हैं। ऐसे समय में जनता के विवेकशील तथा सदाचारी व्यक्ति अत्याचारी शासक के विरुद्ध हो जाते हैं और उसे पदच्युत कर स्वयं अपने हाथ में शासन की बागडोर संभाल लेते हैं। इस प्रकार कुलीनतन्त्र शासन की स्थापना हो जाती है। परन्तु कुछ समय पश्चात् ये थोड़े से व्यक्ति जनता के हित के बजाय स्वय अपनी हित-साधना में लग जाते हैं और कुलीनतंत्र सरकार वर्गतंत्र में बदल जाती है। वर्गतंत्र में धनी व्यक्तियों का राज्य होता है, गुणी पुरुषों का नहीं। यह लोग जनता का शोषण कर केवल धन के एकत्रीकरण को ही अपना ध्येय बना लेते हैं, इसलिए जनता इनके विरुद्ध भी विद्रोह कर बैठती है, और स्वय अपने हाथ में राज की शक्ति सँभाल लेती है। इस प्रकार प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना हो जाती है। कुछ काल पश्चात् प्रजा में फूट फैल जाती है और सब व्यक्ति अपने-अपने हाथों में ही शासन-शक्ति को केन्द्रित करने के लिए उतावले हो जाते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र शासन जनता का शासन न रहकर एक भीड़ का शासन बन जाता है। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कोई एक नेता अपने हाथ में सारी शक्ति ले लेता है, और इस प्रकार फिर एकतंत्र शासन का जन्म

हो जाता है। अरस्तू का कहना था कि सरकारों का यह परिवर्तन-चक्र अबाध रूप से चलता रहता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—अरस्तू का शासनों का वर्गीकरण बहुत काल तक ठीक माना जाता रहा। अनेक लेखकों ने घुमा-फिराकर इसी वर्गीकरण को अपनाया, परन्तु आधुनिक काल मे यह वर्गीकरण दोषपूर्ण सिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि अरस्तू ने मम्मिलित सरकारो के लिए कोई रूप निश्चित नही किया। आजकल बहुत-सी सरकारें ऐसी पाई जाती है जिनमें प्रजातन्त्र, कुलीनतत्र तथा एकतत्र सभी सरकारो के गुण विद्यमान रहते है। इसके अतिरिक्त अध्यक्षात्मक, समदीय, सघात्मक, एकात्मक धर्मतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष राज्यों का अरस्तू ने कोई जिक्र नही किया।

सरकारों का आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक काल मे अनेक लेखको ने जिनमें मौन्टेस्क्यू, बर्गेस, मैरियट, लीकॉक, गार्नर इत्यादि प्रमुख है सरकारो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। इनमे से किसी एक मत को सर्वश्रेष्ठ ठहराना ठीक नही, कारण सभी वर्गीकरणो मे कुछ गुण तथा दोष विद्यमान है। आजकल के राज्यो को देखते हुए जिस आधार पर अधिकतर सरकारों का वर्गीकरण किया जाता है वह निम्नलिखित है :—

(१) धर्म और राजनीति का संबंध—इस आधार पर सरकारो को धर्मतंत्र या धर्म-निरपेक्ष कहा जाता है।

(२) शासकों की संख्या—इस आधार पर सरकारो को राजतत्र (निरकुश या सीमित) तानाशाही, नौकरशाही, या प्रजातान्त्रिक (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष) कहा जाता है। कुलीनतत्रो की प्रथा आजकल समाप्त हो गई है, केवल राज्यो की उच्च विधान सभा में उसके कुछ तत्व पाये जाते है।

(३) कार्यपालिका और विधान सभा का संबंध—इस आधार पर सरकारों को मत्रिमडलात्मक (संसदीय) या अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपतिक) कहा जाता है।

(४) शासन के अधिकारों का विभाजन—इस आधार पर शासनों को एकात्मक या संघात्मक कहा जाता है।

सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण का विस्तृत विवेचन करने से पहिले हम उसके प्राचीन वर्गीकरण के आधार पर सरकारों का विश्लेषण करेंगे, और प्रत्येक प्रकार की सरकार के गुण व दोषों पर प्रकाश डालेगे। इसके पश्चात् आधुनिक वर्गीकरण के अंतर्गत सरकारों का वर्णन किया जायगा।

§ ३. सरकारों का प्राचीन वर्गीकरण

जैसा पहिले बताया जा चुका है, अरस्तू ने सरकारों के तीन साधारण रूप बतलाए थे—राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा प्रजातन्त्र। अब हम इन तीनों प्रकार की सरकारों का विस्तृत वर्णन करेंगे।

राजतन्त्र

यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमें राज्य का अन्तिम अधिकार एक ही मनुष्य के हाथ में रहता है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में, प्राचीन काल में, राज्य की यही प्रणाली थी। राजा दो प्रकार के हुआ करते थे—(१) निर्वाचित अर्थात् जनता द्वारा चुने हुए और दूसरे (२) वंशपरम्परागत। अधिकतर राजा वंशपरम्परागत ही होते थे। वर्तमान काल में निर्वाचित (Elected) राजाओं की प्रणाली नहीं है। वे या तो निरंकुश राजा (Absolute Monarch) होते हैं या वैधानिक राजा (Constitutional Monarch)।

(अ) निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy)—यह शासन की वह व्यवस्था है जहाँ अकेला मनुष्य राज्य के शासन-यंत्र का संचालन करता है। वह राज्य-कार्य चलाने मे अपनी प्रजा की राय नही लेता। उसकी शक्ति असीमित होती है, वह अपने इच्छानुसार शासन करता है। कोई भी कानून या संवैधानिक अवरोध उसके कार्य मे बाधा नही डाल सकने।

निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा से लाभ—निरंकुश राजतत्र की प्रथा संसार में सबसे पुरानी, सबसे अधिक विस्तृत तथा सबसे अधिक स्वाभाविक प्रथा है। सारा संसार इसी शासन के तरीके से आरम्भ हुआ और आज भी यह प्रथा कितने ही देशों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनेक लाभ हैं :—

(१) सर्वप्रथम, यह शासन की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अन्यान्य शासनों की अपेक्षा अधिक शक्ति, संगठन की सादगी, शीघ्र काम करने की क्षमता, उद्देश्य तथा नीति की समानता और दीर्घकालीनता के गुण वर्तमान रहते हैं।

(२) इस प्रकार के शासन में कानून पर आसानी से अमल किया जा सकता है क्योंकि राजा को शिक्षित उच्च पदाधिकारियों को चुनने का पूर्णाधिकार रहता है और यह कर्मचारी एक ही मनुष्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(३) सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में यही शासनप्रणाली समाज में नियंत्रण तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती थी। यह शासन-प्रणाली देश के विभिन्न अंगों को एक मजबूत संगठन में आबद्ध करके संवैधानिक शासन का मार्ग तैयार करती है।

(४) इस प्रकार का शासन कम खर्चीला होता है—विधान सभाओं को कायम करने और चुनाव संचालन के लिए जो अत्यधिक धन व्यय होता है उसकी इस शासन में बचत हो जाती है।

(५) राजा राज्य का बुद्धिमान् मुखिया होता है और इसलिए युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय सब लोग उसकी छत्रछाया में इकट्ठे होकर अपनी राज तथा देश भक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं।

निरंकुश राजतन्त्र से हानि—निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा वर्तमान परिस्थिति के लिए उपयुक्त नही है। कोई भी सभ्य समाज इस प्रकार के शासन को पसन्द नहीं करता। इसके अनेक कारण हैं :—(१) सर्वप्रथम निरंकुश राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है तथा उन्हें अपनी स्वार्थ-सिद्धि के काम में ला सकता है। ऐसा करने से उसे कोई शक्ति नहीं रोक सकती। निरंकुश राज्य में इसलिए प्रजा अधिकतर दुखी रहती है। इस प्रकार का राज्य अच्छा हो सकता है यदि राजा अच्छा हो। परन्तु ऐसा सदा सम्भव नहीं होता।

(२) अच्छे शासन की परीक्षा केवल उसके शासन की कुशलता से ही नही की जाती वरन् उसके जनता में आत्म-सम्मान, विश्वास तथा शिक्षा प्रदान करने की शक्ति से की जाती है। निरंकुश राजतन्त्र में ये सब बातें नही पाई जाती।

(३) इस प्रकार के शासन से जनता में राजनीतिक जागृति पैदा नही होती और वह सुस्त, अकर्मण्य और आलसी बनी रहती है।

(४) राजा चुनने की वंश-परम्परागत प्रथा किसी भी प्रकार न्यायसंगत नही कही जा सकती। एक विशेष राजा अच्छा हो सकता है परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी सन्तान भी योग्य ही होगी।

यह प्रथा वर्तमान काल में यूरोप के प्रायः सभी देशो में से उठ गई है और पूर्वीय देशों से धीरे-धीरे उठती चली जा रही है।

संवैधानिक या सीमित राजतन्त्र (Constitutional or Limited Monarchy)—यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमे राजा के अधिकार वैधानिक कानून के द्वारा सीमित कर दिये जाते हैं। राजा सविधान को रद्द नही कर सकता। वह इस प्रकार के संविधान में सिंहासनारूढ़ अवश्य रहता है, परन्तु प्रजा पर शासन नहीं करता। वह केवल राज्य का एक आदरणीय मुखिया समझा जाता है। देश का असली शासन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा किया जाता है। इगलैंड, बेलजियम, हॉलैंड इत्यादि देशों में इसी प्रकार का शासन-विधान है।

संवैधानिक राजतन्त्र से लाभ—संवैधानिक राजतन्त्र के अनेक गुण होते हैं—(१) इस प्रकार के शासन मे स्वेच्छाचारी राजा के दोष निकलकर सुयोग्य राजा के न्यायपूर्ण शासन के गुण आ जाते हैं।

(२) राजा राज्य का प्रत्यक्ष मुखिया होता है और इसलिए उसके प्रति लोगों की राजभक्ति अधिक जागृत होती है।

(३) निर्वाचन के फलस्वरूप, राज्य की कार्यकारिणी के नेता के चुने जाने के समय जो राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथल कभी-कभी हो जाती है, उसे इस प्रकार का शासन मिटा देता है।

(४) यह राज्यसंचालन में कार्यकारिणी की नीति की दीर्घकालीनता को प्रोत्साहित करता है।

(५) शासन की कार्यकारिणी सभा को एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के उचित परामर्श का लाभ प्राप्त हो जाता है जिसे शासन-कार्य का काफी अनुभव प्राप्त रहता है।

हानि (Defects)—इस प्रथा में कुछ दोष भी हैं।

(१) सर्वप्रथम यह कि वंश-परम्परागत राज्यारोहण से इस बात का कभी भी विश्वास नहीं होता कि राज्य के एक विशेष राजा का उत्तराधिकारी भी हमेशा योग्य शासक ही सिद्ध होगा।

(२) दूसरे, इस प्रकार के शासन मे इस बात का सन्देह भी बना रहता है कि कहीं राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करने लगे। (३) आजकल के प्रजातन्त्रवादी युग में, जहाँ सर्वत्र समानता और भाईचारे का प्रचार है, यह प्रथा समयानुकूल नहीं जान पड़ती।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

कुलीनतन्त्र शासन हम उस प्रकार की शासन-व्यवस्था को कहते हैं जिसमे कुछ थोड़े से बड़े व्यक्ति शासन का संचालन करते हैं। यह बड़े व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं—सबसे धनवान्, सबसे कुलीन, सबसे बुद्धिमान्, आचारवान्, सबसे बलवान् इत्यादि। कुलीनतन्त्र शासन के भी इसी कारण यह सब भेद हो सकते हैं।

कुलीनतन्त्र कोई बुरी सरकार नहीं है। यदि थोड़े से योग्य और बुद्धिमान् व्यक्ति सम्पूर्ण प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए शासन करें तो वह बुरी सरकार न होगी। परन्तु ऐसा प्रायः सम्भव नहीं होता। कुलीनतन्त्र शासन मे सरकार की बागडोर बुद्धिमानों के हाथ से निकलकर पूँजीपतियों के हाथ में चली जाती है; क्योंकि वही अपने धन की शक्ति से दूसरों पर छा जाते हैं। धनियों का शासन सदा अच्छा नहीं होता; एक तो इस कारण से कि धनी लोग अक्सर चरित्रहीन होते हैं, उनका रुपया अधिकतर बेईमानी और छल-कपट से कमाया होता है और दूसरे इसलिए कि धनी अपने स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं, जनता की भलाई का बहुत कम।

कुलीनतन्त्र शासन वर्तमान काल में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह प्रजातन्त्रवाद का युग है, परन्तु फिर भी प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में कुलीन-

तन्त्र शासन की प्रथा कायम रक्खी गई है। विधान-मण्डलों के उच्च भवन (Upper Houses) में प्रायः प्रत्येक देश में धनी, शिक्षक, जमीदारों, पूँजीपतियों तथा बड़े कुल वालों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

कुलीनतन्त्र शासन के गुण—कुलीनतन्त्र शासन मे अपनी कुछ विशेषताएँ होती है। (१) सर्वप्रथम यह कि इस प्रकार के शासन में भीड़ का शासन नही होता। बस कुछ थोड़े से बुद्धिमान् तथा चुने हुए बड़े व्यक्तियों का शासन होता है। (२) दूसरे, इस प्रकार के शासन में अनुभव और शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। केवल उन्ही लोगों के हाथ मे राजसत्ता सौंपी जाती है जिन्हे शासन-कला की विशेष शिक्षा मिली हो। (३) तीसरे, इस प्रकार के शासन में प्राचीन रीति-रिवाजों, जन-श्रुतियों तथा सस्कृति और साहित्य की अधिक इज्जत की जाती है। ऐसे शासन मे राज्य और सामाजिक क्रान्तियाँ कम होती है। (४) चौथे, यह शासन अधिक स्थायी होता है और इसमें सरकार की नीति मे आये दिन परिवर्तन नही होते। (५) पाँचवे, इस प्रकार की शासन-प्रणाली मे राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनो प्रकार के शासनो के दोषो का अभाव रहता है। (६) अन्त मे यह शासन उन लोगो द्वारा सचालित होता है जिनका समाज में अपने धन, चरित्र या कुल की महत्ता के कारण अधिक मान होता है।

दोष—परन्तु इस प्रकार के शासन में कुछ दोष भी होते है और उनमे सबसे बड़ा यह है कि जब किसी विशेष वर्ग के लोगो के हाथ मे शासन की बागडोर आ जाती है तो वह सरकार की मशीन का उपयोग जनता की भलाई के लिए नही वरन् अपने स्वार्थ के लिए करने लगते है। ऐसे कुलीन लोग किसी समाज में बहुत कम मिलते है जो जनता की ही भलाई का ध्यान रक्खे, अपनी भलाई का नही। (२) दूसरे, कुलीनतन्त्र शासन में अक्सर धनी लोगो का ही राज्य होता है और धन सदा बुद्धि का परिचायक नही। (३) तीसरे, इस प्रकार का शासन वश-परम्परागत की प्रथा अख्तियार कर लेता है, और शासक वर्ग के कुल में ही राजसत्ता तबदील होती रहती है। (४) अन्त मे यह शासन-व्यवस्था उन्नतिशील नही होती; इसमें अपरिवर्तनशीलता का अंश रहता है।

प्रजातन्त्र सरकार (Democracy)

प्रजातन्त्र सरकार का अर्थ प्रजा का शासन है। जिस देश में जनता अपनी स्वेच्छा से राजकीय कामो में भाग लेती है तथा राज्य के कार्य का स्वयं संचालन करती है, उस देश में प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था मानी जाती है। प्रजातन्त्र राज्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार से की है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ब्राइस (Bryce) का कथन है कि "प्रजातन्त्र राज्य शासन का वह प्रबन्ध है जिसमें राज्याधिकार किसी विशेष श्रेणी के लोगों को नहीं वरन् समूचे समाज के लोगों को प्रदान

किये जाते हैं।"[1] अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) का कहना है "प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता, अपनी भलाई के लिए अपने तरीके पर शासन करती है।"[2] अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र सरकार वह है जिसमें राज्य के बहुसंख्यक वर्ग का शासन हो। सीले के मतानुसार "प्रजातन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें सभी का भाग रहता है।" डाइसी की सम्मति में "प्रजातन्त्र वह राज्य है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

संक्षेप में प्रजातन्त्र सरकार वह सरकार है जहाँ चुनाव के अधिकार के द्वारा जनता के प्रत्येक बालिग पुरुष या स्त्री को, अपने शासक चुनने का अधिकार होता है तथा जहाँ जनता अपनी राय के द्वारा शासन की नीति का निर्णय कर सकती है।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ (Wider meaning of Democracy)

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रजातन्त्र केवल सरकार की व्यवस्था का ही एक रूप नहीं है, वह समाज और उसकी आर्थिक व्यवस्था का भी एक विशेष रूप है। वास्तव में, किसी देश में वहाँ की जनता को मताधिकार देने से ही प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, असली प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए अन्य कई बातों की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार के राजनीतिक संगठन, सामाजिक सङ्गठन तथा आर्थिक व्यवस्था का नाम है। (Democracy is not only a form of government, it is a form of Society, a form of State and a form of economic and moral order.)

राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र शासन का केवल यही अर्थ नहीं कि राज-शक्ति जनता के हाथ में हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि जनता ही राज-काज का काम चलाती हो, अपने लिए स्वयं कानून बनाती हो, अपने शासकों का स्वयं चुनाव करती हो तथा उन्हें जब चाहे बदल सकती हो। इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में **प्रजातंत्र का अर्थ है कि समाज में** जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-अछूत और छोटे-बड़े का भेद-भाव नहीं होना चाहिए। सब मनुष्य बराबर समझे जाने चाहिएँ, जन्म, धन, खून अथवा जाति की महत्ता के कारण कोई मनुष्य दूसरों से बड़ा नहीं माना जाना चाहिये। मानवता के आधार पर सब मनुष्य बराबर हैं। उनमें अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए एक-सी ही शक्तियाँ विद्यमान हैं। उन्हें समाज में उन्नति करने के एक-से ही अवसर

---

१ "That form of Government in which the ruling power of a State is legally vested, not in any particular classes, but in the members of the community as a whole." (Bryce)

२ "Democracy is a Government of the people, for the people, and by the people" (Abraham Lincoln)

प्रदान होने चाहिए। **आर्थिक क्षेत्र** में प्रजातन्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जीविका के सम्बन्ध में स्वावलम्बी तथा स्वतन्त्र हो और देश के सभी मनुष्यों की आर्थिक स्थिति लगभग समान हो। एक ओर घोर गरीबी और दूसरी ओर अत्यन्त धन-सम्पन्नता के वातावरण में प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। जिस देश में गरीब किसान और मज़दूरों का शोषण होता हो तथा जहाँ कुछ थोड़े से पूँजीपतियो के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति और उत्पादन-शक्ति केन्द्रित हो वहाँ प्रजातन्त्र राज्य कायम नहीं रह सकता। ऐसे देश में राजनीतिक शक्ति भी धन-संपन्न लोगों के हाथ में ही रहती है, ऐसे लोग धन के बल पर राय खरीद सकते हैं और इस प्रकार शासन की मशीन को अपने कब्जे में कर सकते हैं।

वास्तव में प्रजातन्त्र एक ऐसा नैतिक सिद्धान्त है जिसके अंतर्गत किसी देश की समाज और सरकार का संगठन मानवता के आधार पर होता है। इस प्रकार के संगठन में जनता में राजनीतिक जागृति तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के प्रति उत्कंठा का भाव होना अत्यंत आवश्यक है। जिस देश की जनता पिछड़ी हुई है, जहाँ उसमें किसी प्रकार की राजनीतिक जागृति (Political consciousness) नही है, तथा जहाँ कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगों के पास ही धन-सामग्री जुटी हुई है, वहाँ किसी भी प्रकार का प्रजातन्त्र राज्य कायम नही हो सकता।

प्रजातंत्र शासन और स्वतंत्रता एवं समानता का सिद्धान्त

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त राजनीति के दो मूल सिद्धान्तों पर अवलम्बित है—(१) स्वतन्त्रता (Liberty) और (२) समानता (Equality)। इन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। यहाँ केवल यह बतला देना पर्याप्त होगा कि इनका प्रजातन्त्र से क्या सम्बन्ध है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर मिले। यह तभी हो सकता है जब देश के शासन में सभी का हाथ हो। इसी प्रकार समानता का अर्थ है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य को समान अवसर प्राप्त हों। यह बात भी एक पूर्ण प्रजातन्त्र शासन में ही पूरी हो सकती है। प्रजातन्त्र राज्य में प्रत्येक मनुष्य को राजकीय कार्यों में भाग लेने का समान अवसर प्रदान किया जाता है तथा उसे शिक्षा, सरकारी नौकरी तथा धनोपार्जन के समान अवसर प्रदान किये जाते हैं।

प्रजातन्त्र शासन के गुण—प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में एक विशाल राजनीतिक साहित्य तैयार हो गया है। संभवतः शासन के किसी भी दूसरे तरीके का इसके समान वर्णन नहीं किया गया। कुछ लोगों ने इस राजनीतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है और कुछ ने इसका विरोध। परन्तु अधिकांश लेखक इसके समर्थक ही दिखलाई पड़ते हैं। जार्ज बानक्राफ्ट (George Bancraft) के समान कुछ प्रजातन्त्रवादी

लेखक तो इस सिद्धान्त को एक ईश्वरीय तथा दैवी सिद्धान्त मानते हैं और उसे शासन का एक अत्यन्त पावन आदर्श तथा सर्वोत्कृष्ट साधन कहते हैं। परन्तु कुछ दूसरे प्रजातन्त्रवादी, इस शासन के समर्थक होने के साथ-साथ, इसके दोषों को भी भली भाँति समझते हैं। उनका कहना है कि इन दोषों के रहते हुए भी प्रजातन्त्रवादी शासन राज्य का सर्वोत्तम विधान है। दोष और गुण सभी प्रकार के शासनों में पाये जाते हैं। प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्त में गुण अधिक हैं और दोष कम। वह दोष भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्त में इतने नहीं जितने उसके व्यवहार में हैं और जनता को उचित प्रकार की शिक्षा देकर इन दोषों को दूर किया जा सकता है।

प्रजातन्त्र से दो लाभ हैं। पहला यह कि इसमें शासन का कार्य बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है और दूसरा यह कि यह मनुष्यों के नैतिक और बौद्धिक आचरण पर अच्छा प्रभाव डालता है। हम प्रजातन्त्र के लाभों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं :—

(१) यह शासन का वह तरीका है जो जनमत पर अवलम्बित रहता है। यह जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा संचालित किया जाता है, जो सदा सार्वजनिक नियंत्रण के अधीन तथा मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी रहते हैं।

(२) यह इस बात का विश्वास दिलाता है कि राज्य की नीति निर्धारित करते समय सब हितों का समान रूप से विचार किया जायगा। इस प्रकार इस शासन में अल्पसंख्यक जातियों को अपने मत प्रकट करने तथा अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं। प्रजातन्त्र शासन में इस बात का भय नहीं रहता कि शासक किसी जाति या समुदाय विशेष के हित के लिए ही कानून बनायेंगे और दूसरे लोगों के हित का ध्यान न रखेंगे।

(३) इसमें निरंकुश तथा कुलीन वर्ग के शासन के दोषों का डर नहीं रहता, यह जनता का अपना शासन होता है।

(४) इसमें शासन के विरुद्ध सामाजिक विद्रोह का भय कम हो जाता है; क्योंकि जनता इस शासन को अपना ही शासन मानती है। इस प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से यह शासन का सबसे स्थायी तरीका है।

(५) यह सब मनुष्यों की समानता के मौलिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। यह सभी मनुष्यों को समाज के विस्तृत जीवन में भाग लेने के योग्य समझता है और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है। इस शासन-प्रबन्ध में गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपनी योग्यता के आधार पर, राज्य में अधिक से अधिक गौरव तथा मान प्राप्त कर, अपनी उन्नति कर सकता है।

(६) यह मनुष्य को नैतिक और राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है। यह राज्य के नागरिकों में सहनशीलता, मेल-जोल, मित्रता, सहानुभूति, प्रेम, सहयोग, सेवा और

स्वार्थ-त्याग की भावनाओं को विकसित करता है। इस प्रकार यह क्रियाशील, स्वस्थ और विचारशील नागरिकों को शिक्षा के निर्माण में सहायता देता है।

(७) यह नागरिकों को एक उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए छोटे स्वार्थों के बलिदान करने की शिक्षा देता है। उदाहरण के लिए, यह छोटे समुदाय जैसे परिवार, जाति या धार्मिक समाज के हितों को राष्ट्रीय भलाई के लिए बलिदान करने का पाठ पढ़ाता है।

(८) यह सर्वसाधारण में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करता है तथा उन्हें स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बनाना सिखाता है।

(९) यह साधारण मनुष्य को राज्य की समस्याओं को समझने तथा उसे अपने देश के शासन में भाग लेने के योग्य बनाता है।

प्रजातंत्र के दोष

परन्तु इन सब गुणों के साथ-साथ प्रजातंत्र राज्य में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से कुछ दोष भी होते हैं। लेकी (Lecky), मेन (Maine), बारकर (Barker) इत्यादि अनेक लेखकों ने इन्हीं कारणों से प्रजातंत्र के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना भी की है। यह सब लेखक प्रजातन्त्र में निम्नलिखित दोष बतलाते हैं :—

(१) प्रजातन्त्रात्मक शासन में गुण (Quality) की अपेक्षा संख्या (Quantity) पर अधिक जोर दिया जाता है। इसी कारण यह योग्य तथा आचारवान पुरुषों का शासन न रहकर मूर्खों, अशिक्षितों तथा अज्ञानियों का शासन बन जाता है।

(२) यह सब मनुष्यों के मत को एक-सा ही मूल्य प्रदान करता है। राज्य के एक बड़े से बड़े व्यक्ति के मत की इस शासन-व्यवस्था में वही कीमत होती है जो बड़े से बड़े मूर्ख की। प्रत्येक समाज में अधिकतर मूर्खों की ही संख्या होती है, इसलिए प्रजातन्त्र शासन योग्य पुरुषों का शासन न रहकर 'मूर्खों का शासन' बन जाता है।

(३) इस प्रकार के शासन में राज्य के कानून बहुमत के आधार पर बनते हैं, चाहे वह बहुमत कितना ही कम क्यों न हो और कितनी ही अव्यावहारिक तथा बुद्धिहीन बात क्यों न कहता हो।

(४) यह वक्तृत्व कला (Demagogy) को उत्साहित करता है। चुनाव के समय सर्वसाधारण उन लोगों की वक्तृता से अधिक प्रभावित होते हैं जो उनकी भावनाओं को उत्तेजित कर सकें। अतः मत प्राप्त करने के प्रभावोत्पादक वाक्य-समूह और दलबन्दी के चित्ताकर्षक संकेत-शब्द लोगों पर विद्वत्तापूर्ण भाषणों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालते हैं।

(५) "प्रजातन्त्रात्मक समानता एक भयंकर प्रपंच है" (Burke), एक अत्यन्त अविश्वसनीय और व्यर्थ विचार है। शासन एक कला है जिसके लिए विशेष बुद्धि और

ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इसकी नीति के निर्माण में केवल उन्हीं लोगों को भाग लेना चाहिए जिन्हें इस कार्य के करने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा दी गई हो।

(६) लेकी का कथन है कि "प्रजातन्त्र का अर्थ अज्ञानियों का राज्य और स्वाधीनता का नाश है।"

"यह व्यक्तिगत स्वाधीनता को कम करता है क्योंकि इसकी मनोवृत्ति बहुत अधिक कायदे-कानून बनाने की ओर रहती है।" सर हेनरी मेन की धारणा है कि "प्रजातन्त्र बौद्धिक उन्नति के लिए और साहित्य, विज्ञान और कला के विकास के लिए अनुपयुक्त है।"

(७) यह गरीबों के फायदे के लिए अमीरों का शोषण करता है। यह बौद्धिक विकास का प्रतिशोधक है। यह जन-समूह का शासन है। इसमें निरंकुश भावुकता और राष्ट्रीय सदाचार के ह्रास के चिह्न पाये जाते हैं।

(८) प्रजातन्त्र के विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग यह है कि इसमें धन का बहुत अधिक खेल खेला जाता है। महत्त्वाकांक्षी उम्मीदवार, जो अधिक धनवान होते हैं, चुनाव में गरीब लोगों के मत खरीद कर विधान सभा के सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार का शासन किसी भी प्रकार सर्वोत्तम शासन नहीं कहा जा सकता।

(९) प्रजातन्त्र शासन के अधीन ऐसे देश की सरकार सदा बदलती रहती है, जहाँ दो से अधिक राजनीतिक दल होते हैं। सरकार के हर समय बदलते रहने से सार्वजनिक कार्यों की देख-भाल नहीं हो पाती।

(१०) शासन के इस तरीके में दलबन्दी प्रथा की सभी बुराइयाँ विद्यमान रहती हैं। इस शासन से केवल वही लोग राजसत्ता प्राप्त कर सकते हैं जो किसी दल के नेता हों तथा जो चुनाव के समय जनता से झूठी-मूठी प्रतिज्ञाएँ करके उनकी राय हासिल कर सकें। चुनाव के समाप्त होते ही ऐसे लोग अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर अपनी स्वार्थसिद्धि में लग जाते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र सरकारों में दलबदी का इतना अधिक जोर रहता है कि निष्पक्ष और स्वाभिमानी व्यक्ति कभी भी चुनाव में भाग नहीं ले सकते और इस प्रकार देश की सरकार झूठे, पदलोलुप तथा आचारहीन व्यक्तियों के हाथ में चली जाती है। राजनीतिक दलों के अन्दर भी एक ऐसा गुट्ट रहता है जो अपने इच्छानुसार मनमाने प्रतिनिधि चुनाव में खड़ा करता है तथा जीत होने पर अपने ही लोगों की सरकार बनाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करता है।

प्रजातन्त्र सिद्धांत के विरुद्ध व्यावहारिक आलोचनाएँ—लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों में निम्नलिखित दोष बतलाये हैं:—

(१) धन और धनी लोगों का प्रजातन्त्रात्मक राज्य में बहुत अधिक प्रभाव रहता है। रिश्वत या चन्दा देकर धनी लोग राजनीतिक नेताओं और दलों को अपने हक़ में कर लेते हैं और फिर चुनाव में खड़े होकर स्वयं ही राजसत्ता का भोग करते हैं।

(२) प्रजातन्त्र में लोग राजनीति या सार्वजनिक जीवन को अपना पेशा या व्यवसाय बना लेते हैं, वह राजनीति में देश-सेवा के विचार से भाग नही लेते वरन् अपनी रोटी कमाने के लिए लेते हैं।

(३) प्रजातन्त्र शासन में फिजूलखर्ची बहुत होती है। बहुत-सा धन विधान-मंडल के सदस्यों की तनख्वाहों, भत्ते, सफर खर्च इत्यादि में खर्च हो जाता है।

(४) समानता के सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ है कि लोग बिना किसी विशेष शिक्षा के ही, अपने आपको प्रत्येक राजनीतिक पद के लिये उपयुक्त समझने लगे हैं। वह यह नही समझते कि शासन विशेषज्ञों का काम है।

(५) प्रजातन्त्र शासन में राजनीतिक दलो के हाथ में बहुत शक्ति आ जाती है और उसका अक्सर दुरुपयोग होता है।

(६) विधान सभा के सदस्य देश के वास्तविक हित की दृष्टि से काम नही करते वरन् ऐसे काम करते हैं जिनके कारण अगले चुनाव मे उन्हे अधिक वोट मिल सकें।

(७) कुछ देशों में जहाँ राजनीतिक दलो की अधिकता होती है, टिकाऊ और दीर्घजीवी सरकारें नही बन पातीं, जिससे देश का शासन अस्त-व्यस्त दशा में हो जाता है।

(८) अधिकांश देशों में मतदाता अपना मत लापरवाही से देते हैं। वह अच्छे-बुरे का विचार नहीं करते, इससे अयोग्य पुरुष धारा सभाओ में पहुँच जाते हैं। कहीं-कहीं लोग बहुत थोड़ी संख्या में चुनावों में भाग नही लेते।

(९) इनके अतिरिक्त ब्राइस के मतानुसार आजकल राज्य का काम इतना अधिक और जटिल हो गया है कि धारा सभा के अधिकतर सदस्य उसे समझने की क्षमता नहीं रखते, इस कारण शासन का स्तर गिर जाता है। ब्राइस के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनीतिक लेखकों ने भी प्रजातन्त्रवाद की असफलता के कारण बतलाये हैं।

उदाहरणार्थ एडवर्ड मेकैसनी (Edward Mechesny) का मत है कि प्रजातन्त्र की असफलता का प्रधान कारण लोगों की बौद्धिक क्षमता को घटा देना है। जो शासन अशिक्षित जन-समुदाय के द्वारा शासकों के चुने जाने के सिद्धान्त पर अवलम्बित है वह कभी सफल नही हो सकता। जब तक प्रजातन्त्र उचित शिक्षा द्वारा सर्वसाधारण को शिक्षित बनाने में सफल नही होता, तब तक उसकी असफलता बिल्कुल निश्चित है।

प्रजातन्त्र उस दशा में सफल हो सकता था जब वह सर्वसाधारण का, सर्वसाधारण के लिए और सर्वसाधारण द्वारा, शासन होता। आधुनिक प्रजातत्रवादियों ने

मनुष्यों को मताधिकार तो प्रदान कर दिया परन्तु शेष दो आदर्शों की ओर कोई भी ध्यान नही दिया।

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, दमन और अत्याचार, पराधीनता और गुलामी के वातावरण में कभी भी सफल नही हो सकता। आज अधिक समुन्नत और सभ्य कहलानेवाले देश प्रजातन्त्रात्मक उसूलों की दुहाई देते हुए भी साम्राज्यवाद (Imperialism) के हामी है। यह दोनों सिद्धान्त किसी दशा में भी साथ-साथ नही चल सकते।

आधुनिक प्रजातन्त्रवादी इस बात को भूल जाते है कि जब तक आर्थिक न्यूनतम के अधिकार और धन के समान वितरण के सिद्धान्तो का समाज में प्रयोग नही किया जाता तब तक प्रजातन्त्रवाद कभी भी सफल नही हो सकता। एक ओर दुर्दमनीय गरीबी और दूसरी ओर अपार धन, प्रजातन्त्र मे साथ-साथ नही चल सकते।

प्रजातन्त्र शासन मे प्रचलित प्रतिनिधि प्रथा अत्यन्त दूषित है। इस प्रथा के अन्तर्गत शासक वर्ग निर्वाचन-क्षेत्रो को अपनी सुविधा के अनुसार, इस तरह बनाते है जिससे चुनाव में सदा उनके ही उम्मीदवार कामयाब होते रहें। अग्रेजी मे इस तरीके को (Gerrymandering) कहते है। इस प्रथा के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्व-साधारण का शासन नही रहता। वह एक सूक्ष्म अल्पमत और कभी-कभी एक दल-विशेष का शासन बन जाता है।

प्रजातन्त्र का भविष्य—उपर्युक्त कारणों से प्रजातन्त्र शासन असफल हुआ है। प्रजातन्त्रात्मक ससार का भविष्य उस वक्त तक खतरे में है, जब तक लोग इन दोषों को दूर नही करते। पिछले दिनों इन्ही कारणों से प्रजातन्त्रवाद के स्थान पर तानाशाही शासन की लहर संसार के एक विस्तृत क्षेत्र मे व्यापक हो गई थी। यदि हमे प्रजातन्त्र के आदर्श को कायम रखना है तो यह जरूरी है कि हम इन दोषों को समाज के वर्तमान सङ्गठन से दूर कर दे। संसार में प्रजातन्त्रवाद का सिद्धान्त असफल नही हुआ है। उसकी व्यावहारिकता असफल हुई है। दोषों के रहते एक भी प्रजातन्त्र राज्य ही संसार में सबसे हितकर शासन है। यदि हम प्रजातन्त्र राज्य की अन्य प्रकार के राज्यो के साथ तुलना करे तो हमें ज्ञात होगा कि शाति, रक्षा, न्याय, शासन, शत्रुओं से रक्षा इत्यादि के कार्य मे प्रजातन्त्र राज्य ही अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है। दोष सभी शासनो में होते है, प्रजातन्त्र मे भी है परन्तु इतने नही जितने दूसरे प्रकार के शासनों में और यह दोष भी सिद्धान्त मे नही शासन की व्यावहारिकता मे है। इन दोषों को जनता मे ठीक प्रकार की शिक्षा का प्रचार करके तथा कुछ अन्य अवस्थाओ को पूरा करके, जिनका वर्णन हम अगले पृष्ठों में करेंगे, हम दूर कर सकते हैं। प्रजातन्त्र शासन सर्वसाधारण और विशेषकर गरीबों की दशा सुधारने में, उनकी शिक्षा और दीक्षा की व्यवस्था करने में, अत्यन्त सफल हुआ है। इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल

है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि जनता प्रजातन्त्र की सफलता की अवस्थाओं को न भूले।

प्रजातंत्रात्मक शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ आवश्यक बातें

प्रजातन्त्रात्मक शासन का तरीका ससार के सब देशो मे सफल नही हो सकता। इसकी सफलता के लिए कुछ विशेष वातावरण और मनुष्यो के आचरण मे कुछ विशेष गुणो की आवश्यकता रहती है। इन सब अवस्थाओ का वर्णन हम नीचे करते है।

(१) प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सबसे प्रथम और आवश्यक शर्त यह है कि जन-मत शिक्षित, समुन्नत और समझदार हो। जनता मे पूर्ण राजनीतिक जागृति हो तथा वह सरकार की नीति को समझने की क्षमता रखती हो। जनमत को बनाने और व्यक्त करने के लिए समाचारपत्र (Press) और मच (Platform) अत्यन्त आवश्यक अग है। जिस देश मे समाचारपत्रो पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है और मत के स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने के अधिकार अपहरण कर लिये जाते है वहाँ प्रजातन्त्र नही पनप सकता। जो शासन जन-मत की अवहेलना करता है अथवा उसकी आवश्यकताओ के अनुसार काम नही करता वह लोगो के शासक बनने का अधिकार खो बैठता है। समाचारपत्रों का भी राज्य के प्रति एक कर्तव्य है और यह वह कि सच्ची, निष्पक्ष और ईमानदारी की खबरें दे। यदि अखबारों का नियत्रण उन हाथो मे चला जाता है जो पूँजीपति है या जिनका शासन से कुछ सम्बन्ध है तो अखबारो मे छपे हुए समाचार निष्पक्ष अथवा सच्चे नही हो सकते। ऐसे समाचारपत्र प्रजातन्त्र के रग मे जहर का काम करते है। इसलिए प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे प्रथम शर्त यह है कि जनता राजनीतिक दृष्टि से चैतन्य हो और देश मे समाचारपत्र तथा सभा आदि करने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो।

(२) प्रजातन्त्र की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि समाज मे उच्च श्रेणी की शिक्षा प्रदान की जाय, जिससे लोग राज्य की समस्याओं को समझ सकें। स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक विषयों पर विचार करने की भावना उत्पन्न करने के लिए सर्वमान्य शिक्षा अनिवार्य है। सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति उचित भाव व्यक्त करने के लिए इसकी बहुत जरूरत है। उचित शिक्षा के अभाव से मतदाता धन के प्रलोभन से अपना मत बेच देते है, कभी-कभी जातीयता के भाव से प्रभावित होकर अपने मत का दुरुपयोग कर बैठते है।

(३) जो लोग विधान का संचालन करते है उनमें ईमानदारी और दयानतदारी होनी चाहिए। उनमे उच्च कोटि की राजनीतिक जागृति, सार्वजनिक कार्यो के प्रति

सच्ची लगन, सार्वजनिक जिम्मेदारी की विशुद्ध भावना और बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने और उसके अनुसार काम करने की तत्परता होनी चाहिए।

(४) जनता में सहयोग, सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी, सेवा और त्याग के भाव विद्यमान होने चाहिएँ।

(५) उनमें अपने छोटे-छोटे भेदों को भुलाकर बड़े-बड़े प्रश्नों पर निष्पक्ष भाव से विचार करने की क्षमता होनी चाहिए।

(६) लोगों को आपस में मेल कायम करना चाहिए। पारस्परिक भेदभाव इत्यादि की भावनाओं से लोगों के प्रजातन्त्रात्मक संगठनों की उन्नति में बहुत ज़बर्दस्त बाधा पहुँचती है।

(७) देश के बहुसंख्यक वर्ग को इस बात का विचार रखना चाहिए कि अल्पसंख्यक जातियों के भी अपने अधिकार हैं और उनकी रक्षा की जानी चाहिए। अल्पसंख्यक जातियों को भी चाहिए कि समाज में साम्प्रदायिकता की आग न फूँकें और सारी जनता की भलाई के लिए ही काम करना सीखें।

(८) प्रजातन्त्र में सब के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। सब को समान आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। विशेषाधिकार-प्राप्ति तथा दलित जातियों के भेदभाव को मिटा देना चाहिए।

(९) प्रजातन्त्र में एक ओर बहुत अमीरी और दूसरी ओर बहुत अधिक गरीबी, साथ-साथ नहीं चल सकती। ऐसे वातावरण में प्रजातन्त्र शासन एक ढकोसला मात्र रह जाता है। इसलिए जनता में आमदनी के अन्तर को, धन के समान वितरण की किसी योजना के द्वारा, कम से कम कर देना चाहिए। पूँजीपति देशों में धन, प्रजातन्त्र के समस्त क्षेत्रों को दूषित और कलंकित बना देता है।

(१०) डाक्टर बेनीप्रसाद का कथन है कि प्रजातन्त्रात्मक विधान की सफलता की एक और आवश्यक शर्त यह है कि देश में शांति और सुव्यवस्था वर्त्तमान रहनी चाहिए। अशान्त और विप्लवपूर्ण अवस्थाएँ इसके लिए घातक हैं।

परन्तु यह शान्ति शस्त्रों के बल पर स्थापित नहीं होनी चाहिए। सैनिक शक्ति के द्वारा स्थापित और रक्षित शान्ति एक जड़हीन वृक्ष के समान है जिसे आँधी का कोई भी झटका उखाड़कर फेंक सकता है। इस शान्ति का आधार लोगों की शान्तिपूर्ण आदतें और पारस्परिक सहानुभूति होनी चाहिए। प्रजातन्त्र का आधार-स्तम्भ जनता का स्वेच्छा से अपने राज्य के कानूनों का पालन करना है। सेना, हथियार और बम बरसाने-वाले हवाई जहाजों की अधिकता से जनता में बेचैनी पैदा होती है और लोग प्रजातन्त्र राज्य का स्वप्न छोड़कर एक बलवान् डिक्टेटर की खोज में लग जाते हैं।

(११) प्रजातन्त्र देश में सुव्यवस्थित राजनीतिक पार्टियाँ होनी चाहिएँ, जिनकी व्यवस्था राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर होनी चाहिए, धार्मिक या जातीय आधार पर नहीं।

(१२) प्रजातन्त्रात्मक शासन के सफल होने के लिए स्वायत्त शासन की संस्थाओं की भी भारी जरूरत है। एक साधारण नागरिक को राष्ट्रीय प्रश्नों में इतनी दिलचस्पी नहीं होती जितनी कि स्थानीय मामलों में। इन संस्थाओं में काम करने से उसे प्रजातन्त्र की कला-शिक्षा मिल जाती है और इस प्रकार उसमें राज्य की जिम्मेदारियों के प्रति दिलचस्पी पैदा होती है। इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि **स्वायत्त-शासन राष्ट्रीय स्वाधीनता की जड़ है।**

निष्कर्ष—परन्तु इन सब बातों का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि किसी भी देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की व्यवस्था उस समय तक स्थगित कर दी जानी चाहिए, जब तक कि ये शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। प्रजातन्त्रात्मक क्रिया से स्वयं ये सब अवस्थाएं पैदा हो जाती हैं। प्रजातंत्र शासन के आरम्भ होते ही जनता में राजनीतिक जागृति, सार्वजनिक उमंग, उत्तरदायित्व की प्रबल भावना और सार्वजनिक सहयोग की इच्छा का जन्म हो जाता है। आरम्भ में कुछ दिनों तक मनुष्य शासन चलाने में त्रुटि कर सकते हैं। परन्तु बाद में वह शासन की बारीकियों से भले प्रकार परिचित हो जाते हैं। दूसरे, एक अच्छे शासन की पहचान केवल उसकी कार्य-कुशलता ही नहीं वरन् उसकी जनता में राजनीतिक जागृति तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने की क्षमता है। प्रजातन्त्र राज्य, इन भावनाओं के निर्माण करने में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

इन अवस्थाओं को प्राप्त करने का सबसे अच्छा प्रबन्ध यह है कि शासन प्रजातन्त्रात्मक बना दिया जाय और इसके पश्चात् सर्वसाधारण की आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति करने का प्रयत्न किया जाय। प्रजातन्त्र की औषधि उसे घटाना नहीं वरन् उसको अधिकाधिक बढ़ाना है।

भारतवर्ष में प्रजातन्त्र शासन की सफलता की दशायें कहाँ तक विद्यमान हैं?

बहुत बार प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के लिए उपयुक्त है। जिन लोगों को इसमें संदेह है कि भारत में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली सफल हो सकती है, वह यहाँ की जनता की अशिक्षा, प्रचलित भेद-भाव, जाति-पाँत का विचार, धार्मिक विभिन्नताएं, आर्थिक विषमताएँ, स्त्रियों की अवनत दशा, हरिजनों की समस्या, हिन्दू मुसलिम प्रश्न इत्यादि को देखकर यही अनुमान लगाते हैं कि अभी हमारे देश में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली सफल नहीं हो सकती। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा तथा चैतन्य लोकमत सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं। हमारे देश की ८० प्रतिशत जनता

अशिक्षित है, वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं, इसीलिए कुछ लोग कहते है कि भारतवर्ष मे एक तानाशाह का राज्य होना चाहिए। परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रजातन्त्र की औषधि उसे घटाना नही वरन् अधिकाधिक बढ़ाना है। प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना जनता की सबसे बड़ी शिक्षा है। प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के प्रादुर्भाव से ही जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत होती है। हमारे देश में हुए पिछले आम चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय जनता अपने अधिकारों का अर्थ तथा अपने मत का मूल्य समझती है; उसमे इतना सामान्य ज्ञान अवश्य है कि वह अपना भला-बुरा सोच सके। पिछले ६-७ वर्षो मे देश ने जो उन्नति की है वह इस बात की साक्षी है कि हमारे देश में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का प्रयोग सफल सिद्ध हुआ है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यद्यपि भारत में अभी तक वह सारी अवस्थाएँ विद्यमान नही है जिनमे किसी देश में एक आदर्श प्रजाराज स्थापित हो सकता है, परन्तु फिर भी धीरे-धीरे शिक्षा एवं राजनीतिक चेतना बढ़ रही है और शीघ्र ही हमारा देश ससार का एक आदश प्रजातन्त्र राज्य बन सकेगा।

§ ४. शासन का आधुनिक वर्गीकरण

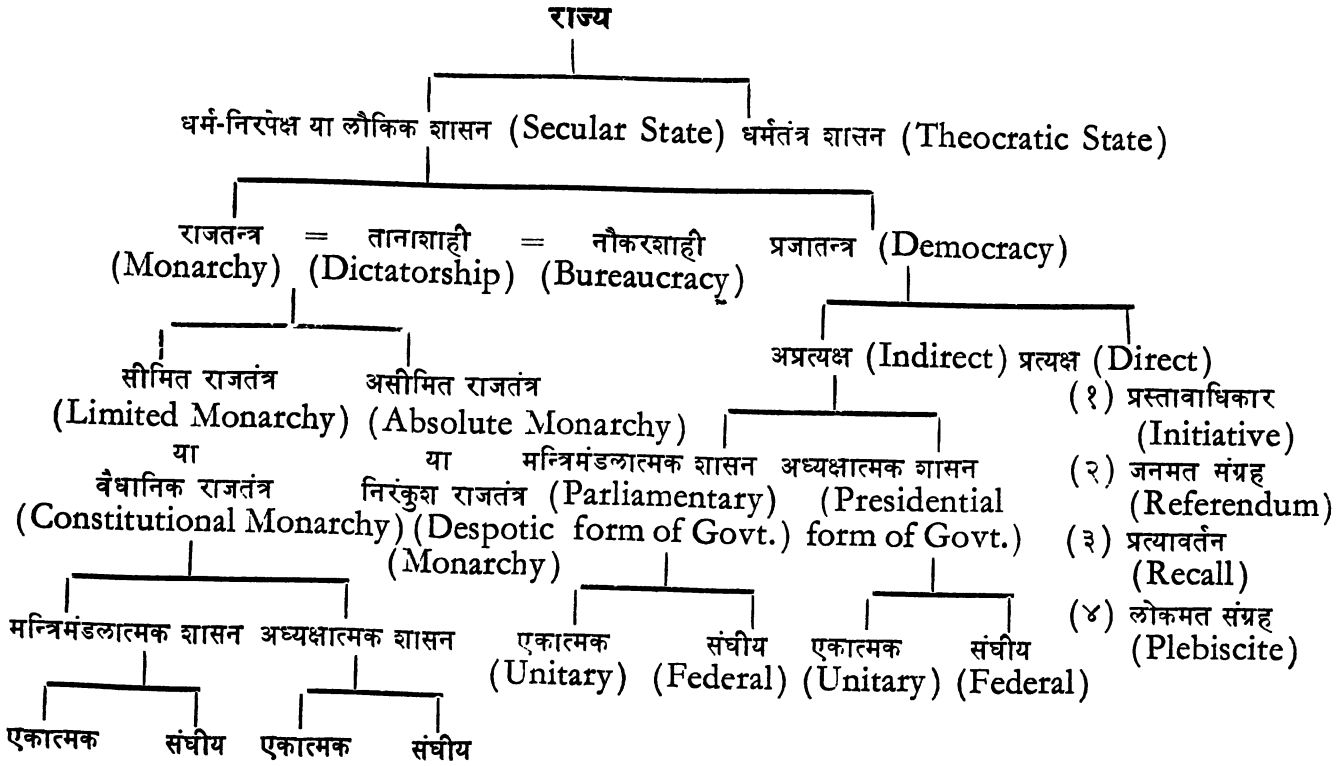
ऊपर दिया गया शासन का प्राचीन वर्गीकरण आधुनिक युग की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त नहीं है। इस वर्गीकरण में ऐसी बहुत-सी सरकारों का उल्लेख नही है जो आजकल पाई जाती हैं। इसलिए जैसा पहिले कहा जा चुका है धर्म और राजनीति का संबंध, कार्यकारिणी और विधान-मंडल का संबंध तथा शासन के अधिकारों के विभाजन पर आजकल सरकारों का वर्गीकरण किया जाता है।

अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में सरकारों के विभिन्न रूप खोलकर समझाए गये हैं।

धर्मतन्त्र शासन (Theocratic Government)—यह शासन का वह तरीका है जिस पर पुरोहित का आधिपत्य रहता है। दूसरे शब्दों में जिस देश का शासन लोगों के किसी धार्मिक मुखिया के द्वारा किया जाता है, वह धर्मतन्त्र शासन कहलाता है। शासन के इस तरीके में धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण रहता है। यह शासन आजकल तिब्बत में वर्तमान है। तिब्बत के अतिरिक्त पाकिस्तान भी मुल्लाओं को बढ़ावा देकर कुछ इसी प्रकार का शासन अपनाता जा रहा है। सरकार का यह तरीका लोकप्रिय नही है।

धर्म-निरपेक्ष शासन (Secular Government)—यह वह शासन है जिसमें राज्य में धर्माचार्यो का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता। इस शासन के तरीके में धर्म और राजनीति बिल्कुल पृथक् रक्खी जाती हैं। इस प्रकार का शासन-प्रबन्ध आजकल

शासन का आधुनिक वर्गीकरण



अत्यन्त लोकप्रिय है। लौकिक शासन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि ऐसे देश में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं दिया जाता या शासक अधर्मी होते हैं, इसका आशय केवल इतना है कि राजनीति से धर्म को अलग रखा जाता है।

राजतंत्र (Monarchy)—यह शासन का वह तरीका है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसमें एक वंश-परम्परागत मनुष्य-शासन का कानूनन सार्वभौम होता है।

निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy)—आजकल शासन की यह व्यवस्था लोकप्रिय नहीं है। यह केवल कुछ पूर्वीय देशों, जैसे अफ़गानिस्तान, अरेबिया, श्याम, नैपाल इत्यादि मे पाई जाती है। इन देशों में भी जनता अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरकार के विरुद्ध बराबर आन्दोलन कर रही है। वर्तमान युग में निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती।

सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy)—इस प्रथा और प्रजातंत्र में अधिक भेद नहीं है, कारण दोनों में ही वास्तविक शक्ति जनता के ही हाथों में रहती है, राजा के नही। राजा राज्य का केवल एक नाम-मात्र का मुखिया रहता है। वास्तविक शक्ति जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहती है। शासन का यह तरीका इंगलैंड, बेलजियम, हालैंड, नारवे इत्यादि देशों में प्रचलित है।

तानाशाही (Dictatorship)—यह ऐसे मनुष्य का शासन होता है जो वंश-परम्परागत अधिकार से तो राजसिहासन पर नहीं बैठता, परन्तु जिसे अपनी सैनिक शक्ति अथवा पार्टी की ताकत के बल पर राज्य के सभी अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले सभी मनुष्य और संघ उसकी शक्ति का लोहा मानते हैं तथा उसके आदेशों के विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नही कर सकते। ऐसा मनुष्य एक अत्याचारी भी हो सकता है, जिसने अपनी पाशविक शक्ति के आधार पर अपने अधिकारों को प्राप्त किया हो अथवा एक सर्वमान्य नेता भी हो सकता है, जिसे लोगों ने किसी राष्ट्रीय संकट के समय में, हर प्रकार के अधिकार प्रदान कर दिये हों। तानाशाही और राजतंत्र में यह भेद है कि तानाशाह किसी सार्वजनिक क्रांति के समय अपने अधिकारों को प्राप्त करते हैं, और अपने पद को बिना किसी राजचिह्न अथवा राजसी ठाट-बाट के कायम रखते हैं। इस प्रकार की शासन-प्रणाली, पिछले महायुद्ध से पहले जर्मनी और इटली में थी। आज भी यह प्रणाली स्पेन में पाई जाती है। तानाशाही में स्वतन्त्र राजतन्त्र के सभी दोष पाये जाते हैं। इस शासन के तरीके में भाषण अथवा समाचार-पत्र अथवा संगठन किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। हर प्रकार के विरोध का निर्दयता-पूर्वक दमन कर दिया जाता है और एक ही मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार लाखों मनुष्यों के भाग्य का निर्णय करता है। तानाशाही शासन में अत्यन्त शिक्षित और योग्य सेना

रक्खी जाती है। तानाशाहों की इच्छा ही लोगों के लिए कानून समझी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तानाशाह किसी भी प्रकार के नैतिक कायदे या कानून को नहीं मानते। इन लोगों की अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं ने ही पिछले दिनों संसार को एक महाभयंकर युद्ध के दलदल में फँसा दिया था।

इस शासन-प्रणाली का श्रीगणेश १९१४ की बड़ी लड़ाई के बाद हुआ था और १९३९ की बडी लड़ाई के बाद इसका प्रायः अन्त-सा हो गया।

इस शासन-व्यवस्था का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रणाली मनुष्य-स्वभाव की कमजोरियों पर अवलम्बित है। यह जनता को एक भावुक बुद्धियुक्त तथा विवेकहीन मनुष्यों का समूह मानती है। मुसोलिनी का कहना था—(Masses are a lot of inspired idiots.) अर्थात् जनता एक भावुक मूर्खों के दल का नाम है। ऐसे लोगों को, फासिस्टों के कथनानुसार किसी भी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्रदान नही किये जा सकते। उनको अपना जीवन राष्ट्र की भलाई के निमित्त-मात्र समझना चाहिये, और राष्ट्र की भलाई किस काम में है, इस का निर्णय करना जनता का काम नहीं, वरन् उन थोड़े से लोगों का काम है जिनके हाथ मे उनकी बुद्धि की प्रखरता तथा नेतृत्व के गुणों (Faculty for leadership) के कारण राज्य, की बागडोर सौपी जाती है।

फासिस्ट समझते है कि राष्ट्रीय महानता तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए काम करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्य राष्ट्र के उत्थान के साथ उठता और उसके पतन के साथ गिरता है। राष्ट्रीय गौरव के लिए अपने प्राणो की आहुति देना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। फासिस्ट सिद्धान्त में राष्ट्र को एक दैवी रूप देकर उसकी पूजा करना सिखाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश का दूसरे देश पर आधिपत्य करना तथा उसको अपने अधीन रखना एक गौरव की बात समझी जाती है। इसी कारण फासिस्टवाद साम्राज्यवाद का समर्थक है।

गुण व दोष—फासिस्ट सिद्धान्त के अंतर्गत तानाशाही शासन के अपने गुण ओर दोष होते है। इस प्रणाली के गुण तो यह है कि इसमे शासन की कुशलता अधिक होती है, जनता में भेदभाव नही रहते, सभी व्यक्ति एक नेता की आज्ञा का पालन करते है तथा उसे अपना संरक्षक समझते है। देश की शक्ति बढ़ जाती है तथा उसकी ताकत का लोहा दूसरे मुल्क मानने लगते है। परन्तु इसके दोष यह है कि इसमें जनता को किसी प्रकार की नैतिक उन्नति या अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्राप्त नही होते। उसे किसी प्रकार के राजनीतिक या नागरिक अधिकार भी प्राप्त नही होते। उसके भाग्य का निर्णय एक मनष्य के हाथ में हो जाता है। सैनिक शक्ति के जटाने मे

राष्ट्र की अधिकतर आय व्यय हो जाती है तथा दूसरे देशों पर हमला करने की नीति से, संसार की शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है।

इस प्रकार की सरकार अधिक समय तक सफल नहीं हो सकती। वह केवल तभी तक कायम रह सकती है जब तक जनता में राजनीतिक जागृति न हो या देश पर कोई महान् संकट का समय हो। पिछड़े हुए देशों में ही इस प्रकार की सरकार पसन्द की जाती है। आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में इस प्रकार की शासन-व्यवस्था के लिए किसी भी प्रकार का स्थान नहीं मिल सकता।

नौकरशाही शासन (Bureaucracy)—नौकरशाही शासन का अर्थ उस प्रकार की सरकार से है जहाँ जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा देश का शासन नहीं किया जाता वरन् जहाँ कुछ एक विशेष प्रकार के वातावरण में पले हुए तथा शिक्षा पाये हुए, सरकारी कर्मचारी ही देश का प्रबन्ध करते हैं। अंग्रेज़ी में ब्यूरोक्रेसी शब्द ब्यूरो से बना है जिसका अर्थ डेस्क है। इसलिए नौकरशाही का अर्थ दफ्तरी या विभागीय सरकार से समझना चाहिए। इस सरकार में दफ्तरी हुकूमत होती है, अर्थात् जनता के प्रतिनिधि सरकार को नहीं चलाते वरन् दफ्तर के क्लर्क और सरकार के बड़े अफसर जनता पर शासन करते हैं। इस प्रकार के शासन में सरकारी कर्मचारी उन लोगों के प्रति जिम्मेदार नहीं रहते जिन पर वे शासन करते हैं वरन् अपने ऊपर के कर्मचारियों के प्रति जिम्मेदार रहते हैं। इस शासन मे नीचे से ऊपर तक क्रमागत जिम्मेदारी चलती है। उदाहरणार्थ गाँव का एक पटवारी कानूनगो के प्रति, कानूनगो तहसीलदार के प्रति, तहसीलदार डिप्टी कलेक्टर के प्रति, डिप्टी कलेक्टर कलेक्टर के प्रति, कलेक्टर कमिश्नर के प्रति, कमिश्नर गवर्नर के प्रति, गवर्नर गवर्नर जनरल के प्रति, और गवर्नर जनरल किसी और के प्रति जिम्मेदार रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक देश में ही सरकारी इन्तजाम इसी प्रकार किया जाता है, परन्तु उनमें भेद केवल इतना होता है कि प्रजातंत्र शासन में सरकारी नौकर आखिर में जनता के प्रति जिम्मेदार होते हैं परन्तु नौकरशाही शासन में वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। अगस्त सन् १९४७ से पहिले भारत में इसी प्रकार का शासन-विधान था। इस शासन-व्यवस्था के अपने दोष और गुण दोनों होते हैं। इसमें गुण तो यह हैं कि यह अधिक कार्यकुशल होती है, आसानी से हर प्रकार की मुसीबतों का सामना कर सकती है, एक उद्देश्य से काम करती है तथा तेजी से काम कर सकती है। परन्तु इन गुणों की अपेक्षा इसमें दोष अधिक होते हैं।

(१) सर्वप्रथम, यह अनुन्नतशील और अपरिवर्तनशील है। यह लकीर की फकीर बनी रहती है और अपने पुराने काम करने के तरीकों को नहीं बदलती। हिन्दुस्तान में आजादी के बाद भी, आज हमारी सरकार इसी बीमारी से पीड़ित है।

(२) इस प्रकार की सरकार एक प्राण और भावशून्य संस्था की तरह काम करती है। इसमें मानवता के लक्षण नही होते और इसलिए यह एक यंत्र के समान काम करती है ।

(३) यह बहुत सुस्ती से काम करती है, इसमें दफ्तरी कार्यवाही (Red tape) अधिक होती है और काम की वास्तविक प्रगति कम।

(४) इस प्रकार के शासन में अक्सर शासक घमडी और लालची हो जाते हैं। वह जनता से सीधे मुँह बात करना भी पसन्द नहीं करते । वह अपने आपको जनता का सेवक नही वरन् उसका मालिक समझने लगते है।

(५) यह एक फौलादी ढाँचे की तरह सख्त होती है। इसमें वास्तविक लोकसेवा की भावना नहीं होती जिस पर शासन की सफलता और सार्वजनिक हित अवलम्बित रहता है ।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन

प्रजातन्त्र शासन का विस्तृत वर्णन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके है। यहाँ यह बतलाना पर्याप्त होगा कि प्रजातन्त्र की दो किस्में है—(१) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) और (२) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में सारी जनता मिलकर स्वयं राज्य का संचालन करती है, वह स्वयं कानून बनाती है, स्वयं टैक्स लगाती है तथा स्वयं राज्य-कर्मचारियों को नियुक्ति करती है। ऐसा शासन-विधान आजकल के विस्तृत राज्यों में, जिनकी जनसंख्या तथा क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है, सम्भव नही। प्राचीन काल के रोम और यूनान के नगरों में इस प्रकार की शासन-व्यवस्था थी, परन्तु उन देशों में भी नगरों में रहनेवाले गुलामों को, शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार न था। आजकल केवल स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैन्टन्स (देश के छोटे-छोटे प्रान्त) में इस नियम के अनुसार शासन होता है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कुछ आधुनिक किस्में प्रस्वाधिकार (Initiative), जनमत संग्रह (Referendum), प्रत्यावर्तन (Recall) तथा लोकमत संग्रह (Plebiscite) के रूप में, हमें दुनिया के कुछ प्रगतिशील प्रजातन्त्रवादी देशों में देखने को मिलती है।

प्रस्वाधिकार (Initiative)—प्रस्वाधिकार उस अधिकार को कहते हैं जिसके द्वारा किसी देश में वोटरों की एक निश्चित संख्या को (स्विट्जरलैण्ड में ५०,००० वोटरों को) आवेदन-पत्र द्वारा, किसी भी कानून को, विधान सभा के सामने पेश करने का अधिकार होता है। यदि विधान सभा उसे पास कर दे तो ठीक है, अन्यथा उस पर जन-समुदाय के वोट लिए जाते हैं, और यदि बहुमत उसके हक में हो तो उसे कानून बना दिया जाता है ।

इस प्रकार के अधिकार का लाभ यह है कि यदि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि विधान सभा में किसी कानून को पेश न करे तो जनता ऐसा कर सकती है। परन्तु इसमे दोष यह है कि कानून बनाने का कार्य अत्यन्त कठिन कार्य है, उसके लिखने और तैयार करने में गंभीर कानूनी ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिए यह काम विशेषज्ञ ही ठीक प्रकार से कर सकते हैं, साधारण आदमी नही।

जनमत संग्रह (Referendum)—इस अधिकार का अर्थ यह है कि यदि वोटरों की एक निश्चित संख्या धारा सभा द्वारा पास किसी कानून को पसन्द नही करती, तो वह आवेदन-पत्र द्वारा यह माँग कर सकती है कि जब तक उस कानून पर लोकमत न ले लिया जाय, उस पर अमल नही किया जाय। इस आवेदन-पत्र के पहुंचने के पश्चात् एक निश्चित दिन पर उस कानून के विषय मे सारी जनता की राय ले ली जाती है और यदि वोटरों का बहुमत उसे पसन्द न करे तो उसे रद्द कर दिया जाता है।

इस प्रकार के अधिकार से जनता की अपने प्रतिनिधियों के धोखे से तो रक्षा हो जाती है, परन्तु इससे व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की जिम्मेदारी की भावना कम हो जाती है। कानून बनाने का कार्य विशेषज्ञों का है, अपढ़ जनता का नही। जनता कानून की बारीकियों को नही समझ सकती। इस प्रकार के अधिकार से राजनीतिक आन्दोलनो को प्रोत्साहन मिलता है और सरकार के काम-काज मे अस्तव्यस्तता फैलती है। यह अधिकार केवल ऐसे ही देशो मे दिया जाना चाहिए जहाँ जनता की राजनीतिक शिक्षा उच्च श्रेणी की हो तथा जहाँ की आबादी कम हो।

प्रत्यावर्तन (Recall)—इस अधिकार का अर्थ यह होता है कि यदि जनता चाहे तो वह अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को, धारा सभा से, उनकी अवधि समाप्त होने पहले ही, वापस बुला सकती है। इस अधिकार को भी अमल मे लाने के लिए वोटरों की एक निश्चित सख्या को, आवेदन-पत्र द्वारा, यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि अमुक प्रतिनिधि पर उसका विश्वास नही है। इसके पश्चात् यह प्रश्न जनमत के लिए भेज दिया जाता है और यदि निर्वाचको की अधिक संख्या प्रतिनिधि को हटाने के पक्ष मे हो तो उसे उसके पद से अलग कर दिया जाता है।

इस प्रथा का बहुधा दुरुपयोग किया जाता है। प्रतिनिधि, चुनाव के आन्दोलनो के हाथ में, कठपुतली बनकर रह जाता है और वह अपने स्वतंत्र इच्छानुसार कार्य नही कर सकता।

लोकमत संग्रह (Plebiscite)—इस अधिकार के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर जनता की राय ली जाती है। जनता का निर्णय शासकों पर बाध्य नही होता परन्तु फिर भी उसकी कद्र की जाती है और उससे राजनीतिक प्रश्नों के विचार में, सरकार को भारी सहायता मिलती है। पिछले दिनों भारत में, जूनागढ़ रियासत के

हिन्दुस्तान या पाकिस्तान से मिलने के प्रश्न पर, इसी प्रकार की राय ली गई थी। योरोप में भी यह प्रथा बहुत लोकप्रिय है।

ऊपर दिये गये चारों उपाय प्रजातन्त्र शासन को जनता की अपनी चीज बनाने में बहुत सहायता देते हैं। परन्तु इन साधनों का उपयोग केवल उन्हीं देशों में किया जाना चाहिए जहाँ जनता में राजनीतिक जागृति उच्च कोटि की हो तथा जहां वह अपना भला-बुरा आसानी से समझ सकती हो।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)—वर्तमान राज्यो में उनकी सीमा तथा जनता के विस्तार के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का होना सम्भव नही। इसी लिए निर्वाचन-पद्धति द्वारा, अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना की गई है। इस प्रथा के अधीन जनता अपने प्रतिनिधियों के द्वारा शासन का संचालन करती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अधीन सरकारों का वर्गीकरण विधान-मंडल और कार्यपालिका के पारस्परिक संबध तथा शासनीय शक्ति के विभाजन के आधार पर किया जाता है। प्रथम सिद्धान्त के अंतर्गत सरकारे मत्रिमंडलात्मक या अध्यक्षात्मक और द्वितीय सिद्धान्त के अंतर्गत संघीय या एकात्मक होती है।

मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार (Parliamentary form of Government)—यह सरकार की वह व्यवस्था है जिसमे देश की कार्यपालिका (Executive) विधान सभा के मदस्यों में से चुनी जाती है तथा वह उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। विधान सभा के चुनाव के समय, देश के विभिन्न राजनीतिक दल अपने कार्यक्रम के बल पर जनता से अपने प्रतिनिधियों के हक मे राय देने की प्रेरणा करते हैं। इस चुनाव मे जिस राजनीतिक काय का बहुमत विधान सभा में पहुँच जाता है, उसी दल का नेता प्रधान मंत्री बनकर अपनी कार्यकारिणी (Cabinet) का चुनाव करता है। कार्यकारिणी में २ से लेकर १५–२० तक मत्री रखे जाते है। प्रत्येक मत्री को अलग-अलग महकमो का इन्तजाम सौप दिया जाता है। सरकार की नीति का निश्चय सारे ही मंत्री मिलकर करते हैं; और वह सब संयुक्त रूप से ही धारा सभा के प्रति जिम्मेदार होते है। प्रधान मंत्री, कार्य-कारिणी का नेता होता है, तथा वह जब चाहे किसी मत्री को अपने पद से इस्तीफा दे देने के लिए कह सकता है। इस प्रकार की सरकार की मुख्य रूप मे चार विशेषताएँ होती हैं:–

(१) विधानमंडल और कार्यपालिका का संयोग (Fusion of Legislature and Executive)—जैसे ऊपर बतलाया गया है, इस प्रकार की सरकार में मंत्रि-मंडल का चुनाव विधान सभा के सदस्यों में से किया जाता है। विधान सभा के बहुमत दल के नेता मंत्रिपद ग्रहण कर लेते है, तथा उसके पश्चात् वह स्वयं ही शासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए, विधान सभा के सामने कानूनो का मसविदा पेश करते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि कैबिनेट सरकार में विधान सभा और मंत्रिमंडल अलग-अलग नही रहते।

(२) **कार्यपालिका की एकता** (Unity of Organisation)—कार्यकारिणी सामूहिक रूप से प्रधान मंत्री के नेतृत्व में काम करती है, जो धारा सभा के बहुमत दल का नेता होता है। इस प्रकार प्रधान मंत्री, शासन और उसकी नीति की एकता कायम रखता है।

(३) **मन्त्रियों की संयुक्त जिम्मेदारी** (Joint Responsibility)—मंत्रि-मंडल सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति जिम्मेदार होता है। यदि विधान सभा किसी एक मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है, तो केवल उसी को इस्तीफा देना नहीं पड़ता, बल्कि सारी कार्यकारिणी को ही इस्तीफा देना पड़ता है।

(४) **अवधि की अनिश्चितता**—(No fixity of tenure)—कैबिनेट सरकार की कोई निश्चित अवधि नही होती। वह केवल उतने ही समय तक अपने पद पर कायम रहती है जितने समय तक उसे विधान सभा का विश्वास प्राप्त होता है। यदि विधान सभा किसी मंत्रिमंडल बनने से अगले ही दिन उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे तुरन्त ही अपने पद से इस्तीफा देना पड़ता है।

अध्यक्षात्मक शासन—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में, विधान सभा और कार्यकारिणी एक दूसरे से बिलकुल पृथक् रहती हैं। कार्यकारिणी का अध्यक्ष एक सभापति होता है। जनता उसे स्वय चुनती है। वह धारा सभा का सदस्य नहीं होता, न वह इसकी सभाओं में ही भाग लेता है। वह अपनी कार्यकारिणी स्वयं बनाता है। कार्यकारिणी के यह सदस्य विधान सभा के सदस्य नहीं होते। वह केवल सभापति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, विधान सभा के प्रति नही। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :—

(१) **विधानमंडल तथा कार्यपालिका की भिन्नता** (Separation of Executive from Legislature)—इस प्रकार के शासन-विधान में कार्यकारिणी विधान सभा से बिलकुल अलग रहती है। मंत्री विधान सभा में नहीं बैठते, न वह उसके सामने किसी प्रकार का कानून इत्यादि ही पेश करते हैं। विधान सभा स्वयं कानूनों को बनाती है। कार्यकारिणी का काम केवल कानूनों पर अमल करना होता है।

(२) **उत्तरदायित्व का अभाव** (No Responsibility)—कार्यकारिणी विधान-सभा के सामने अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होती। विधान सभा में उसके कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। वह विधान सभा द्वारा अपने अधिकार-पद से नहीं हटाई जा सकती।

(३) **निश्चित अवधि** (Fixed Term)—राज्य की कार्यकारिणी का अध्यक्ष निश्चित समय के लिए (अमेरिका में चार साल के लिए) चुना जाता है।

इतने समय में उसे अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं और उसे कोई अपने पद से हटा नहीं सकता।

मंत्रिमंडलात्मक शासन के गुण (Merits of Cabinet Govt.)

(१) कैबिनेट सरकार में, कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह दोनों एक ही उद्देश्य से काम करते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में मंत्री धारा सभा में जाकर किसी कानून को पेश नहीं कर सकते। इस प्रकार इस शासन में कार्य-कारिणी और व्यवस्थापिका सभा में मतभेद होने की सदा आशंका बनी रहती है।

(२) कैबिनेट सरकार में शासन-सम्बन्धी कार्य अधिक योग्यता और तत्परता के साथ किये जा सकते हैं, क्योंकि उस व्यवस्था के अंतर्गत मंत्री धारा सभा के बहुमत दल के नेता होते हैं और देश के शासन को चलाने के लिए वे जिन कानूनों को सही समझते हैं उन्हें वे व्यवस्थापिका सभा में आसानी से स्वीकृत करा सकते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा दोनों स्वतंत्र रहती हैं।

(३) मंत्रिमंडलात्मक शासन जनता और व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी है। इससे देश में जनता की सत्ता कायम रहती है। जो शासन जनमत के विरुद्ध जाता है वह आसानी से हटाया जा सकता है और उसके स्थान पर नया शासन स्थापित किया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी की अवधि निश्चित रहती है और लोग चाहे कितना भी चाहें इस बीच में उसे उसके पद से नहीं हटा सकते। इस प्रकार कार्यकारिणी अपने कार्य में स्वेच्छाचार और निरंकुशतापूर्वक शासन कर सकती है।

(४) मंत्रिमंडलात्मक शासन का प्रधान गुण उसका लचीलापन और परिवर्तन-शीलता है। इस प्रकार के शासन-विधान में आवश्यकता पड़ने पर अथवा राष्ट्रीय संकट के समय मंत्रिमंडल आसानी से बदला जा सकता है। अध्यक्षात्मक प्रथा में कार्य-कारिणी का काल निश्चित रहता है, इसलिए वह किसी भी दशा में नहीं बदली जा सकती।

दोष (Defects)

कैबिनेट सरकार में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें दोष भी हैं :—

(१) सर्वप्रथम यह स्थायी ढंग की सरकार नहीं है। जिस देश में अधिक राज-नीतिक दल होते हैं उसमें सरकार बराबर बदलती रहती है। शासन के परिवर्तन के साथ-साथ कभी-कभी नीति में भी क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो जाता है और इससे बहुत असंतोष और सार्वजनिक विद्रोह उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) इस व्यवस्था में अधिकार-विभाजन के कार्य को अमल में नहीं लाया जाता। व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के काम एक ही संस्था में शामिल कर दिये जाते हैं, इससे नागरिक स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा बना रहता है।

(३) कैबिनेट सरकार में मंत्रिमंडल एक राजनीतिक दल द्वारा बनाया जाता है। अल्पमत दल के बहुत से योग्य पुरुष इस मंत्रिमंडल में शामिल नहीं किये जाते। इसका अर्थ देश में एक दल की सरकार की स्थापना होती है, और यह दल हर प्रकार से अपने विरोधी दल को दबाने का प्रयत्न करता है।

मन्त्रिमंडलात्मक सरकार की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का संगठन क्यों आवश्यक है, इस प्रश्न का उत्तर इसी पुस्तक के १८ वें अध्याय में दिया जायगा।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण (Merits of Presidential form of Government)

(१) इस शासन-व्यवस्था में देश के दैनिक शासन के संचालन के लिए कार्यकारिणी को पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। इसमें व्यवस्थापिका सभा कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(२) इस प्रकार की सरकार में योग्य शासक के अन्तर्गत अधिक तत्परता और क्षमता के साथ काम किया जा सकता है। मंत्रिमंडलात्मक सरकार में मंत्रियों में मतभेद होने के कारण इतनी कुशलता और क्षमता के साथ काम नहीं किया जा सकता।

(३) यह व्यवस्था उन देशो के लिए अच्छी है जहाँ विभिन्न जातियों और दलों का प्राधान्य रहता है।

दोष (Defects)

(१) इस शासन-विधान में विधान सभा और कार्यकारिणी में मतभेद का सदा भय बना रहता है। जब सभापति एक दल का नेता होता है और विधान सभा में दूसरे दल के लोगों का बहुमत, तो शासन की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं चलती।

(२) विधानमडल के सदस्य कार्यकारिणी की उन कठिनाइयों को अच्छी तरह नहीं समझते जो उसे देश के दिन प्रति दिन के शासन-कार्य के संचालन करने में उठानी पड़ती हैं, और इसलिए वह उन कानूनों को उस तत्परता के साथ स्वीकार नहीं करते, जैसे कि कार्यकारिणी, देश में शान्ति स्थिर रखने की भावना से चाहती है।

(३) अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यकारिणी जनमत का आदर नहीं करती। कार्यकारिणी के अध्यक्ष के एक बार चुन लिये जाने के बाद उसके हटाने के लिए कोई भी वैधानिक साधन नहीं है चाहे उसकी नीति और कार्यों को विधान सभा और निर्वाचक दोनों क्यों न नापसन्द करते हों।

अध्यक्षात्मक शासन केवल अमेरिका और उसके कुछ देशों में प्रचलित है। संसार के दूसरे सभी देशों में मंत्रिमंडलात्मक शासन-व्यवस्था ही चालू है। यह इस प्रकार के शासन की लोकप्रियता का पूरा प्रमाण है।

एकात्मक और सङ्घीय शासन-विधान

इन दोनों शासनों का वर्णन विधान के अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम सघीय शासन के लाभ और हानियों का ही वर्णन करेंगे।

संघीय शासन के गुण

(१) यह राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वाधीनता के समन्वय का आश्चर्यजनक राजनीतिक उपाय है। यह छोटे-छोटे राज्यों को आपस में मिलाकर, स्वाधीनता के कम से कम बलिदान द्वारा, अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों के आक्रमण से रक्षा के योग्य बनाता है। संघीय शासन में केवल समान हित के विषय केन्द्रीय शासन के नियंत्रण में सौपे जाते है, बाकी विषय प्रान्तीय सरकारों के ही अधिकार में रहते है। इस प्रकार सघीय शासन मे राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ स्वाधीनता भी मिल जाती है।

(२) यह राष्ट्रीय और स्थानीय शासनो के बीच कार्य का इस प्रकार विभाजन करता है कि इससे शासन-यंत्र में अधिक कुशलता आ जाती है।

(३) इस विधान के अन्तर्गत स्थानीय ज्ञान का स्थानीय शासन सम्बन्धी कार्यों में उपयोग किया जा सकता है। केन्द्रीय शासन के उच्च कर्मचारी राजधानी में रहकर, विभिन्न स्थानीय लोगों की आवश्यकताओ को नही जान सकते। इन आवश्यकताओं को वही के स्थानीय लोग ही समझ सकते है और वह इन कार्यो में क्रियात्मक और बुद्धि-मत्तापूर्ण दिलचस्पी लेकर प्रजातंत्र की कुछ व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकते है।

(४) प्रजातंत्रात्मक शासन के काम को सफलतापूर्वक चलाने के लिए संघीय शासन एक आदर्श उपाय है क्योंकि यह अधिक विस्तृत क्षेत्र में, प्रजातत्रात्मक सस्थाओं को स्थापित करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। सघीय शासन अधिकारों के व्यापक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। इसलिए इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत एक साधारण नागरिक को जो देश के एक छोर में रहता हो, स्थानीय सस्थाओं के कार्यों मे भाग लेकर अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है।

(५) यह हिन्दुस्तान रूस, या अमेरिका जैसे बड़े देशों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। इन देशों में विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों और प्रश्नों के कारण विभिन्न व्यवहार की आवश्यकता पड़ती है। संघ शासन, समान हित के विषयों में नीति और शासन की समानता का आयोजन करता हुआ भी स्थानीय मामलों में विभिन्न कानूनों का आयोजन करता है।

(६) यह संघीय राज्यों को अपने आर्थिक साधनों की अधिक उन्नति करने के योग्य बनाता है।

(७) यह संघीय राज्यों को अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और सम्मान प्रदान करता है। आज संसार में अमेरिका सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता है. क्योंकि वह ४८ राज्यों का एक सम्मिलित राज्य है।

(८) यह संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वतन्त्र संघ की स्थापना की ओर प्रथम कदम है जिसको सभी प्रजातन्त्रवादी अपना लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

दोष (Defects)

जहाँ संघीय शासन में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी हैं। लार्ड ब्राइस इसके दोषों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन करता है :—

(१) विदेशी प्रश्नों के हल करने में संघीय शासन एकात्मक शासन के मुकाबले में कमजोर रहता है क्योंकि इसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित राज्यों की अलग इकाई होती है।

(२) गृह शासन में भी यह शासन-व्यवस्था एकात्मक शासन के मुकाबले में कमजोर सिद्ध होती है क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को दो सरकारों का हुक्म मानना पड़ता है—(१) संघीय और (२) प्रान्तीय।

(३) इस शासन में राज्यों के विद्रोह द्वारा शासन के भंग होने की सम्भावना रहती है।

(४) संघीय राज्यों द्वारा अलग-अलग गुट बनाये जाने तथा इस प्रकार सरकार की शक्ति कम होने का डर रहता है।

(५) संघीय शासन में दो सरकारें तथा दो प्रकार के कानून होते हैं। सारा देश एक ही प्रकार के शासन के अधीन नहीं रहता।

(६) कानून और शासन की द्वैध प्रणाली की उलझनों के कारण सरकार का खर्च बढ़ जाता है और शासन की कुशलता घट जाती है। इस प्रकार हमें पता चलता है कि संघीय शासन के सबसे बड़े दोष अधिकारों के बँटवारे के कारण पैदा होते हैं। एकात्मक शासन में जो एकता, शक्ति, तत्परता और योग्यता मौजूद रहती है वह संघीय राज्य में नहीं पाई जाती। संघीय शासन में द्वैध राजभक्ति रहती है। शासन-यन्त्र भी दोहरा होता है। इसका मतलब यह होता है कि संघीय शासन एकात्मक शासन की अपेक्षा अधिक खर्चीला होता है। इसके अतिरिक्त संघ में कानून और नीतियों की विभिन्नता रहती है और इससे एक साधारण नागरिक के मन में दुविधा पैदा हो जाती है। केन्द्रीय

और स्थानीय अंगों के बीच अधिकारों के बँटवारे के सम्बन्ध में भी अक्सर झगड़े हुआ करते हैं जिससे इन मामलों को सघ-अदालत के सामने भेजने की जरूरत पड़ती है।

संघवाद का भविष्य (Future of Federalism)

संघीय शासन के तरीके में इन दोषों के रहने पर भी वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक संसार में संघ का आदर्श अधिकाधिक लोकप्रिय हो रहा है। इसी सिद्धान्त के आधार पर, प्रजातन्त्रवादी संसार में मनुष्य समाज की विशाल सभा (Parliament of Man) और संसार के संघ (World Government) की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी संस्था के कार्यरूप मे परिणत होने पर संसार के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े, प्रतिस्पर्धा, युद्ध, साम्राज्यवाद आदि सभी संकट समाप्त हो जायँगे।

एकात्मक शासन के गुण (Merits of Unitary Government)

(१) एकात्मक शासन-विधान में कानून और न्याय के सम्बन्ध में पूरी समता स्थापित की जाती है। राष्ट्र के सभी नागरिक एक ही प्रकार के कानून और कायदों का पालन करते हैं। इससे जनता में एकता बढती है और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण होता है।

(२) एकात्मक शासन-विधान में सब अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होते हैं, इससे राज्य के अगों के अधिकार और सीमा-क्षेत्र के सम्बन्ध में वैसा कोई भी संघर्ष उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि प्रायः संघ के विभिन्न राज्यों के बीच अधिकार-विभाजन के प्रश्नों पर हो जाया करता है।

(३) एकात्मक विधान मे शासन के सब अधिकार एक ही जगह केन्द्रीभूत रहते हैं, इससे देश के विदेशी मामलों और युद्ध-संचालन के काम में अधिक सुविधा रहती है।

(४) इसकी व्यवस्था बहुत सरल होती है और इस कारण यह अत्यधिक तेजी से कार्य कर सकती है।

(५) इसमें संघीय शासन की अपेक्षा कम खर्च होता है क्योंकि इसमे केन्द्रीय नौकरियों की द्वैध प्रणाली नहीं रहती।

दोष (Defects)

(१) यह केन्द्रीय शासन पर उन कार्यों का भार लाद देता है जिनका सम्बन्ध स्थानीय शासन से रहता है। यह काम इन स्थानों में रहनेवाले लोग बहुत आसानी से कर सकते हैं।

(२) डाक्टर गारनर के मतानुसार एकात्मक शासन से स्थानीय कार्यक्षमता का ह्रास होता है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति दिलचस्पी कम हो जाती है तथा स्थानीय शासनों की उपयोगिता कम हो जाती है।

(३) प्रजातन्त्र शासन में अधिकारों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, जिसमें जनता पंचायती राज्य की शिक्षा प्राप्त कर सके। परन्तु एकात्मक शासन में अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है।

(४) एकात्मक विधान में अपरिवर्तनशील नौकरशाही प्रथा का प्रधानत्व रहता है। इससे राज्य एक पुराने ढङ्ग पर चलता है और उसमें स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार नये प्रयोग की क्षमता नही रहती।

अच्छे शासन की परख (Test of Good Government)

इस अध्याय के पिछले पृष्ठों में हमने संसार के विभिन्न देशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न शासन के तरीकों पर विचार किया है। इन तरीकों में कुछ दोष पाये जाते हैं। इसलिए यह कहना बहुत कठिन है कि किस देश के लिए किस शासन का सबसे ज्यादा उपयोग है। शासन की उपयोगिता उस देश की विशेष परिस्थितियो और वातावरण पर निर्भर करती है। ऐसा कोई एक शासन का तरीका नही जो सभी सामाजिक अवस्थाओ तथा हालतों में ठीक साबित हो सके।

शासन के विभिन्न तरीके विभिन्न आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति करते है। राजतंत्रात्मक शासन पिछड़े हुए देशों के लिए ठीक रहता है, जहाँ लोगों मे नैतिक जागृति का पूर्ण विकास नही हुआ है। प्रजातन्त्र शासन उस देश के लिए उपयुक्त हो सकता है जहाँ साधारण शिक्षा का काफी प्रचार हो तथा जहाँ लोग अपने अधिकार और कर्तव्यों को भले प्रकार समझते हो। मंत्रिमण्डलात्मक शासन का तरीका उस देश के लिए ठीक होता है जहाँ दो राजनीतिक दल हों तथा जहाँ जनता मे राजनीतिक मतभेद न हो। अध्यक्षात्मक शासन का तरीका उस देश के लिए ठीक हो सकता है जहाँ विभिन्न जातियो और मतो का प्राधान्य हो। तानाशाही किसी भी देश मे राष्ट्रीय सकट को दूर करने या युद्ध का सचालन करने के लिए ठीक मानी जा सकती है। संघीय शासन उन देशो के लिए ठीक है जिन्हें राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वराज्य के कायम रखने की इच्छा हो। एकात्मक शासन इससे दूसरी परिस्थितियों में ठीक माना जा सकता है।

इसलिए हम शासन की अच्छाई का निश्चय करने के लिए किसी भी विशेष माप को निर्धारित नही कर सकते। 'पोप' के समान कुछ लेखकों का कहना है कि "वह शासन सर्वोत्तम है जहाँ सर्वोत्तम तरीके से शासन किया जाता है।" हमारे मत से शासन की कुशलता ही अच्छे शासन की कसौटी तथा परख नहीं है। यह बात सही है कि किसी भी शासन को अच्छा बनने के लिए समाज में ठीक प्रकार से शांति और न्याय कायम रखना चाहिये परन्तु अच्छे शासन की वास्तविक पहचान यह है कि वह कहाँ तक नागरिकों में उन बौद्धिक और नैतिक गुणों का संचार करता है जिन पर मानव समाज की उन्नति और सामाजिक सहयोग की भावना अवलम्बित है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य के वर्गीकरण के अरिस्टाटल के तरीकों पर प्रकाश डालिए और उसके दोष बतलाइए।

२. राजतंत्रात्मक शासन से लाभ और हानि क्या है ?

३. कुलीनतन्त्र (Aristocracy) से आप क्या समझते है ? इसके विभिन्न तरीके कौन-से है ? कुलीनतंत्रात्मक शासन के तरीके मौजूदा संसार में कहाँ तक पाये जाते है ?

४. प्रजातन्त्रात्मक विधान के सफलतापूर्वक काम करने के लिए कौन-सी शर्तें जरूरी है ? यह शर्तें हिन्दुस्तान में कहाँ तक पाई जाती है ? (यू० पी०, १९३०, १९३३, १९३४, १९३८)

५. प्रजातंत्र का क्या अर्थ है ? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिए। (यू० पी० १९३१, १९३७, १९३९, १९४२, १९४४)

६. संघीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) शासन की कार्य-कारिणी के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३४)

७. मंत्रिमंडलात्मक (Parliamentary) शासन के गुणों का वर्णन कीजिये। इसकी सफलता के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? (यू० पी०, १९४०)

८. प्रजातंत्र की व्याख्या कीजिये और प्रजातंत्र में भाषण और समाचार-पत्र की स्वाधीनता का क्या महत्त्व है, इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४२)

९. प्रजातन्त्रीय शासन का अर्थ है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक को, अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर मिलने चाहिए, समझाइये। (यू० पी०, १९४३)

१०. मन्त्रिमण्डलात्मक (Cabinet) और अध्यक्षात्मक शासन के भेद बताइये। इनके गुण और दोषों पर तुलनात्मक प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४३) इनमें से किस प्रकार के शासन को आप अच्छा समझते है ? (यू० पी०, १९४७)

११. प्रजातन्त्रीय और तानाशाही शासकों के गुणों का मुकाबला कीजिये। (यू० पी०, १९४४)

१२. संघीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) विधानों की तुलना कीजिए। हिन्दुस्तान के लिए आप कौन-सा तरीका पसन्द करेंगे और क्यों ? (यू० पी०, १९४८)

१३. वर्तमान संसार में पाई जानेवाली सरकारों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४८)

१४. आप प्रस्वाधिकार, जनमत संग्रह, प्रत्यावर्तन तथा लोकमत संग्रह से क्या समझते है ? स्पष्ट रूप में समझाइये।

१५. वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो सबसे कम शासन करे। क्या आप इस राय से सहमत हैं? (यू० पी०, १९४८)

१६. संघीय शासन के मुख्य अंग क्या हैं? इस शासन के गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४९)

१७. एकात्मक सरकार का क्या अर्थ है? संघात्मक विधान से यह किस प्रकार भिन्न है? (यू० पी०, १९५१)

१८. "अशिक्षित लोकसत्ता निकृष्ट प्रकार की शासन-व्यवस्था है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९५१)

१९. जनतंत्रीय सरकार के सफलतापूर्वक संचालन के लिए किन बातों की आवश्यकता है? भारत में यह बातें कहाँ तक पाई जाती हैं? (यू० पी०, १९५४)

२०. अच्छी सरकार के क्या चिह्न हैं? उदाहरण सहित विस्तारपूर्वक लिखिए। (यू० पी०, १९५४)

अध्याय १७

राज्य का स्वभाव, उद्देश्य और कार्य

(Nature, End and Functions of the State)

§ १. राज्य का स्वभाव (Nature of the State)

राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक (Artificial and Natural) दोनों है

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि राज्य कृत्रिम है अथवा स्वाभाविक, अर्थात् वह ईश्वर का बनाया हुआ है या मनुष्य का। इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो मालूम पड़ता है कि राज्य न ईश्वरकृत ही है और न मनुष्यकृत ही। इसका जन्म प्राकृतिक विकास की क्रिया के फलस्वरूप अनायास ही हुआ है।

परन्तु यह दूसरे कारणों से स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों कहा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से ही शान्ति और व्यवस्था पसन्द करता है। उसे अराजकता और झगड़ों से घृणा है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए राज्य का संगठन मानव-स्वभाव में व्याप्त है। राज्य स्वाधीनता का पोषक, अधिकारों का पालक तथा कर्तव्यों का संरक्षक है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए यह आवश्यक है। मनुष्य राज्य के बाहर नहीं रह सकता। जिस प्रकार मछलियों के जीवित रहने के लिए पानी की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य को शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राज्य की जरूरत पड़ती है, राज्य का जन्म मनुष्य के साथ हुआ। प्राथमिक अवस्थाओं में जब मनुष्य असभ्य और बर्बर था तो राज्य का सङ्गठन भी अपूर्ण और बेढंगा था। परन्तु कुछ समय के बाद जब सभ्यता का विकास हुआ तो राज्य की व्यवस्था भी अधिक दृढ़ बन गई। परन्तु अभी तक उसने अपने आदर्श को प्राप्त नहीं किया और न इस समय भी उसका विकास हो रहा है। इस माने में यह कहा जा सकता है कि राज्य स्वाभाविक है।

हम राज्य को दूसरे कारणों से कृत्रिम कह सकते हैं। राज्य की मशीनरी अर्थात् सरकार का संगठन मनुष्य करता है। राज्य में रहनेवाले सभी नागरिक सामूहिक रूप से मिलकर इस बात का फैसला करते हैं कि उन्हें अपने देश के लिए किस प्रकार के शासन की व्यवस्था करनी चाहिए—मंत्रिमंडलात्मक या अध्यक्षात्मक, एकात्मक या संघीय, तानाशाही या प्रजातांत्रिक इत्यादि।

उपर्युक्त भाव में हम यह कह सकते हैं कि राज्य स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों है।

§ २. राज्य का उद्देश्य (The End of the State)

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो प्रधान मत हैं—एक मत राज्य को किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं मानता। वह राज्य को अपना उद्देश्य स्वयं मानता है (The State is an end in itself.)। दूसरे मत के अनुसार राज्य मनुष्य की भलाई का केवल एक साधन मात्र है (The State is merely a means to individual good.)

राज्य के उद्देश्य के पहले मत का समर्थन जर्मन दार्शनिकों (Hegel, Trietske) वगैरह और फासिस्ट सिद्धांतवादियों ने किया है। उनका कहना है कि राज्य का अपने नागरिकों से अलग एक व्यक्तित्व है, राज्य का मुख्य उद्देश्य अपने को गौरवान्वित करना है। मनुष्यों के राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नहीं होते। उनके उसके प्रति केवल कर्तव्य हैं। नागरिकों का अस्तित्व राज्य के कारण है, उन्हें जो भी शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन में उन्नति करने के अवसर मिलते हैं, वे सब राज्य की देन हैं। मनुष्य का इसलिए धर्म है कि वह अपने राज्य के प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सदा तत्पर रहे। राज्य के गौरव में मनुष्य का गौरव है और राज्य के पतन में मनुष्य का पतन; राज्य एक आध्यात्मिक संस्था है, वह कोई बुरा काम नहीं कर सकती। वह जो काम करती है, जनता की भलाई के लिए ही करती है।

यह मत कभी भी सर्वमान्य तथा लोकप्रिय नहीं हो सका है, कारण, यह मनुष्य को राजा की प्रतिष्ठा का केवल एक साधन मात्र बना देता है। वास्तव में मनुष्य की अपनी इकाई है, अपना अस्तित्व है, मनुष्यों के संगठन से ही राज्य का जन्म होता है, राज्य मनुष्यों से अलग कोई वस्तु नहीं है। इसलिए दूसरे कुछ दार्शनिकों का कहना है कि राज्य का उद्देश्य अपना गौरव प्राप्त करना नहीं, वरन् अपने नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्न करना है। मनुष्य अपना स्वयं उद्देश्य है, राज्य उसकी उद्देश्यपूर्णता का केवल एक साधन है।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि राज्य किस मनुष्य के उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसका उत्तर यह है कि राज्य का धर्म किसी व्यक्ति-विशेष का हितसाधन करना नहीं, वरन् राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले सभी व्यक्तियों का हितसाधन करना है। राज्य का धर्म समान हित (Common good) के लिए काम करना है, व्यक्तिगत हित के लिए नहीं। राज्य इसी माने में व्यक्तियों से ऊपर एक संगठन है कि वह सारी जनता का हितसाधन करता है, किसी एक व्यक्ति का नहीं।

§ ३. राज्य के कार्य-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त
(Theories of State Functions)

राज्यों के कार्यों का निश्चित गुण, समय-समय पर समाज के विचार और आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के प्रभाव के अनुसार बदलता रहता है। पुराने जमाने में राज्य के कार्य वर्तमान काल की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न थे। उस समय लोगों के धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक अधिकारों की व्यवस्था, राज्य के मुख्य कर्तव्यों में समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य कार्य बहुत कम थे। वे केवल वही कार्य थे जिन्हें आजकल हम आवश्यक कार्य कहते हैं। इसलिए राज्य के वास्तविक कार्य समय, गुण और लोगों के विचार के अनुसार बदलते रहते हैं। राज्य के कार्यों के तीन प्रधान सिद्धान्त हैं—(१) व्यक्तिवाद, (२) समाजवाद और (३) आदर्शवाद।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Individualistic Theory of State Functions)

व्यक्तिवाद-सिद्धान्त के अनुसार हमारी स्वतन्त्रता हमारे जीवन की सबसे प्रिय वस्तु है। राज्यों के कार्यों और कानूनों द्वारा हमारी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होता है, अतः राज्य का कार्यक्षेत्र यथासम्भव बहुत ही छोटा होना चाहिए। फ्रीमैन (Freeman) ने कहा है, "सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है" (That Government is the best which governs the least.)। हम राज्य को एकदम तो हटा नहीं सकते, क्योंकि समाज में ऐसा करने से अस्त व्यस्तता फैलने का डर रहता है और समाज के दुश्मन उभरने लगते हैं। किन्तु हम इतना अवश्य कर सकते हैं कि राज्य की संस्था को अधिक अधिकार न सौंपे—उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रक्खें। व्यक्तिवादी दार्शनिकों की राय में राज्य एक आवश्यक दोष है (State is a necessary evil.) यह एक ऐसी बुराई है जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसलिए राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं मिलना चाहिए जिससे वह व्यक्तियों को दबा सके। राज्य का काम केवल "मनुष्य की प्राकृतिक उन्नति के रास्ते में से रोड़े हटाना है", उसकी भलाई करना या उसकी उन्नति के लिए प्रबंध करना नहीं। राज्य को केवल एक पुलिस स्टेट (Police State) का काम करना चाहिए, अर्थात् समाज में शान्ति और व्यवस्था, देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा, तथा व्यक्तियों के जान और माल की हिफाजत करनी चाहिए। उसका काम स्कूल और कालेज, वाचनालय और अजायबघर, अस्पताल और आमोद-प्रमोद के स्थान खोलना नहीं। ऐसा करने से व्यक्ति की प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूरोप में अठारहवीं सदी के अन्तिम काल में हुआ था। इसके मुख्य समर्थक मिल (Mill), ऐडम स्मिथ (Adam Smith), स्पैन्सर

(Spencer), रिकार्डो (Ricardo) तथा मालथस (Malthus) थे। यह सिद्धान्त मुख्यतः तीन धारणाओं पर अवलम्बित है।

(१) नैतिक—इस धारणा के अनुसार मनुष्य समाज में केवल उसी समय उन्नति कर सकता है जब उसे बिलकुल स्वाधीन छोड़ दिया जाय। बाहरी मदद से मनुष्य में स्वयं उन्नति करने की शक्ति नहीं रहती, उसका विकास रुक जाता है और दूसरों पर निर्भर रहने लगता है। इस प्रकार, बाहरी मदद से, न केवल एक व्यक्ति के जीवन का ही विकास रुकता है बल्कि समाज की उन्नति में बाधा पड़ती है।

(२) आर्थिक—समाज की आर्थिक उन्नति भी स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव होती है। व्यापार और व्यवसाय स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Open Competition) के क्षेत्र में ही बढ़कर उन्नति करते हैं। खुले बाजार में चीजें सबसे सस्ती रहती हैं, और माँग और पूर्ति की शक्तियाँ, चीजों को देश के विभिन्न हिस्सों में बराबर-बराबर भेजने पर मजबूर करती हैं। मनुष्य अपना आर्थिक स्वार्थ खूब समझता है, वह जानता है कि उसका फायदा किस काम को करने में है। इसलिए यदि सरकार सब मनुष्यों को स्वतन्त्र छोड़ दे तो वह अपनी और फलतः समाज की अधिक से अधिक आर्थिक उन्नति कर सकते हैं।

(३) वैज्ञानिक—वैज्ञानिक आधार पर भी व्यक्तिवादी अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, उनका कहना है कि प्रकृति के क्षेत्र में एक निरंतर जीवन-संग्राम (Struggle for Existence) चलता रहता है जिसका उद्देश्य यह होता है कि अनुपयुक्त जीव नष्ट हो जायँ और केवल उपयुक्त जीव ही बचे रहें (Survival of the fittest)। यदि सरकार आर्थिक या सामाजिक बातों में हस्तक्षेप करती है और निर्धनों या दुर्बलों की सहायता करती है तो इससे जीवन-संग्राम में विघ्न पड़ता है। अतः व्यक्तिवाद, अर्थात् न हस्तक्षेप (Laissez Faire) की नीति ही प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। इसी नियम से अयोग्य और बेकार मनुष्यों के समाज से नष्ट होकर एक बलवान्, उन्नतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना संभव हो सकती है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory of Individualism)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की अनेक लोगों ने आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त ने मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण सिखाया, पूंजीपतियों द्वारा गरीब किसान और मजदूरों पर किये गये अत्याचार का समर्थन किया, तथा संसार में एक दमन और अनाचार के वातावरण को जन्म दिया। इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं :—

(१) सर्वप्रथम यह कि, यह सिद्धान्त इस धारणा पर अवलम्बित है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना एक अलग अस्तित्व है, उसका दूसरे प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध

नहीं है। उसके हित समाज के दूसरे लोगों के हित से भिन्न है। यह सिद्धान्त एकदम गलत है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसका हित समाज और राज्य के हित के साथ आबद्ध है। मनुष्य में सामाजिक सेवा की प्राकृतिक भावना है, परन्तु व्यक्तिवादी मनुष्य को एक स्वार्थी जीव ही मानते हैं।

(२) दूसरे, व्यक्तिवादी यह भूल जाते हैं कि स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, वरन् उन अवस्थाओं का होना है जिनमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सकता है। यदि किसी मनुष्य को एक निर्जन टापू में छोड़ दिया जाय तो वहाँ उससे हस्तक्षेप करनेवाला तो कोई न होगा और व्यक्तिवादियों के मतानुसार उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी, परन्तु ऐसी स्वतन्त्रता कोई भी मनुष्य पसन्द न करेगा। अतः स्वतन्त्रता का असली अर्थ इच्छित और हितकर कार्यों के करने की सुविधा है। सरकार अपने उपयुक्त कार्यों द्वारा हमें इस प्रकार की सुविधाएं प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी स्वतंत्रता और राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं है। सरकार हमारी स्वतन्त्रता का रक्षक और सहायक होती है।

(३) समाज में सब मनुष्य समान रूप से बुद्धिमान् नहीं होते। कुछ मनुष्य अधिक बुद्धिमान् होते हैं, कुछ कम, कुछ मनुष्य शक्तिशाली होते हैं, कुछ निर्बल, कुछ मनुष्य सीधे-सादे होते हैं, कुछ अत्यन्त चालाक और धोखेबाज। यदि सरकार कानून बनाकर, निर्बलों की सबलों से, और समाज के सीधे-सादे व्यक्तियों की बदमाश, गुण्डो से हिफाजत न करे तो समाज में घोर अन्याय छा जायगा और निर्बल तथा विवेकहीन मनुष्यों के लिए जीवित रहना कठिन हो जायगा।

(४) व्यक्तिवादी यह नही बतलाते कि वह जीवन-संग्राम के लिए किसको सबसे अधिक उपयुक्त प्राणी मानते हैं—उनकी योग्यता की कसौटी क्या है—धन की शक्ति, अथवा बौद्धिक क्षमता, अथवा नैतिक उच्चता। यदि अधिक धनवान् मनुष्यों के लिए ही यह समाज है, निर्धनों के लिए नहीं, तो एक डाकू जिसके पास लूट का बहुत-सा धन इकट्ठा रहता है, एक ईमानदार मजदूर के मुकाबले में अधिक योग्य माना जाना चाहिए और उसकी समाज में भी अधिक प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार शारीरिक बल के आधार पर, ऐसे समाज में, केवल पहलवानों का ही राज्य होना चाहिए, कमजोरों का नहीं। फिर व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते कि अपने समाज में वह बच्चों, स्त्रियों तथा बीमारों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं, क्योंकि स्वभावतः यह लोग औरों के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

(५) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का आशय होना है कि मजदूरों से अधिक से अधिक काम लिया जाय, उन्हें कम से कम वेतन दिया जाय, उनके रहने के लिए कोई अच्छे मकान न दिये जायँ, स्त्रियों, बच्चों को कारखानों में काम पर लगाया

जाय, बाजार में चीजें बेचने में किसी प्रकार की ईमानदारी व्यवहार में न लाई जाय, तथा छल, कपट, धोखा जिस प्रकार भी हो, धन इकट्ठा करने का प्रयत्न किया जाय। उन्नीसवी सदी के आरम्भ में इसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने समाज में मजदूरों तथा किसानो के शोषण को सराहा था। इसी सिद्धान्त के कारण आर्थिक क्षेत्र मे उपभोक्ताओं के हित का दमन हुआ था। इन सब चीजों से अधिक इस सिद्धान्त की और क्या आलोचना हो सकती है।

(६) अन्त में प्राणिशास्त्र (Biology) के जीवन-सग्राम के नियम मनुष्यो पर पूर्णतया लागू नही हो सकते क्योंकि वह केवल पशु न होकर बुद्धिमान् और नैतिक जीवन है। मनुष्यों का धर्म असहायों को नष्ट करना नहीं, वरन् उनकी रक्षा करना है।

आजकल किसी भी देश की सरकार की कार्यप्रणाली व्यक्तिवाद सिद्धान्त पर अवलम्बित नही है। सभी देशों की सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा और देश की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझती है।

समाजवाद (Socialism)

व्यक्तिवाद सिद्धान्त के पश्चात् राजनीतिक लेखको ने एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मिटाकर, सब अधिकार राजसत्ता को ही सौंप देने का प्रयत्न किया गया। यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद सिद्धान्त से बिल्कुल उल्टा है। व्यक्तिवादी राज्य को एक दूषित सस्था मानते है, समाजवादी उसे एक अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी संगठन।

व्यक्तिवादी राज्य को केवल एक पुलिस स्टेट का काम सौंपना चाहते है, समाजवादी उसे मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियंत्रण रखने का।

व्यक्तिवादी राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान नही करते, परन्तु समाजवादी उसे पूर्णरूपेण आर्थिक क्षेत्र का स्वामी बना देते है।

व्यक्तिवादी पूंजीपति-प्रथा के समर्थक है, समाजवादी उसे जड़-मूल से नष्ट कर देना चाहते है।

समाजवादी सिद्धान्त की विवेचना

समाजवाद का विषय अत्यन्त व्यापक और पेचीदा है। इसके विषय में इतना साहित्य लिखा गया है कि सबको इकट्ठा करने पर शायद कई वर्गमील का क्षेत्र भर जाय। इसकी अनेक शाखायें हैं और भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस सिद्धान्त पर अलग-अलग प्रकार से अपनी सम्मतियाँ प्रकट की है। कुछ विद्वानो का मत है कि समाजवाद की ५७ किस्में है। सन् १८९२ मे ली फिगारो (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी अखबार में समाजवाद की ६०० परिभाषाएँ प्रकाशित हुई थी। इस शब्द का प्रयोग

इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ जिक्र करना भी सभव नही। सर विलियम हारकोर्ट (Sir William Harcourt) लिखता है कि "हम सभी समाजवादी हैं क्योकि हम सब समाज मे रहते है।"

इस सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रचार कॉलेज और स्कूल के विद्यार्थियो में हुआ है। प्राय: प्रत्येक विद्यार्थी किसी न किसी समय समाजवाद का समर्थक रहता है, और इस विषय की एकाध पुस्तक पढ लेने के पश्चात् अपने आपको इस वाद का पंडित समझने लगता है। समाजवादी होना एक प्रकार का फैशन हो गया है। जहाँ चार मित्र चाय पीने के लिए इकट्ठे हुए कि उन्होंने आपस मे मार्क्सवाद पर बहस करनी शुरू कर दी।

समाजवाद को समाजवाद के विरोधियो से इतना खतरा नही जितना कि स्वयं इसके प्रवर्तको से है। कारण इसके समर्थक, समाजवाद के भिन्न-भिन्न स्वरूपो के विषय पर आपस मे इतना लड़ते-झगड़ते है कि बस देखते ही बनता है। समाजवादियो का एक ग्रूप दूसरे को फासिस्ट तथा प्रतिक्रियावादी बताता है।

इन सब कारणों से हमारे लिए यह सभव नही कि इस अध्याय मे हम समाजवाद का कोई विस्तृत वर्णन कर सके। इसलिए यहाँ हम इसका केवल सक्षिप्त और अपूर्ण वर्णन ही देगे।

समाजवाद के सबसे जबर्दस्त प्रवर्तक जर्मन राजनीतिक दार्शनिक कार्ल मार्क्स थे। उन्होने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय किया जब यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमजीवी वर्ग का उत्थान हो चुका था।

समाजवाद एक ऐसे नये समाज की कल्पना है जिसका आधार न्याय, स्वाधीनता, समानता और मित्रता के उसूलो पर अवलम्बित है। यह समान हित को व्यक्तिगत गुण के लक्ष्य बनाने का प्रयास है। यह ईसाई धर्म के आवश्यक गुणो का, अर्थात् मनुष्य के बन्धुत्व का, क्रियात्मक भाव है। यह सेवा के आधार पर समाज की व्यवस्था है। यह वह सामाजिक प्रथा नही है जिसमे प्रचुरता के रहते हुए भी लोग भूखे मरे, कपड़े की बहुतायत रहते हुए भी ठड में सिकुड़ तथा हजारो मकानो के खाली पड़े रहने पर भी बर्फीले मौसम का शिकार हो। इसमे धन-उत्पत्ति और विभाजन का इस प्रकार नियत्रण किया जाता है कि जिससे प्रत्येक नागरिक को भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधन मिल सके।

इसलिए समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह वह सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य समाज की उत्पादन-शक्ति पर नियत्रण रखकर, सारे समाज की भलाई के लिए धन का वितरण करना है।

सभी समाजवादी चाहे वे किसी भी मत के अनुयायी क्यो न हों, चार बातों पर अवश्य विश्वास करते है :—

(१) उत्पादन और वितरण (Production and Distribution) के साधनों से व्यक्तिगत प्रभुत्व को हटाकर राज्य का नियंत्रण कायम करना।

(२) उत्पादन की सीमा का निर्णय लाभ के विचार से नहीं, वरन् सामाजिक आवश्यकता के आधार पर करना।

(३) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा के सिद्धान्त को स्थापित करना।

(४) प्रतिस्पर्धा (Open Competition) और मनमाने धन के स्थान मे सहयोग और निश्चित उत्पादन को स्थापित करना। समाजवादी अनुभव करते हैं कि वर्तमान उत्पादकों की बहुत अधिक शक्ति, पूंजीवादी प्रथा अंतर्गत आपस में ही प्रागघातक प्रतिस्पर्धा में पड़कर नष्ट हो जाती है। अगर इस अ. युद्ध के बजाय उत्पादन और विभाजन का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रबन्ध किया जाय, तो समा बहुत अधिक लाभ हो सकता है, बरबादी और निरर्थक प्रतिस्पर्धा रोकी जा सकती ह विभिन्न जातियों और लोगों के बीच की वर्तमान असमानताएँ बहुत कुछ कम की जा सकेंगी।

सभी समाजवादी विद्वानों का आदर्श तो समान है परन्तु उनमें मतभेद इस बात पर है कि उत्पादन की शक्तियों पर सामाजिक नियंत्रण (Social Control over Production) किस तरीके से किया जाना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। कुछ समाजवादियों का विश्वास है कि समाज की ओर परिवर्तन धीरे-धीरे और वैधानिक ढंग से होना चाहिए। यह परिवर्तन धारा सभाओं के द्वारा किया जाना चाहिए। दूसरे समाजवादी, जिनमे विशेषतया कम्युनिस्ट तथा सिंडिकैलिस्ट (Communists and Syndicalists) हैं, क्रान्तिवादी कार्यक्रम में विश्वास करते हैं और वे वर्तमान सामाजिक सगठन को बलपूर्वक नष्ट कर समाजवादी राज्य को स्थापना करना चाहते हैं। ये समाजवादी आम तौर पर मार्क्सिस्ट (Marxists) कहलाते हैं और इनका सिद्धान्त रूस की क्रान्ति के बाद आजकल बहुत लोकप्रिय हो गया है।

यहाँ यह बात कह देना उचित होगा कि समाजवादियों का उद्देश्य व्यक्तिगत जायदाद को बिलकुल मिटा देना या आमदनी का समान वितरण करना नहीं है। मनुष्यों के उपयोग के लिए निजी जायदाद का रूस में भी अधिकार है। वहाँ लोग निजी इस्तेमाल के लिए बँगले, मोटरगाड़ी और बगीचे रख सकते हैं। लेकिन उन्हें इनके द्वारा धन कमाने की आज्ञा नहीं है। निजी जायदाद अपने उपभोग के लिए रखी जा सकती है, कानून उसकी इजाजत देता है। परन्तु यदि उस जायदाद से दूसरों का धनापहरण किया जाता है तो वह जब्त कर ली जाती है। इसी प्रकार समाजवादी राज्य में लोगों को अपने

काम के मुताबिक मजदूरी लेने का भी अधिकार प्राप्त है। वेतन में अन्तर हो सकता है, परन्तु यह अन्तर कम से कम रखने का प्रयत्न किया जाता है।

समाजवाद का मूल्य—समाजवाद समाज के आधुनिक प्रबन्ध के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह पूंजीवाद की निन्दा करता है जो उन करोड़ों मजदूरो और किसानों को गुलाम बनाने को दोषी है, जो एँड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर सुबह से शाम तक काम करते हैं और फिर भी भूखों मरते हैं। यह वह क्रान्तिकारी सिद्धान्त है जो एक निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन करने में विश्वास करता है। यह सामाजिक सेवा के दृढ सिद्धान्त पर अवलम्बित है। यह परोपकारी जीवन और कर्मयोग पर विशेष जोर देता है। रूस में जिस प्रकार से समाजवाद पर अमल किया गया है उससे उस देश का पुनरुत्थान हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुकरण से ही रूस अपने दो सदी पुराने मध्य-कालीन अन्धकार के दलदल से छुटकारा पा सका है।

आलोचना (Criticism)— कुछ लेखक समाजवाद के सिद्धान्त की निम्नलिखित कारणों से आलोचना करते हैं :—

(१) व्यक्तिगत स्फूर्ति (Initiative) और कार्यक्षमता (Efficiency), जो देश की उन्नति और आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, समाजवाद में प्रोत्साहन नही पाते। इससे लोगों में काम करने की रुचि नही रहती। निजी जायदाद न रख सकने के कारण लोग अधिक काम करना पसन्द नही करते और वह आलसी और परोपजीवी बन जाते हैं।

(२) यह राज्य के केन्द्रीय कार्यकर्त्ताओं के हाथ में बहुत अधिक अधिकार सौंप देता है। इससे यह लोग अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकते हैं और जनता की भलाई करने के बजाय उनके शोषण के काम में लग सकते हैं।

(३) समाजवाद के अन्तर्गत सरकार की जिम्मेदारी इतनी बढ़ जाती है कि वह कुशलतापूर्वक काम नही कर सकती। ऐसी सरकार में नौकरशाही का जोर हो जाता है और राज्य का इन्तजाम ठीक प्रकार नही चल पाता।

(४) समाजवाद व्यक्तित्व का दमन करता है। वह उसे स्फूर्ति, उत्तरदायित्व और स्वाधीनता-विहीन बनाकर समाज का गुलाम बना देता है।

(५) यह सिद्धान्त बहुत अधिक हिंसा पर अवलम्बित रहता है।

निष्कर्ष

इन सब आलोचनाओं के बावजूद समाजवाद का आन्दोलन संसार में स्थायी रूप धारण कर चुका है। आजकल संसार के सभी राज्य समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए, लोगों के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

रेलवे, डाक, तार, बेतार का तार, रेडियो, बिजली, गैस, बैंक और दूसरे आर्थिक संगठनों का प्रबन्ध आजकल प्रायः सभी राज्य अपने हाथ में रखते हैं। प्रगतिशील आयकर (Progressive Income-tax), मृत्यु-कर (Death duty), उत्तराधिकार-कर (Succession duty) इत्यादि प्रथाएँ विभिन्न वर्गों के अन्तर को बराबर कम कर रही हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संसार समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

राज्य के कार्यों का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic ory of State Functions)

यह सिद्धान्त इस धारणा से आरम्भ होता है कि मनुष्यों के को अच्छा बनाने के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था है। राज्य के अन्तर्गत रहकरानुष्य सदाचारी और नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। इस प्रकार 'आदर्शवराज्य को एक 'आवश्यक परन्तु दोषपूर्ण सस्था' नही, वरन् मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र समझा

परन्तु आदर्शवादियों का कहना है कि राज्य जो भी काम करता है, अपनी शक्ति के आधार पर करता है। यदि कोई राज्य कानूनों को न माने, या कर न दे, तो सरकार उसे दंड देती है; इसी दंड-प्रथा के द्वारा सरकार अपनी आज्ञाओं का पालन कराती है। अतः सरकार को केवल वे ही काम अपने हाथ मे लेने चाहिए जो आवश्यकता पड़ने पर जबरदस्ती भी कराये जा सकें। कुछ ऐसे कार्य हैं जो बलपूर्वक नही कराये जा सकते। उदाहरणार्थ, यदि राज्य दण्ड-विधान द्वारा अपने नागरिकों को नैतिक जीवन व्यतीत करने पर मजबूर करे, तो ऐसा सम्भव नही है। कारण, नैतिक जीवन मनुष्य की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। यह मनुष्य पर जबरन लादा नही जा सकता। जबरन किया हुआ काम कभी नैतिक नही हो सकता, क्योंकि वह काम करनेवाले का काम नही, बल्कि उसका काम हो जाता है, जो उसे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है। नैतिकता मनुष्य स्वभाव का आंतरिक गुण है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के भावनापूर्ण आचरण से है। इसी आधार पर वह उसे नैतिक बनने के लिए मजबूर नही कर सकता। इसी आधार पर वह उसे सच बोलने के लिए भी विवश नही कर सकता। राज्य का सम्बन्ध केवल मनुष्य के बाहरी कामों से रहता है, मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं से नही; परन्तु राज्य एक दूसरा काम अवश्य कर सकता है और वह यह कि वह मनुष्य के रास्ते मे से उन बाधाओं को हटा सकता है जो उसके नैतिक बनने में रुकावटें सिद्ध होती हैं। दूसरे शब्दों में, वह मनुष्य के नैतिक जीवन की बाधाओं में बाधा उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के नैतिक जीवन व्यतीत करने के रास्ते में गरीबी, अशिक्षा, शराबखोरी इत्यादि बुराइयाँ बाधक सिद्ध होती हैं। राज्य इन खराबियों को दूर

करके, मनुष्य के नैतिक जीवन का रास्ता साफ कर सकता है। एक अशिक्षित मनुष्य अपने अधिकार और कर्तव्यों को नही समझता और न वह उन्हे हासिल करने के ठीक उपाय ही जानता है। इसी प्रकार एक अशिक्षित बच्चा कभी भी अपनी पूर्ण उन्नति नही कर सकता। राज्य अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली (Compulsory Education) का प्रबन्ध करके इस खराबी को दूर कर सकता है। इसी तरह गरीबी के कारण मनुष्य अपने अधिकारों का उपभोग नही कर सकता। उसके दिमाग में पेट की चिन्ता सदा चक्कर लगाया करती है। ऐसा मनुष्य सांस्कृतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विचार तक नही कर सकता। उसका और उसके बच्चों का शरीर और मस्तिष्क उन्नत नही हो पाता। वह अज्ञान के घने अन्धकार में छिपा रहता है और उसकी शक्तियाँ सदा कुम्भकर्णी निद्रा में सोया करती हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओ को पूरा करे। इसी प्रकार राज्य शराबखोरी, बाल-विवाह, परदा-प्रथा, जबरन विधवापन इत्यादि सामाजिक कुप्रथाओं को नष्ट कर सकता है। ये सब खराबियाँ समाज के आचरण पर कलंक-स्वरूप हैं, और अच्छे सामाजिक जीवन की उन्नति मे बाधक हैं। इसलिए राज्य को इन्हें हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। 'आदर्शवादी' बाधाओ को हटाने के अतिरिक्त और कुछ नही करना चाहते। वे राज्य को समाज के आर्थिक नियंत्रण का अधिकार देने के लिए तैयार नही है। वह इस क्षेत्र में जनता को पूर्ण आजादी देना चाहते हैं। परन्तु इसका मतलब यह नही होता कि आदर्शवादी राज्य को व्यवसाय-सम्बन्धी मामलों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप की आज्ञा नही देता। इसके विपरीत वह मजदूरों की भलाई के लिए कानून बनाने का अधिकार राज्य को ही देना चाहता है। उसका कहना है कि राज्य, पूँजीपतियो द्वारा मजदूरो का शोषण रोकने के लिए, फैक्टरी-कानून और श्रमजीवियो के कम्पेन्सेशन कानून इत्यादि बना सकता है। राज्य व्यवसाय का प्रत्यक्ष रूप से इन्तजाम नही कर सकता, क्योंकि यह उसके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जरूरी नही है। वह केवल व्यवसाय की उन्नति के रास्तों मे आनेवाली बाधाओं को हटा सकता है।

इस तरह आदर्शवादी सिद्धान्त उपर्युक्त वर्णित दो सिद्धान्तो के मध्य स्थित है। वह व्यक्तिगत स्वाधीनता और सामूहिक कार्य दोनों को ठीक समझता है। सामूहिक कार्य इसलिए उचित समझा जाता है कि इससे मनुष्य का अधिकाधिक लाभ हो सकता है।

आलोचना (Criticism)—आदर्शवादी सिद्धान्त के आलोचको का कहना है कि राज्य को केवल अच्छे सामाजिक जीवन की बाधाओं को ही दूर करने के लिए काम न करना चाहिए। उसे वे सब काम भी करने चाहिएँ जिनसे नागरिको का भला हो सके और नागरिकों की अधिकाधिक भलाई की कोई सीमा नही है। इसलिए राज्य के कर्तव्यों की कोई पूर्व सीमा निश्चित नही की जा सकती। राज्य ऐसा भी कोई

काम कर सकता है जिससे सर्वसाधारण की भलाई की आशा हो। हरएक परिस्थिति में इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इसके लिए राज्य का प्रबन्ध उचित होगा अथवा नहीं, यदि राज्य का प्रबन्ध उचित जान पड़े तो राज्य को उसे अवश्य करना चाहिए। इसलिए राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही नहीं, सकारात्मक कार्य भी करने चाहिएँ।

राज्य के कार्यों का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of the Functions of State)

राज्य एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य मनुष्यों के लिए उन परिस्थितियों को उत्पन्न करना है, जिनके द्वारा वे अपने व्यक्तित्व की अधिकाधिक उन्नति कर सकें। इसलिए राज्य को ऐसे काम करने चाहिएँ जिनके द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति में तनिक भी सहायता मिलने की सम्भावना हो। सबसे पहिले राज्य को समाज में शान्ति और व्यवस्था, रक्षा और न्याय का काम करना चाहिए क्योंकि इन पर ही मनुष्य के शान्तिपूर्ण और सभ्य जीवन का अस्तित्व अवलम्बित है। दूसरी बात यह है कि राज्य को अशिक्षा गरीबी, बीमारी, शराबखोरी इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहिए। तीसरे, उसे उन सब कामों को करना चाहिए जिनके द्वारा मानव-जीवन अधिक स्वस्थ, सुसंस्कृत और उपयोगी बन सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के कर्तव्यों का आधुनिक सिद्धान्त उन सब अच्छी बातों को स्वीकार करता है जो पूर्ववर्णित तीनों सिद्धान्तों में शामिल हैं। व्यक्तिवादियों का मत इस प्रकार स्वीकार किया जाता है कि राज्य को मनुष्य के कर्तव्य की स्वाधीनता में बहुत अधिक हस्तक्षेप न करना चाहिए। उसे मनुष्य के अपने गुणों और शक्तियों के अधिकाधिक उपयोग के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करने चाहिएँ। समाजवादियो का दृष्टिकोण इस तरह स्वीकार किया गया है कि राज्य को केवल एक पुलिस का संगठन नहीं माना गया है, वरन् राष्ट्रीय जीवन की प्रगति और नागरिकों के नैतिक और बौद्धिक विकास का साधन माना गया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार स्वीकार किया गया है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य का सबसे जरूरी काम सामाजिक जीवन की बाधाओं को हटाना माना गया है।

§ ४. राज्य के वास्तविक कर्तव्य

(Actual Functions of the State)

कर्तव्यों का वर्गीकरण (Classification of Functions)

आधुनिक राज्यों द्वारा किये गये कार्यों का वर्गीकरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है—(१) आवश्यक या अनिवार्य और (२) ऐच्छिक।

आवश्यक कर्तव्य—(Essential Functions)—आवश्यक कर्तव्यों में राज्य के वे कार्य शामिल हैं जो उसके अस्तित्व के लिए जरूरी हैं। प्रत्येक राज्य के लिए चाहे वह

कितना भी पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इन कामों का करना आवश्यक समझा जाता है यह कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा—यह उद्देश्य एक सुव्यवस्थित सेना तथा जहाजी और हवाई ताकत की व्यवस्था द्वारा हासिल किया जा सकता है।

(२) देश में आंतरिक शान्ति कायम रखना—इस उद्देश्य में नागरिकों के धन और जान की रक्षा, आंतरिक उपद्रवों इत्यादि से बचाव, व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा इत्यादि कार्य शामिल हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासन को एक पुलिस दल की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(३) न्याय प्रबन्ध—एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य तथा मनुष्यों और राज्य के बीच मुकदमे का फैसला करने के लिए प्रत्येक देश में न्यायालयों की स्थापना की जाती है। न्यायालय तीन प्रकार के होते हैं—दीवानी, फौजदारी और माली। यह तीनों अदालतें मिलकर जनता में न्याय का प्रबन्ध करती हैं।

कुछ लेखक राज्य के लिए एक चौथा कार्य भी निर्धारित करते हैं। इसमें पति और पत्नी के बीच और माता-पिता और सन्तान के बीच काननी सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। कभी-कभी इस शीर्षक के अंतर्गत ठेकों की व्यवस्था, जायदाद की लेव-बेच, और कर्ज लेने-देने के कानून भी शामिल किये जाते हैं।

गैटिल (Gettel) इस सूची में एक और काम भी जोड़ता है और वह है राज्य के आर्थिक काम अर्थात् कर निर्धारित करना, आयात-निर्यात-कर लगाना, मुद्रा और करेन्सी सम्बन्धी कानून बनाना, भूमि, जंगल और सार्वजनिक जायदाद का प्रबन्ध करना, डाक, तार और रेलवे इत्यादि का प्रबन्ध करना इत्यादि।

राज्य के ऐच्छिक कर्तव्य (Optional Functions of the State)

इस शीर्षक मे वे सब कर्तव्य आ जाते हैं जो मनुष्यों की भलाई करने, उसकी संस्कृति को बढ़ाने और उसके जीवन को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) शिक्षा—देश के बालकों की शिक्षा, विशेषकर प्रारंभिक शिक्षा का प्रबन्ध, आजकल राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। शिक्षा एक अच्छे सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है। इसके बिना मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नही कर सकता। प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य में इसी कारण जनता को शिक्षित बनाने के कार्य पर अत्यधिक जोर दिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो बच्चो को ही नहीं, युवा और वृद्ध लोगों को भी सिनेमाओं, व्याख्यानों, चित्रों तथा रेडियो इत्यादि के द्वारा शिक्षित बनाने का प्रबन्ध किया जाता है। शिक्षा न केवल मनुष्यों की भलाई के लिए ही आवश्यक है वरन् राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए भी जरूरी है।

(२) सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा——जनता की स्वास्थ्य-रक्षा के उद्देश्य से राज्य तरह-तरह के कानून बनाता है जिनके द्वारा बीमारियों को रोकने, बाजार मे खराब चीजों के न बिकने तथा सार्वजनिक स्थानो की ठीक सफाई का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त सफाई, रोशनी, स्वच्छ जल, अस्पताल, नर्सिग होम इत्यादि का प्रबन्ध भी राज्य द्वारा किया जाता है जिससे नागरिक स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रह सके तथा बीमारियों से अपनी रक्षा कर सके।

(३) यातायात के साधनों की सुविधा——आधुनिक काल में यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के प्राण है। कोई भी राज्य सडके, रेले, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, डाकखाना इत्यादि की सुविधा के बिना जीवित नही रह सकता। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि सरकार द्वारा इस प्रकार की सुविधाएँ अधिक से अधिक मात्रा मे प्रदान की जायँ।

(४) बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण——जैसे रेल, सड़क, डाकखाने, तार विभाग, बिजली, पानी का प्रबन्ध, नहर, ब्राडकास्टिंग, इत्यादि। यह कुछ ऐसे विषय है जिनका प्रबन्ध और नियन्त्रण ससार के प्रायः सभी देशों में राज्य के हाथ मे रहता है। इस प्रकार के बड़े उद्योगों मे धन लगाना और उनका प्रबन्ध करना लोगों की शक्ति के बाहर होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश के व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए ऐसे सार्वजनिक उपयोगी धंधों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। यदि इनका नियन्त्रण व्यक्तिगत लोगों अथवा कम्पनियों के हाथ में छोड़ दिया जाय तो वह उनका दुरुपयोग कर सकते है, और इनको सर्वसाधारण के हित के बजाय स्वार्थसिद्धि के काम मे इस्तेमाल कर सकते है।

(५) हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन पर नियंत्रण——शासन कभी-कभी कुछ उद्योगों जैसे शराब, अफीम, मादक तथा जहरीली चीजों के उत्पादन का कार्य अपने हाथ में ले लेता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिससे वस्तुओं का दुरुपयोग न किया जा सके, और जनता इन चीजों का अधिक इस्तेमाल न कर सके।

(६) उद्योग-धंधों की सहायता——आजकल राज्यों का सबसे आवश्यक कार्य देश के आर्थिक साधनो की उन्नति करना होता है। यह काम अनेक साधनों द्वारा किया जाता है, जैसे आयात के विरुद्ध कर लगाना, कारखानो को धन की सहायता देना, औद्योगिक अन्वेषण-केन्द्रो को खोलना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते करना, दूसरे देशों में ट्रेड कमीशनों की नियुक्ति करना, मेलों और नुमाइशों का आयोजन करना, ज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना इत्यादि। आजकल अधिकांश राज्य अपने देश में व्यापार और व्यवसाय की उन्नति करने की दृष्टि से इन कामों को करते है।

(७) मजदूरों की व्यवस्था—मजदूरो की बड़े पूंजीपतियों और जमींदारों के अत्याचार से रक्षा करने के लिए, राज्य, फैक्टरी कानून, मजदूरी कानून इत्यादि बनाते है। इन कानूनों के द्वारा मजदूरों की हालत बहुत कुछ सुधर गई है। ट्रेड यूनियन ऐक्ट, आरबिट्रेशन ऐक्ट इत्यादि भी इसी उद्देश्य से बनाये जाते है।

(८) निर्धन और अपाहिजों की रक्षा—राज्य निर्धन और अपाहिजों की सेवा के लिए निर्धन-गृह (Poor houses), अन्धों के गृह (Blind homes), पागलखाने (Lunatic asylums), अस्पताल और औषधालय इत्यादि का भी प्रबन्ध करता है। किसी-किसी देश में बेकार लोगों को सहायता (Unemployment doles) देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेन्शन इत्यादि देने का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(९) बैंकिंग करेंसी मुद्रा का प्रबंध—संसार के प्राय: सभी सभ्य देशों में राज्य द्वारा करेन्सी का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश की दूसरे देश के साथ करेन्सी की विनिमय-दर का निश्चय करता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के द्वारा सरकार देश की आर्थिक संस्थाओं पर भी नियन्त्रण रखती है।

(१०) कृषि की उन्नति और ग्राम-संगठन—आधुनिक काल में सरकार खेती-बाड़ी की उन्नति तथा ग्रामीण सगठन के कार्य पर भी जोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए, बिजली के कुओं, कृषि-अनुसधान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएं दी जाती है। ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायतो का आयोजन किया जाता है।

(११) मनोरंजन की सुविधाएँ—वर्तमान सरकारे, पार्क, खेलने के स्थान, सार्वजनिक स्नान-गृह, सिनेमा, रेडियो, नृत्यगृह इत्यादि साधनों के द्वारा जनता के मनोरजन का प्रबन्ध करती है।

(१२) सामाजिक सुधार—सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए प्रयत्न करना राज्य का एक आवश्यक कर्तव्य है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में बहुत-सी सामाजिक बुराइयाँ घर कर लेती है। हमारे देश में इस प्रकार की बुराइयों में पर्दा प्रथा, अछूतपन, जाति-पाँति का भेद, ऊँच-नीच की भावना, बहु-विवाह इत्यादि उदाहरण के रूप में है। प्रत्येक प्रगतिशील सरकार का धर्म है कि वह ऐसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे।

सरकार के ऐच्छिक कर्तव्यों की कोई विस्तृत सूची नही बनाई जा सकती। राज्य का धर्म, नागरिकों के लिए उन सब सुविधाओं तथा अवस्थाओं को प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति की जा सकती है।

वर्तमान काल मे इसी कारण से राज्य के ऐच्छिक कर्तव्यों की सूची बढ़ती चली जा रही है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि राज्य के ऐच्छिक और आवश्यक

कार्यों में भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। जो कार्य किसी राज्य द्वारा कल तक ऐच्छिक समझे जाते थे वे आज आवश्यक प्रतीत होते हैं, इस प्रकार राज्य के आवश्यक कार्यों का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य क्या है, उद्देश्य अथवा साधन ? इस कथन पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

२. राज्य का स्वभाव क्या है ? मनुष्य और राज्य के बीच में सच्चा संबंध किस प्रकार का होना चाहिए ?

३. राज्य के कार्यों के विभिन्न सिद्धान्त क्या है ? आधुनिक सिद्धान्त क्या है ?

४. आपके ख्याल में वे प्रधान कर्तव्य कौन से हैं, जिन्हें प्रत्येक शासन को करना चाहिए ? (यू० पी०, १९२८, १९४०, १९४२, १९४७)

५. राज्य सामाजिक बुराइयाँ जैसे शराबखोरी और बाल-विवाह को कानून द्वारा हटाने में कहाँ तक न्यायसंगत माना जा सकता है ? (यू० पी०, १९३०)

६. क्या आप शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाना और स्वास्थ्य, सफाई का कानून द्वारा बन्धन करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य समझते हैं ? यदि आप ऐसा समझते हैं तो उसके कारण बतलाइये। (यू० पी०, १९३३)

७. राज्य का उद्देश्य क्या है ? राज्य किन साधनों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है ? (यू० पी०, १९३३)

८. राज्य लोगों के व्यापार, व्यवसाय और भौतिक उन्नति की कहाँ तक वृद्धि कर सकता है ? (यू० पी०, १९३४)

९. आधुनिक राज्य के प्रधान कर्तव्य क्या है ? किस प्रकार का शासन इन्हें अधिक योग्यता के साथ कर सकता है ? (यू० पी०, १९३७)

१०. उन सिद्धान्तों को समझाइए जिनके अनुसार आप राज्य के कर्तव्य को निश्चित करेंगे। क्या राज्य शराबखोरी बन्द करना, सत्य भाषण, सफाई और शिक्षा को अमल में ला सकता है ? (यू० पी०, १९३८, १९५२)

११. राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों है। इसे पूर्ण विवेचना करते हुए समझाइए। (यू० पी०, १९३८)

१२. व्यक्तिवादी और समाजवादी मतावलम्बियों के राज्य के कर्तव्य संबंधी विचारों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३९)

१३. आधुनिक राज्य जिन विभिन्न कार्यों को करते हैं उनका वर्णन कीजिये। इसमें से कौन-सा कार्य आप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं और क्यों। (यू० पी०, १९४१)

१४. राज्य के कार्यों के वैयक्तिक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और उसकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९४२)

१५. राज्य को गरीबों की रक्षा क्यों करनी चाहिए ? क्या यह न्यायसंगत बात है कि एक मनुष्य के बच्चे को मुफ्त शिक्षा देने के लिए दूसरे आदमी पर कर लगाया जाय ? (यू० पी०, १९४५)

१६. आपकी राय में राज्य के कामों का उचित क्षेत्र क्या है ? (यू० पी०, १९४९)

१७. राज्य शिक्षा क्यों दें और जनता के स्वास्थ्य की रक्षा और उन्नति क्यों करें ? क्या आपकी राय में राज्य को विज्ञान, ललित कलाओं, साहित्य आदि को बढ़ावा देना चाहिए ? (यू० पी०, १९५०)

१८. आधुनिक राज्य के कर्तव्य क्या हैं ? किस प्रकार का शासन इन्हें अधिक योग्यता के साथ कर सकता है ? (यू० पी०, १९५२)

१९. समाजवाद के सिद्धान्त को समझाइये। आधुनिक राज्यों की कार्यशीलता को समाजवाद ने कहाँ तक प्रभावित किया है ? (यू० पी०, १९५३)

अध्याय १६

अधिकार-विभाजन का सिद्धांत और शासन के मुख्य अङ्ग

(Theory of Separation of Powers and Organs of Government)

§ १. अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा मनुष्यों के जीवन को सुसंस्कृत और उन्नतिशील बनाने के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था है। इस संस्था के मुख्यत: तीन अंग होते हैं: (१) विधान-मंडल (Legislature), (२) कार्यपालिका (Executive) और (३) न्यायपालिका (Judiciary)। जैसा इनके नाम से ही स्पष्ट है, विधान-मंडल का काम कानून बनाना, कार्यपालिका का काम इन कानूनों के अनुसार राज्य का प्रबन्ध करना, तथा न्यायपालिका का काम मुकदमों का फैसला करना होता है। कुछ विद्वान् सरकार के केवल दो ही अग मानते हैं:—(१) विधान-मंडल (Legislature) और (२) कार्यपालिका (Executive)। न्यायपालिका को यह लोग कार्यपालिका का ही एक अंग मानते हैं। यह मत न्याय-संगत नहीं क्योंकि इसमें न्यायालय को कार्यकारिणी का एक अंग मानकर उसके साथ घोर अन्याय किया गया है। वास्तव में संसार के प्राय: प्रत्येक देश में न्यायालय को सरकार के बाकी सारे ही अंगों से बिलकुल स्वतन्त्र रखा जाता है। कुछ राजनीतिक सरकार के पाँच अंग भी मानते हैं अर्थात् (१) विधान सभा, (२) कार्यकारिणी, (३) शासन करनेवाला अंग, (४) न्याय करनेवाला अंग, (५) वोटरों का समुदाय। आजकल यह मत भी अधिक लोकप्रिय नहीं है। इसलिए सरकार के तीन अंगोंवाला सिद्धान्त (Trinity Theory of Governmental Organs) ही सबसे अधिक मान्य है।

सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध

सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सबसे प्रसिद्ध मत अरिस्टाटल (Aristotle), मौनटैस्क्यू (Montesquieu) तथा ब्लैकिस्टन (Blackstone) द्वारा प्रतिपादित 'अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) कहलाता है। इस मत के अनुसार सरकार के तीनों अंग, अर्थात् विधानमंडल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका एक दूसरे से बिलकुल पृथक्

और स्वतन्त्र रहने चाहिएँ। इन तीनों अंगों के अपने अलग-अलग कार्य है और उन्हें एक दूसरे के कार्य-क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए। ऐसा करना मनुष्य की स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। यदि सरकार की ये तीनों शक्तियाँ एक ही हाथ में सौप दी जायें तो व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र नही रह सकता, एवं ऐसा राज्य एक प्रजातन्त्रवादी सगठन न रहकर एक निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन बन जाता है।

इसी प्रकार यदि किसी राज्य में कानून बनाने और उसके पालन करने का काम एक ही हाथ में सौप दिया जाय तो भी स्वतन्त्रता कायम नही रह सकती। कार्यकारिणी और न्याय-विभाग के सम्मिश्रण से तो और भी अधिक अधेर हो जाता है क्योकि ऐसी दशा में मनुष्य को किसी प्रकार का न्याय नही मिल सकता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ओर मानव-जीवन दोनो खतरे में पड़ जाते है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तवादियों का कहना है कि सरकार के तीनों ही अंग एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र रहने चाहिएं। ऐसा दशा में ही मनुष्य कार्यकारिणी के अत्याचारों के विरुद्ध न्याय-विभाग से रक्षा प्राप्त कर सकता है, एवं विधान सभा द्वारा अपने व्यक्तित्व के लिए अच्छे कानूनों की स्वीकृति की आशा कर सकता है।

इस सिद्धान्त के समर्थन मे एक दूसरा कारण भी दिया जाता है और वह यह कि राज्य के इन तीनो अंगों के सुचारु रूप से कर्तव्य-पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों मे जो इन तीनों अंगों का कार्य संचालन करते है अलग-अलग प्रकार के गुण और स्वभाव हो। उदाहरणार्थ एक पुलिस कर्मचारी को कानून पर अमल करके समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखनी पड़ती है। इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति में तेजी और ताकत के साथ काम करने की शक्ति हो। इसके विपरीत एक न्यायाधीश को कानून का सही अर्थ निकालना पड़ता है। इसके लिए उसमें विचार-शीलता और गम्भीरता के गुण होने चाहिएँ। यह गुण एक पुलिस के सिपाही के लिए उपयुक्त नही। इस प्रकार हम देखते है कि शासन के भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता है और इसलिए यह अनिवार्य है कि सरकार के तीनों काम भिन्न-भिन्न मनुष्यों को सौंपे जायें।

उपर्युक्त सिद्धान्त की आलोचना––इस सिद्धान्त की व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। (१) सर्वप्रथम उन लोगो का कहना है कि सरकार मानव-शरीर के समान एक संगठन है। जिस प्रकार शरीर का कोई भाग दूसरे से बिलकुल अलग नहीं रह सकता और एक भाग में खराबी आने से सारे शरीर की दशा ही बिगड़ जाती है, ठीक उसी प्रकार सरकार का संगठन भी है। सरकार के

अंग एक दूसरे से अलग रहकर काम नही कर सकते। उन्हें एक दूसरे के सम्पर्क में रहकर ही काम करना पड़ता है। (२) दूसरे, शासन-यन्त्र को ठीक प्रकार से चलाने के लिए यह जरूरी है कि देश की धारा सभा और कार्यकारिणी एक दूसरे से मिल-जुलकर काम करें। इनके अलग-अलग उद्देश्य से काम करने से शासन छिन्न-भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई देश दूसरे के विरुद्ध युद्ध करना चाहता है; अब यदि उस देश की धारा सभा युद्ध के खर्चे को मंजूरी न दे तो कार्य-कारिणी एक दिन के लिए भी युद्ध-सचालन नही कर सकती। (३) तीसरे, न्याय-विभाग को, कार्यकारिणी और धारा सभा से, पूर्णतः अलग करने का मतलब यह होता है कि न्यायाधीशो का चुनाव जनता द्वारा किया जाय। परन्तु न्याय के क्षेत्र में चुनाव की प्रथा कितनी हानिकारक हो सकती है इसको बताने की आवश्यकता नही। न्यायाधीशो के चुन जाने का अर्थ यह होता है कि उनके पद की अवधि तथा न्याय का निर्णय इलेक्शन एजेण्टों के हाथ में चला जाता है। (४) चौथे, कहा गया है कि अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रयोग अमेरिका में किया गया है। वहाँ की शासन-पद्धति की यह विशेषता समझी जाती है कि सरकार के तीनो अंग एक दूसरे से अलग-अलग कार्य करते हैं। परन्तु तनिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि अमेरिका मे शासन के तीन अंगों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वहाँ "कांग्रेस" कोई ऐसा काम नही कर सकती जो प्रेसीडेंट की इच्छा के विरुद्ध हो। यदि वह ऐसा करती है तो प्रेसीडेंट को अधिकार है कि वह उस कानून को रद्द कर दे। ऐसा करने के पश्चात् काग्रेस की दोनो सभाओं (Houses) के $\frac{२}{३}$ बहुमत को उस कानून को दुबारा पास करना पडता है और यदि वे ऐसा न कर सकें तो कानून रद्द हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रेसीडेंट कांग्रेस का सदस्य नही होता फिर भी वह उसके सामने अपनी माँगे लिखकर भेज सकता है और स्वय भी उसके अधिवेशनों में आकर भाषण दे सकता है। प्रेसीडेंट के इन संदेशों तथा भाषणो का काग्रेस के कानूनों पर भारी असर पड़ता है। इससे साफ जाहिर है कि अमेरिका के शासन-विधान में भी व्यवस्थापिका सभा और कार्य-कारिणी एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नही है। कहा जाता है कि अमेरिका का प्रधान न्यायालय (Supreme Court) बिलकुल स्वतन्त्र है परन्तु इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति भी प्रेसीडेंट ही करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अमेरिका का न्यायालय भी सरकार के दूसरे दो अंगो से पृथक् नही है। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि सरकार के तीन अंगों को एक दूसरे से पृथक् रखना सम्भव नही और संसार के किसी भी देश में ऐसा नही होता। (५) नागरिक स्वाधीनता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिकारो के विभाजन पर इतनी अवलम्बित नहीं रहती जितनी कि संविधान की आत्मा पर। इगलैंड में संसार के किसी भी देश की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम नही है। हालाँकि

उस देश में कार्यकारिणी और संसद एक दूसरे से बिलकुल मिली हुई है। (६) यह सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों को समान मानता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक देश की विधान सभा सरकार के दूसरे अंगों से बढ़कर होती है और उनके व्यय के नियंत्रण द्वारा उन पर अधिकार रखती है।

सिद्धान्त का औचित्य और इसकी उपयोगिता

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद सरकार के अधिकार-पृथक्करण सिद्धान्त में कुछ अत्यन्त उपयोगी बातें हैं। उदाहरणार्थ यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि शासन के तीनों अंगों के बीच थोड़ा-बहुत अधिकार-विभाजन, शासन की अच्छाई को कायम रखने के लिए, आवश्यक और वांछनीय है। बहुत से अधिकारों के एक ही मनुष्य या मनुष्यों के समूह के हाथ में दिये जाने से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भारी खतरा पहुँचता है। अधिकार-विभाजन से विभिन्न अंगों द्वारा शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने पाता। विशेष रूप से इस सिद्धान्त ने न्यायालय को सरकार के दूसरे दो अंगों के प्रभुत्व से अलग करने में भारी सहायता की है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी ऐसे देश में, जहाँ न्यायालय स्वतन्त्र नहीं, नागरिक स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती।

सरकार के कार्य-विभाजन का अवरोध और संतुलन-सिद्धांत (Theory of Checks and Balances)

सरकार के अंगों के अधिकार-विभाजन का आधुनिक सिद्धान्त अवरोध और सन्तुलन-सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि यद्यपि सरकार के तीनों अंगों का अलग-अलग कार्य करना वांछनीय है तथापि उन्हें एक दूसरे की शक्ति को रोक-थामकर रखना चाहिए। उदाहरणार्थ देश के विधान-मंडल का काम कानून बनाना है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उसका कार्यकारिणी से कोई सम्बन्ध न हो, प्रायः कार्यकारिणी देश के विधान-मंडल पर निम्न प्रकार से नियंत्रण रखती है:

(१) विधान-मंडल में दैनिक शासन-कार्य के विषय में जरूरी कानून पेश करके

(२) विधान-मंडल द्वारा पास कानूनों को कुछ विशेष दशाओं में रद्द करके।

इसी प्रकार प्रत्येक देश में कानूनों पर अमल कराने के लिए एक अलग कार्यकारिणी (Executive) होनी चाहिए। परन्तु इसका भी यह आशय नहीं कि कार्यकारिणी और विधान-मंडल में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रहे। जिस प्रकार कार्यकारिणी विधान-मंडल पर नियंत्रण रखती है, ठीक उसी प्रकार विधान-मंडल को भी चाहिए कि वह कार्यकारिणी पर अधिकार रक्खे। ऐसा वह दो प्रकार से कर सकती है:

(१) कार्यकारिणी से उसकी नीति के सम्बन्ध में प्रश्न करके।

(२) कार्यकारिणी को उसके पद से अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा करके।

प्रत्येक देश मे न्याय-सम्पादन के लिए एक स्वतन्त्र न्यायालय की भी आवश्यकता होती है। जहाँ तक सम्भव हो, इस न्यायालय का कार्य-क्षेत्र विधान-मंडल तथा कार्यकारिणी से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिए, परन्तु इसका भी यह आशय नही कि न्यायालय का सरकार के बाकी दो अगों से किसी प्रकार का सबध ही न रहे।

प्रत्येक देश के प्रधान न्यायालय को विधान-मंडल द्वारा पास कानूनों के विषय मे अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार होता है। देश के विधान-मंडल को भी इसी प्रकार, न्यायालय की शक्ति, उसके कार्य तथा उसमें काम करनेवाले न्यायाधीशों की योग्यता का निश्चय करने का अधिकार होता है।

न्यायालय कार्यकारिणी पर उन अभियुक्तों को सजा देकर या उन्हें छोड़कर नियन्त्रण करता है, जो उसके सामने कार्यकारिणी द्वारा पेश किये जाते है। इसके बदले में कार्यकारिणी भी न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा उस पर नियन्त्रण रखती है।

स्वतंत्र न्यायालय और नागरिक अधिकार

सरकार के उपर्युक्त वर्णित 'अधिकार-पृथक्करण सिद्धान्त' के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रत्येक देश में न्याय-विभाग का कार्यकारिणी से अलग किया जाना नागरिक स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित कारण दिये जा सकते है :—

(१) जैसा कि हम पहले भी बतला चुके है, कार्यकारिणी और न्यायालय के सदस्यों के गुण और स्वभाव में भिन्नता होनी चाहिए। न्याय-विभाग के कर्मचारियों में गम्भीरता, निष्पक्षता तथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण के गुण होने चाहिएँ। कार्यकारिणी के कर्मचारियो में इसके विपरीत तेजी, फुर्ती और शक्ति से काम करने की क्षमता होनी चाहिए। यह दोनों गुण एक ही मनुष्य में नहीं पाये जा सकते। (२) कार्यकारिणी का प्रधान कर्तव्य कानून भंग करनेवाले लोगों को गिरफ्तार करना है। यदि यही मनुष्य अभियुक्तों के जुर्मो का फैसला भी करने लगें तो किसी प्रकार के न्याय की आशा नहीं की जा सकती। (३)न्याय विभाग को कार्यकारिणी के दबाव तथा असर से दूर रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसको कार्यकारिणी के प्रभाव से बाहर रक्खा जाय। यदि न्यायाधीश कार्यकारिणी के मातहत रहेंगे, और उनकी इच्छा और सिफारिश पर ही उनकी भावी उन्नति अवलम्बित होगी तो न्याय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता कायम नहीं रखी जा सकती। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पद की अवधि, उनका वेतन, उन्नति आदि का काम कार्यकारिणी के क्षेत्र से बाहर रखा जाय।

हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी हम अपने न्यायालयों को कार्यकारिणी के क्षेत्र से बाहर नहीं कर पाये है। हमारे देश के प्रायः

प्रत्येक जिले और तहसील में सरकार की कार्यकारिणी के उच्च कर्मचारी जिला कलेक्टर और तहसीलदार—शासन-प्रबन्ध और न्याय दोनों का ही कार्य करते हैं। विदित है कि ऐसी दशा में नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा की कोई भी आशा नहीं की जा सकती। भारत के कुछ प्रान्त, इसी कारण, आजकल कार्यकारिणी और न्याय-विभाग को पृथक् करने के कार्य में लगे हुए हैं।

§ २. शासन के अङ्ग

जैसा कि पिछले पृष्ठों में बतलाया जा चुका है, शासन के तीन अंग होते हैं: (१) विधान-मंडल, (२) कार्यपालिका और (३) न्यायपालिका। अब हम इन तीनों अंगों की बनावट तथा संगठन का विस्तृत वर्णन करेंगे।

विधान मंडल के कार्य (Functions of the Legislature)

विभिन्न देशों के विधान-मंडल मुख्यतः निम्नलिखित कार्य करते हैं:—

(१) सर्वप्रथम वह देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए कानून बनाते हैं। समय की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक समाज में नये कानूनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए विधान-सभाएँ पुराने कानूनों के स्थान पर निरन्तर नये कानून बनाती रहती हैं। किसी-किसी देश, जैसे इंगलैण्ड में संसद को संविधान में परिवर्तन करने का भी अधिकार प्राप्त होता है।

(२) दूसरे, विधान सभाएँ देश की आमदनी (Finances) पर नियंत्रण रखती हैं। कोई नये कर लगाने अथवा किसी नये मद में खर्च करने की कोई भी योजना उस समय तक अमल में नहीं लाई जा सकती जब तक कि विधान सभा उसे स्वीकार नहीं कर लेती। बजट को पास करना तथा नये कर लगाना, इस प्रकार, विधान सभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य है।

(३) विधान सभाओं का तीसरा मुख्य कार्य देश की कार्यकारिणी पर नियंत्रण करना है। मन्त्रिमंडलात्मक सरकार के तरीके में मन्त्री सदा विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा अपने पद पर केवल उसी समय तक आसनारूढ़ रहते हैं जब तक कि विधान सभा के अधिकतर सदस्यों का उनमें विश्वास होता है।

अध्यक्षात्मक शासनों में, विधान सभाएँ कार्यकारिणी पर उनके द्वारा की गई नियुक्तियों की मंजूरी देकर तथा सन्धिपत्रों की स्वीकृति देकर नियन्त्रण रखती हैं।

(४) वह सरकार के सम्मुख जनता की तकलीफों को पेश करने का काम भी करती हैं। विधान-मंडल के सदस्य प्रस्तावों, प्रश्नों, बजट में कटौती तथा काम रोको प्रस्ताव इत्यादि पेश करके जनता की तकलीफों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हैं।

(५) वह राज्य की नीति को निर्धारित करते है और सरकार के सामने एक ठोस कार्यक्रम पेश करते हैं।

(६) वह राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की देख-भाल करते है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में कोई भी युद्ध या सन्धि उस समय तक नही की जा सकती जब तक कि विधान मडल की उस विषय में राय न ले ली जाय।

(७) कुछ देशों में विधान सभाएँ कुछ ऐसे काम भी करती है जिनका कानून से कोई संबध नही होता, उदाहरणार्थ वे चुनाव के झगड़ों का फैसला करती है, अपने सदस्यों के मुकदमो को सुनती है; कभी-कभी सरकार के उच्च कर्मचारियों पर लगाए गए अभियोगों की छानबीन करती है और अपील की अदालत का भी काम करती है।

विधान-मंडल का संगठन

दूसरी सभा का प्रश्न (Problem of Second Chamber)—हम यह देख चुके है कि विधान-मंडल राज्य का सबसे आवश्यक अंग है। इसके उचित संगठन तथा कार्य पर ही किसी देश और समाज की भलाई अवलम्बित रहती है। इसके द्वारा जो भी कानून पास किये जाते है वे सभी जातियों की उन्नति पर प्रभाव डालते है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि किसी भी कानून को पास करने से पहिले यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि इस कानून से जानता के किसी अंग-विशेष को हानि तो नही पहुँचती है। देश के विधान-मडल मे इसी कारण जनता के प्रत्येक हित तथा वर्ग का प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

कुछ लोगों का विचार है कि विधान-मंडल के दो भाग होने चाहिएँ, जिनमें से एक का नाम "निचली सभा" (Lower House) तथा दूसरे का नाम "उच्च सभा" (Upper Chamber) होना चाहिए। जिस देश के विधान-मडल में केवल एक ही भवन (House) होता है वह एकभवनात्मक विधान-मंडल (Unicameral Legislature) और जिसमें दो भवन होते है, द्विभवनात्मक विधान-मंडल (Bicameral Legislature) कहलाता है। प्रायः प्रत्येक देश मे निचली सभा मे जनसाधारण का प्रतिनिधित्व रहता है और उच्च सभा में जनता के कुछ विशेष वर्गो का; जैसे—जमीदार, मजदूरो, व्यपारियों, कारखानेदारों, यूनिवर्सिटियो, व्यापार-संघो, ट्रेड यूनियनो इत्यादि का।

दूसरी सभाओं के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Second Chamber)—द्विसभात्मक विधान-मडल के पक्ष मे जो दलीलें दी जाती है, वे निम्नलिखित है: (१) द्वितीय भवन विधान-मंडल के निम्न भवन के कार्यो पर दुबारा विचार करता है, और उनमें जो कुछ भूल आदि रह जाती है उनको दूर कर देता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि निचली सभा ऐसे प्रतिनिधियों से भरी रहती है जो

अत्यन्त उग्र तथा क्रांतिकारी विचारवाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोग बिना सोचे-समझे जल्दी में कुछ ऐसे कानूनों को पास कर बैठते हैं जिनसे सर्वसाधारण का भला नहीं वरन् हानि होती है। "उच्च सभा" कानून की इन बुराइयों को दूर कर देती है तथा निचली सभा पर नियंत्रण रखती है। (२) उच्च सभा में ऐसे व्यक्तियो को प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा अनुभव के कारण जनता में प्रख्यात होते हैं। ऐसे व्यक्ति चुनावों मे भाग लेना पसन्द नही करते, इसलिए उच्च सभा में वे नामजद कर दिये जाते हैं। (३) "निचली सभा" पर आजकल के राज्यो मे कार्य-भार बहुत रहता है, अतः वे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर वाद-विवाद नही कर पाते। उच्च सभाएँ, जिनके पास काफी फालतू समय रहता है, इस कमी को पूरा कर देती हैं। (४) उच्च सभा के द्वारा कुछ ऐसे लोगो को भी स्थान मिल जाता है जो समाज के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे—जमीदार, मिल-मालिक, मजदूरों के नेता, व्यापारी, अल्पसख्यक जातियाँ इत्यादि। (५) द्वितीय सभा के रहने से कानून बनाने में एक सभा द्वारा स्वेच्छाचार या मनमानी करने की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार द्वितीय सभा जनता की स्वतंत्रता की रक्षा करती है। (६) उच्च सभा कानून के पेश होने और उसके पास होने के बीच जनता को इस बात का अवसर प्रदान करती है कि वह उस कानून के विषय मे अपना मत प्रकट कर सके। (७) संघीय संविधानों में उच्च सभा विभिन्न राज्यों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सहायता देती है। इसलिए इन देशों मे यह अनिवार्य समझी जाती है।

दूसरी सभाओं से हानि (Disadvantages of Second Chambers)—बहुत से राजनीति के विद्वान् दूसरी सभा की प्रथा के अत्यन्त ही विरुद्ध हैं। उनके मत से दूसरी सभा न तो किसी उद्देश्य की पूर्ति ही करती है और न कोई लाभदायक कार्य ही करती है। (१) अनुभव यह बतलाता है कि वास्तव में दूसरी सभाएँ धनिकों और अनुदार दलों का गढ़ बन जाती हैं और फिर इन दलों की स्वार्थ-रक्षा के नाम में सर्वसाधारण के हित का विरोध करती हैं। (२) विधान-मंडल का काम कानून बनाना है। एबेसीज (Abbesieyes) के कथनानुसार लोकमत किसी भी विषय पर एक ही हो सकता है दो नही, इसलिए उसका प्रतिनिधित्व करनेवाली सभा भी एक ही होनी चाहिए—दो नहीं। (३) दो सभाओं के होने से उनमें निरन्तर झगड़ा होता रहता है और शासन का कार्य तेजी से आगे नहीं बढ़ सकता। (४) एक विद्वान् ने लिखा है कि द्वितीय सभा प्रथम सभा से सहमत रहे तो व्यर्थ है और यदि उसका विरोध करे तो हानिकारक है। द्वितीय सभा या तो प्रथम सभा से सहमत रहेगी या उसका विरोध करेगी। अतः प्रत्येक दशा में ही उससे कोई लाभ नही। (५) यह कहना कि द्वितीय सभा कानूनों का परिमार्जन (Revision) करती है, ठीक नहीं। आजकल के देशों में प्रथम सभाएँ

प्रत्येक कानून पर तीन बार विचार करती है। इसके बाद भी यदि उनमें दोष रह जाय तो देश की कार्यकारिणी का सर्वोच्च अधिकारी उन पर हस्ताक्षर करने से पहिले उनके दोषों को दूर कर सकता है। इस कार्य के लिए द्वितीय सभा की कोई आवश्यकता नही। (६) द्वितीय सभा की व्यवस्था से राज्य का व्यय बढ़ जाता है और गरीब जनता पर उसका निरर्थक भार पड़ता है। (७) एक और कारण से भी कुछ राजनीतिज्ञ द्वितीय सभाओं की प्रणाली का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यह समझ में नही आता कि द्वितीय सभा के सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार की जाय। यदि चुनाव द्वारा की जाय तो यह निचली सभा की केवल एक नकल मात्र होगी। यदि नामजदगी से की जाय तो इससे सत्तारूढ़ दल के हाथ में एक जबर्दस्त ताकत आ जाती है और यदि वंश-परम्परागत प्रथा से की जाय तो वर्तमान प्रजातंत्रीय युग में यह एक अत्यन्त ही खतरनाक प्रथा होगी।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय सभाओं के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं वे उसके पक्ष के तर्कों से कही अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रजातन्त्र राज्यों में द्वितीय सभाएँ झगड़े और मतभेद की जड़ होती हैं। वे प्रगतिशील कानूनों के पास होने के मार्ग में रुकावटें डालती हैं परन्तु इन सब बुराइयो के बावजूद हम देखते हैं कि संसार के प्रायः प्रत्येक ही देश में दो सभाओं की प्रथा प्रचलित है। इसका कारण केवल यही प्रतीत होता है कि अपनी एक ऐतिहासिक परम्परा के कारण यह प्रथा विधान-मंडल का एक आवश्यक अग बन गई है।

विधान-मंडल के दोनों अङ्गों का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रश्न उठता है कि द्विसभात्मक विधान-मंडल के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय सभा का क्या पारस्परिक सम्बन्ध होता है? अब से कुछ समय पहले इन दोनों सभाओं के अधिकार लगभग बराबर ही रक्खे जाते थे। अन्तर केवल इतना था कि राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में प्रथम सभा को विशेष अधिकार दिये जाते थे। बाकी सभी मामलों में दोनों सभाओ के अधिकार बराबर होते थे। बिना दोनों के सहमत हुए कोई भी बिल कानून नही बन सकता था। परन्तु आजकल, सयुक्तराष्ट्र अमेरिका को छोड़कर यह प्रथा दूसरे देशों से उठ गई है, और सभी देशों में कानून या रीति-रिवाज द्वारा यह निश्चित हो गया है कि आर्थिक बिलों में तो द्वितीय सभा कुछ भी हस्तक्षेप नही कर सकती, साधारण बिलों के पास करने के सम्बन्ध में भी वह केवल विलम्ब ही कर सकती है परन्तु हस्तक्षेप नही कर सकती। उदाहरणार्थ यदि इंगलैण्ड में कामन्स सभा किसी बिल को तीन बार पास कर दे और इतने बार पास करने में उसे कम से कम दो वर्ष लग जायँ तो वह बिल हाउस आफ लार्ड्स की सम्मति मिले बिना भी कानून बन सकता है।

धारा सभा की दोनों सभाओं के बीच किसी बिल पर मतभेद का निपटारा करने के लिए चार रीतियाँ काम मे लाई जाती हैं :—

(१) झगड़ेवाले बिल को समाप्त करके।

(२) दोनों सभाओं के सदस्यों की एक संयुक्त समिति बनाकर जिसका निर्णय दोनो ही सभाये मानने का वचन दे। (यह रीति फ्रान्स और अमेरिका में प्रचलित है।)

(३) दोनो सभाओ का सयुक्त अधिवेशन बुलाकर और फिर उसमे बहुमत से जो निर्णय हो जाए उसे स्वीकार करके। (यह रीति भारतवर्ष और आस्ट्रेलिया में प्रचलित है।)

(४) प्रथम सभा एक निश्चित अवधि के बाद बिल को दुबारा या तिबारा पास करके। (यह रीति इंगलैंड मे प्रचलित है।)

विधान-मंडल की अवधि (Term of the Legislature)

विधान-मडल के भवनों की अवधि न बहुत कम और न बहुत अधिक ही होनी चाहिए। बहुत कम अवधि होने से बार-बार चुनाव करने पड़ते हैं जिनसे विधान-मंडल के काम में अड़चन पडती है, अनावश्यक खर्च होता है और जनता मे अकारण ही हलचल पैदा होती है। थोडे समय मे विधान-मंडल के सदस्य शासन-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते। परन्तु इसका मतलब यह भी नही कि विधान-मडल के भवनों की अवधि लम्बी रखी जाय क्योकि ऐसी दशा मे वह अधिक समय तक जनता का प्रतिनिधित्व नही कर सकते। साधारणतया तीन या चार वर्ष की अवधि विधान-सभाओं के लिए पर्याप्त मालूम पड़ती है।

कार्यपालिका (Executive)

कार्यपालिका सरकार के उस अग को कहते हैं जो शासन करता है या विधान-मंडल के बनाये कानूनो पर अमल कराता है। वास्तव में देश का शासन और उसकी व्यवस्था कार्यपालिका ही करती है। शासन के दैनिक जीवन में इसी अग का हाथ सबसे अधिक होता है। जो मनुष्य कानून को भंग करता है वह कार्यपालिका द्वारा दोषी ठहराया जाता है, एवं उसे न्यायालय दण्ड देता है। व्यापक दृष्टि से कार्यपालिका के अन्तर्गत सरकार के सर्वोच्च कर्मचारी से लेकर छोटे से छोटा गाँव का चौकीदार भी आ जाता है। परन्तु कभी-कभी कार्यकारिणी शब्द का प्रयोग केवल कार्यपालिका के प्रधान या मन्त्रिमण्डल के रूप में किया जाता है।

किसी-किसी देश में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है—एक नामधारी और दूसरी वास्तविक। नामधारी कार्यपालिका वह होती है जिसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नही रहते किन्तु जो वंशपरम्परागत अधिकार के कारण शाही तख्त पर विराजमान रहती है।

वास्तविक कार्यपालिका वह होती है जो जनता की शक्ति के कारण अधिकार-सम्पन्न रहती है।

कार्यपालिका के आवश्यक गुण

कार्यकारिणी का मुख्य काम देश मे शान्ति और व्यवस्था कायम रखना होता है। इसके लिए प्रत्येक कार्यकारिणी में निम्नलिखित गुण विद्यमान होने चाहिएं :—

(१) निर्णय में फुर्ती, (२) कर्त्तव्यनिष्ठा, (३) कार्य में स्फूर्ति, (४) काम करने मे गोपनीयता (Secrecy)।

उपर्युक्त गुण केवल एक ऐसी कार्यकारिणी में ही हो सकते है जिसका एक सर्वमान्य नेता हो। जिस प्रकार एक म्यान मे दो तलवारें नही समा सकती, ठीक उसी प्रकार देश में एक समय में कार्यकारिणी के दो नेता नही हो सकते।

कार्यपालिका की नियुक्ति का तरीका

कार्यकारिणी की नियुक्ति के भिन्न-भिन्न राज्यो में भिन्न-भिन्न तरीके है। इनमें से वंशागत कार्यकारिणी (Hereditary Executive), निर्वाचित कार्यकारिणी (Elected Executive) और मनोनीत कार्यकारिणी (Nominated Executive) मुख्य है।

वंशागत कार्यपालिका—यह प्रथा इंगलैंड और कुछ दूसरे देशों मे पाई जाती है। इस प्रथा के अनुसार सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

निर्वाचित कार्यपालिका—इस प्रथा के अनुसार राज्य के सर्वोच्च अधिकारी (Head of the State) का निर्णय जनता चुनाव द्वारा करती है। चुनाव दो प्रकार से होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा आजकल किसी भी देश के सर्वोच्च अधिकारी की नियुक्ति नही होती, क्योंकि इस प्रथा से कार्यकारिणी के प्रधान का अंतिम निर्णय उन लोगो के हाथ में चला जाता है, जो उम्मीदवार की योग्यता का ठीक निर्णय नही कर सकते। इस कारण ही कुछ देशों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की शरण ली जाती है। अमेरिका में प्रेसिडेण्ट के चुनाव के लिए यही प्रथा काम में लाई जाती है।

किसी-किसी देश, जैसे स्विटजरलैण्ड और फ्रांस, में कार्यकारिणी का चुनाव विधान-मंडल द्वारा भी किया जाता है। यह प्रथा बहुत अच्छी नही है क्योंकि इससे कार्यकारिणी को विधान-मंडल के अधीन रहकर काम करना पड़ता है। वह उसकी दलबंदियों के प्रभाव से ऊपर नहीं उठ सकती।

मनोनीत कार्यपालिका—कार्यकारिणी की नियुक्ति का एक और तरीका देश के नामधारी शासक द्वारा चुना जाना है। यह प्रथा मंत्रिमंडलात्मक शासनों में प्रचलित है,

जहाँ प्रधान मन्त्री की नियुक्ति देश के सम्राट् या देश के सभापति द्वारा की जाती है। इस प्रकार की कार्यकारिणी जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और अपने पद पर केवल उतने ही समय के लिए काम करती है, जब तक कि व्यवस्थापिका सभा का उसमें विश्वास रहता है।

कार्यपालिका के कर्त्तव्य

एक प्रसिद्ध राजनीतिक विद्वान् गैटिल (Gettle) ने कार्यकारिणी के निम्नलिखित काम बताये हैं :—

(१) **कूटनीतिक कार्य** (Diplomatic Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी दूसरे देशों से सन्धि, दूसरे देशों में राजनीतिक दूतों की नियुक्ति तथा अपने देश मे व्यवस्था और युद्ध के कार्य का सचालन करती है।

(२) **विधानीय कार्य** (Legislative Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी विधान-सभा को बुलाने, स्थापित करने, भग करने, कानून पेश करने, बिल पर हस्ताक्षर करने, आर्डिनेंस बनाने तथा कानून के अन्तर्गत नियम और उपनियम बनाने का कार्य करती है।

(३) **सैनिक कार्य** (Military Functions)—कार्यकारिणी का प्रधान बहुधा सेना का सेनापति भी होता है। इस प्रकार वह देश की जल, थल और नभ सेना पर अधिकार रखता है, उसके अफसरो की नियुक्ति करता है तथा उनकी व्यवस्था के लिए फौजी कानून बनाता है।

(४) **शासन-सम्बन्धी कार्य** (Administrative Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी का कर्तव्य देश में शान्ति रखना, जान-माल की हिफाजत करना, शिक्षा-प्रचार करना, व्यापार और उद्योग की वृद्धि करना, कानूनों की रक्षा करना तथा राज्य की बेहतरी के लिए दूसरे हर प्रकार के कार्य करना है।

(५) **न्याय-सम्बन्धी कार्य** (Judicial Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है तथा सजा पाये हुए अभियुक्तो को क्षमा प्रदान करने का कार्य करती है।

न्यायपालिका (Judiciary)

सरकार का तीसरा अंग न्यायपालिका कहलाता है। कानूनों की परख न्यायालयों में होती है। इस अंग का मुख्य कर्तव्य कानून भग करनेवालों को दण्ड देना है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं जो निम्नलिखित कार्य करते हैं—(१) कानूनों का अर्थ निकालना और उनका अभियोगों में प्रयोग करना, (२) एक मनुष्य

और दूसरे मनुष्य तथा राज्य एवं नागरिकों के बीच आर्थिक मुकदमों का फैसला करना, (३) फौजदारी, माली तथा दीवानी मुकदमों का फैसला करना और अभियुक्तों को सजा देना, (४) नाबालिगों की जायदाद के प्रबन्ध के लिए ट्रस्टी मुकर्रर करना और स्त्रियों तथा पागल मनुष्यों के संरक्षक नियुक्त करना, (५) मृत पुरुषों की जायदाद का प्रबन्ध करना, (६) दिवालियों की जायदाद के लिए रिसीवर मुकर्रर करना, (७) कार्यकारिणी को संवैधानिक मामलों में आवश्यक परामर्श देना, (८) संघीय संविधानों में राज्यों तथा केन्द्रीय विधान-मंडलों द्वारा स्वीकृत कानूनो की वैधानिकता का निश्चय करना और (९) अपने फैसलों के द्वारा नजीरें तैयार करना जिनके आधार पर आगे आनेवाले मुकदमों का फैसला किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते है कि न्यायालय वर्तमान राज्यों में नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेते है। न्यायाधीशों को चाहिए कि वे न्याय करते समय धनी और गरीब, छोटे और बड़े का ध्यान न रक्खें। न्याय की दृष्टि में सब समान है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति

न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए वर्तमान राज्यों मे तीन तरीके काम मे लाये जाते हैं—(१) विधान सभा द्वारा चुनाव, (२) जनता द्वारा चुनाव और (३) कार्यकारिणी द्वारा नियुक्ति। इनमें से प्रथम विधि का प्रयोग स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के कुछ राज्यों में किया जाता है। यह विधि अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योंकि यह अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इस प्रथा के अन्तर्गत न्यायाधीशों का चुनाव विधान सभा की दलबन्दियों से प्रभावित होता है, फलस्वरूप न्यायाधीश पक्षपातरहित रहकर काम नही कर सकते।

दूसरी विधि अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। यह विधि भी अत्यन्त दोषपूर्ण है, क्योंकि सार्वजनिक मत पर चुने गये न्यायाधीश अपने समर्थकों को ही प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं, निष्पक्ष रूप से न्याय नही करते।

न्यायाधीशों की नियुक्ति का सबसे अच्छा तरीका इसलिए कार्यकारिणी द्वारा नियुक्ति है। कार्यकारिणी को चाहिए कि वह एक खुली परीक्षा द्वारा उम्मीदवारों को चुने और ऐसे व्यक्तियों को छाँट लेने का प्रयत्न करे जो ईमानदार, निष्पक्ष और गम्भीर विचारपूर्ण व्यक्ति हों।

न्याय-विभाग की स्वतंत्रता

नियुक्ति के पश्चात् न्यायाधीशों का कार्यकारिणी से कोई विशेष सबध नही रहना चाहिए। उनकी नौकरी की एक निश्चित अवधि, निश्चित वेतन तथा तरक्की का निश्चित क्रम होना चाहिए। उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वह अपना और

अपने परिवार का अच्छी तरह पालन कर सकें और लोभ के वशीभूत होकर रिश्वत इत्यादि न लें। रिटायर होने के पश्चात् उन्हें पेंशन मिलनी चाहिए। उन्हें उनके पद से हटाने का अधिकार, मनमाने तौर पर, कार्यपालिका को नहीं होना चाहिए। देश की विभिन्न अदालतों की अधिकार-सीमा भी निश्चित होनी चाहिए जिससे उनमें आपस में किसी प्रकार का संघर्ष न हो।

न्याय-पालिका का सङ्गठन

न्याय-विभाग का संगठन प्रत्येक देश में अलग-अलग प्रकार से होता है। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो सब देशों में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ प्रायः प्रत्येक देश में दो या तीन प्रकार की अदालतें होती हैं—(१) दीवानी (Civil), (२) फौजदारी (Criminal) और (३) माली (Revenue)। इनके अतिरिक्त संघीय राज्यों में दो प्रकार की अदालतें होती हैं: एक संघीय और दूसरी राज्यीय। प्रायः प्रत्येक देश में ही अदालतों का एक क्रम भी होता है, जिसके अनुसार सबसे छोटी, फिर उससे बड़ी और फिर सबसे बड़ी अदालतें होती हैं।

हमारे देश की अदालतों का संगठन निम्न तालिका में दिया गया है। आशा है, इसे पढ़कर हमारे पाठकों को अदालतों के क्रम का समुचित ज्ञान हो जायगा।

भारतीय न्यायालयों के सङ्गठन का क्रम

फौजदारी अदालतें (Criminal courts)	दीवानी अदालतें (Civil courts)	माल की अदालतें (Revenue courts)
सुप्रीम कोर्ट	सुप्रीम कोर्ट	हाईकोर्ट
हाईकोर्ट	हाईकोर्ट	बोर्ड आफ रेवेन्यू
सेशन्स कोर्ट	डिस्ट्रिक्ट जज की अदालत	कमिश्नर की अदालत
मैजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी	सिविल जज की अदालत	कलेक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट द्वितीय श्रेणी	मुन्सिफ की अदालत	डिप्टी कलेक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट तृतीय श्रेणी	खफीफा अदालत	तहसीलदार की अदालत
आनरेरी बेंच		नायब तहसीलदार की अदालत

नोट :—भारत में नये संविधान के अन्तर्गत, प्रिवी कौंसिल का कार्यक्षेत्र समाप्त कर दिया गया है। हाईकोर्ट के फैसलों के पश्चात् अब सीधी अपीलें सुप्रीम कोर्ट अर्थात् उच्चतम न्यायालय में जाती हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. न्याय-विभाग का कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका से क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? (यू० पी०, १९२९)

२. कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा को किन सिद्धान्तों के द्वारा व्यवस्थित किया जाना चाहिए ? (यू० पी०, १९२९)

३. शासन के विभिन्न अंग क्या हैं ? प्रत्येक के कार्यों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३१, १९४२)

४. न्याय-विभाग के कार्य, उसकी नियुक्ति के तरीके और संगठन का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३५)

५. अधिकार-विभाजन का क्या अर्थ है ? क्या सभ्य राज्य मे स्वतन्त्र न्याय-विभाग का रहना आवश्यक है ? (यू० पी०, १९३७)

६. नागरिक स्वाधीनता के लिए न्याय-विभाग का कार्यकारिणी से स्वतन्त्र होना क्यों आवश्यक है ? (यू० पी०, १९३९, १९४२)

७. द्विसभात्मक व्यवस्थापिका सभाओं के लाभ और हानि पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४१)

८. विधान-मंडल की दूसरी सभा के पक्ष तथा विपक्ष में दलील दीजिए। क्या ये कारण हिन्दुस्तान के लिए लागू होते हैं ? (यू० पी०, १९४१, १९४५)

९. अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त को समझाइये। उससे क्या लाभ है ? (यू० पी०, १९४१, १९४५)

१०. प्रजातांत्रिक राज्य मे कार्यकारिणी के प्रधान कर्तव्य क्या हैं ? व्यवस्थापिका से उनका क्या सम्बन्ध है, इस पर प्रकाश डालिये।

११. अच्छे न्यायाधीश मे कौन-से गुण होने चाहिएँ ? उन विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये जिनके अनुसार न्याय-विभाग का संगठन हुआ।

१२. वे आवश्यक अंग कौन से हैं जिनके द्वारा आधुनिक शासन अपने कार्य सम्पादित करते हैं ? स्वतन्त्र न्याय-विभाग की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९४२)

१३. विधान सभा के प्रधान कार्यों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४५, १९४६, १९४९)

१४. नागरिक स्वतन्त्रता के लिए स्वतन्त्र न्यायालय की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९४५)

१५. "एक ही व्यक्ति के हाथ में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायालय-सम्बन्धी शक्तियों का एकीकरण निरंकुश शासन की पूरी-पूरी परिभाषा है।" क्या इस सम्मति से आप सहमत हैं ? (यू० पी०, १९५०)

१६. आधुनिक राज्य में अधिवासी वर्ग (Executive) के मुख्य कर्तव्य क्या हैं ? निर्वाचक मंडल (Electorate) के प्रति इसके उत्तरदायित्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है ? (यू० पी०, १९५३)

१७. आधुनिक राज्य में एक स्वतंत्र न्यायपालिका का क्या महत्व है ? समझाइये। (यू० पी०, १९५४)

अध्याय १७

प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था

(Organisation of Democracy)

§ १ मताधिकार का प्रश्न (Problem of Franchise)

प्रजातंत्र राज्य का अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार के राज्य में सर्वसाधारण के प्रतिनिधि किस प्रकार चुने जाते हैं। आधुनिक राज्यों का आकार बहुत विस्तृत होता है और उसके लाखों निवासियों के लिए अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना अथवा राज्य की नीति को निर्धारित करना प्रायः असम्भव-सा होता है। इसलिए जनता को अप्रत्यक्ष रूप से अपने शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रतिनिधि-प्रथा की शरण ली जाती है।

आम चुनाव (General Election)

जब किसी देश की जनता अपने राज्य की कानून बनानेवाली संस्था के लिए प्रतिनिधि चुनने के कार्य में भाग लेती है तो यह क्रिया **आम चुनाव** कहलाती है। चुनने का कार्य **मतदान** कहलाता है। जो नागरिक अपनी राय से विधान सभा के सदस्यों को चुनते हैं वह **मतदाता** या चुननेवाले कहलाते हैं। चुननेवालों का सम्पूर्ण समुदाय **निर्वाचकगण** (Electorate) कहलाता है। जब किसी विधान सभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है या वह त्याग-पत्र दे देता है या उसका चुनाव अवैध घोषित कर दिया जाता है, तब उसके रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए जो चुनाव होता है वह **उपचुनाव** (Bye-Election) कहलाता है।

सर्वमताधिकार (Universal Franchise)

मत देने का अधिकार किसी राज्य में सारी जनता को भी मिल सकता है और कुछ थोड़े से चुने हुए लोगों को भी। जिस देश में सारी बालिग जनता को मत देने का अधिकार होता है तथा जहाँ लिंग (Sex), वर्ण, जाति, सिद्धान्त या स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता, उस देश में सर्वमताधिकार की अवस्था मानी जाती है। जिस देश में केवल बालिग (वयस्क) पुरुषों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है, स्त्रियों को नहीं, उस देश में सर्वमताधिकार की अवस्था के स्थान पर केवल पुरुष मताधिकार की

अवस्था होती है। दुनिया का कोई देश ऐसा नही जहाँ केवल स्त्रियों को ही मताधिकार प्राप्त हों, पुरुषों को नही। यदि कोई ऐसा देश हो तो उस देश में हम महिला-मताधिकार की अवस्था कह सकते हैं।

मताधिकार के अधिकार का स्वभाव (Nature of the Right to Suffrage)—अनेक प्रजातंत्रवादियों का विश्वास है कि मत अथवा निर्वाचन का अधिकार, प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध और स्वाभाविक अधिकार है। इन लेखकों के मतानुसार राज्य की सार्वभौमिकता प्रजा पर निर्भर है। इसलिए प्रत्येक नागरिक को उस सार्वभौमिकता को अमल में लाने के लिए यह आवश्यक है कि वह इस मताधिकार को प्राप्त करे।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मताधिकार केवल एक अधिकार ही नही, वरन् एक कर्तव्य भी है। नागरिक को मत देते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने मत के द्वारा सार्वजनिक हित की उन्नति करता है अथवा नही। उसे स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा किसी सामूहिक लाभ की प्राप्ति की इच्छा से मत नही देना चाहिए। मत देने का अधिकार एक पावन विश्वास है जिसे राष्ट्र मनुष्य को इसलिए प्रदान करता है कि वह इस अधिकार के उचित उपयोग द्वारा जनता की भलाई कर सके। इसे बड़ी सावधानी, विचार तथा ईमानदारी के साथ अमल में लाना चाहिए। इसलिए केवल ऐसे मनुष्यों को मत देने का अधिकार दिया जाना चाहिए जो अपने कर्तव्यो का उचित रूप से पालन कर सकें।

मतदाताओं की योग्यता (Qualifications of Voters)—आजकल प्रायः सभी प्रजातंत्रवादी देशों में सर्वमताधिकार का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु अभी भी कुछ ऐसे राज्य हैं जैसे स्विटजरलैंड, मध्यपूर्व के देश इत्यादि जहाँ स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्रदान नही किया जाता। सर्वमताधिकार का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि मत देने का अधिकार राज्य के सभी छोटे-बड़े, बालिग-नाबालिग लोगों को प्राप्त होता है और उनकी आयु, आचरण तथा कार्य का विचार नही किया जाता। सब राज्यों में ऐसे बहुत से मनुष्य होते हैं जिनको मताधिकार से इसलिए वंचित रखा जाता है कि वे इस अधिकार को प्रयोग में लाने के अयोग्य समझे जाते हैं। पागल और उन्मत मस्तिष्क वाले मनुष्यों को किसी भी देश में यह अधिकार नही दिया जाता; क्योंकि यह लोग अपनी अथवा समाज की भलाई का निर्णय नही कर सकते। इसी प्रकार नाबालिको को भी यह अधिकार नही दिया जाता; क्योकि बाल्य-अवस्था में मनुष्य की ज्ञानशक्ति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती। संगीन जुर्मो में दंड पाये हुए लोगों को तथा चुनाव में अनुचित उपायों को काम में लानेवाले व्यक्तियों को भी

मत देने के अधिकार से वंचित रखा जाता है। कुछ राज्यों में भिखमंगों, दिवालियों और बिना घर-द्वारवाले, इधर-उधर घूमनेवाले लोगों को भी मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि उनमें परावलम्बन प्रवृत्तियाँ रहती हैं। किसी-किसी राज्य में राज्य कर्मचारियों या सैनिक अथवा चुनाव के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों को भी इस अधिकार के उपभोग से वंचित रखा जाता है।

जिन देशो में प्रजातान्त्रिक संगठनों का पूर्ण विकास नही हुआ है वहाँ ऐसे लोगों को भी जो टैक्स नही देते अथवा जिनके पास कम सम्पत्ति होती है, इससे वंचित रखा जाता है। इनके अतिरिक्त अनागरिकों को किसी भी राज्य में मताधिकार नही दिया जाता।

वयस्क मताधिकार के लाभ—आजकल संसार के सभी प्रजातंत्र देशों में बालिग जनता को मत देने का अधिकार दिया जाता है। इसके अनेक कारण हैं :—

(१) सब मनुष्य समान हैं और सबको उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण सुविधाओ की आवश्यकता रहती है। वयस्क मताधिकार मनुष्यों की इस आवश्यक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है तथा देश की सारी जनता को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए अवसर प्रदान करता है।

(२) नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीतिक अधिकारों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए मत देने का अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को मिलना चाहिए जिससे वह राज्य के निर्णय को प्रभावित कर अपने अधिकारो की रक्षा कर सके। राज्य के कानूनो का सारी जनता की भलाई पर ही प्रभाव पड़ता है, इसलिए सबको ही उसकी नीति के निर्धारित करने में भाग लेना चाहिए।

(३) चुनाव राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने तथा सर्वसाधारण में राजनीतिक शिक्षा फैलाने के लिए एक उत्तम उपाय है। चुनाव लड़नेवाले दल मतदाताओं के सम्मुख विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रम उपस्थित करके उनको शिक्षित बनाते हैं तथा उनमें राजनीतिक जागृति पैदा करते हैं।

(४) मताधिकार से मतदाताओं का स्वाभिमान बढ़ता है। जब शासन के महान् पुरुष उनके पास मत माँगने के लिए पहुँचते हैं तो वह अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं।

(५) इससे राष्ट्र की शक्ति और एकता की वृद्धि होती है क्योंकि मताधिकार-प्राप्त मनुष्य अपने राज्य के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा का अधिक प्रदर्शन करता है, तथा राज्य की आज्ञाओं को अपनी ही आज्ञा का पालन समझता है।

(६) मताधिकार से अल्पसंख्यक लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा करने का अवसर प्राप्त होता है।

हानियाँ—सर्वमताधिकार की प्रथा से कुछ हानियाँ भी होती हैं इनमे से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) अधिकतर मतदाता अशिक्षित और मूर्ख होते है। वह चुनाव में अपनी राय देते समय उम्मीदवार की जाति, सिद्धान्त, धर्म या पारिवारिक बन्धनों के विचारों से अधिक प्रभावित होते है। वह उनकी योग्यता की परख ठीक प्रकार नही कर सकते। उनके मस्तिष्क पर विभिन्न दलो के नारे, चित्ताकर्षक भाषा, चुनाव के लोकोक्तिक शब्दों इत्यादि का अधिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वह राजनीति के व्यापक प्रश्नों पर विचार करने की क्षमता नही रखते।

(२) पूँजीपतियों के राज्यों मे अधिकाश मतदाता निर्धन होते है इसलिए उनको धन के प्रलोभन से आसानी से खरीदा जा सकता है।

(३) शासन-सम्बन्धी प्रश्न अधिकाधिक जटिल होते जा रहे है। उन्हे साधारण मतदाता आसानी से नही समझ सकते। एक निर्धन व्यक्ति को अपने पेट के धन्धे से इतना अवकाश नही मिलता कि वह राजनीतिक प्रश्नो को समझने के लिए समय निकाल सके। इसलिए वह चुनाव मे बुद्धिमत्तापूर्ण ढग से राय नही दे सकता।

(४) मताधिकार, जैसा कि हम पहले कह चुके है; केवल अधिकार ही नही वरन् एक पावन कर्तव्य है। इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमत्ता तथा विचार के साथ किया जाना चाहिए। इसलिए केवल उन्ही मनुष्यो को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जो सार्वजनिक हित का निर्णय कर सके।

परिणाम—ऊपर जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई है वे वही है जो प्रजातन्त्र के विरुद्ध पेश की जाती है। इनका वर्णन राज्य के अध्याय मे किया जा चुका है। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि मताधिकार योग्यता की दृष्टि से दिया जाना चाहिए तो प्रश्न उठता है कि इस योग्यता की परीक्षा किस प्रकार की जाय ? कुछ लोगों का कथन है कि केवल उन्ही मनुष्यों को मताधिकार प्रदान करना चाहिए जो सम्पत्ति के मालिक हो और कर देते हो। अन्यान्य लोगो का विचार है कि केवल पुरुषो को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए, स्त्रियो को नही। इनके अतिरिक्त कुछ दूसरे लेखकों की धारणा है कि केवल शिक्षित लोगो को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए, मूर्खो को नहीं। इसलिए हम सर्वप्रथम इन धारणाओं पर विचार करेंगे।

सम्पत्ति की योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on Property qualification)

मत के पक्ष में दलीलें—(१) जो लोग सम्पत्ति के मालिक होते है उन्हें समाज की व्यवस्था तथा शान्ति की अधिक चिन्ता होती है; क्योंकि अराजकता फैलने में

उनको ही सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। जिन लोगों के पास अशान्ति से कुछ भी नष्ट होने के लिए नहीं है, उन्हें समाज की व्यवस्था की अधिक परवाह नही होती; इसलिए राजनीतिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि केवल सम्पत्ति की योग्यता रखनेवाले लोगों को ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जायँ।

(२) जे० एस० मिल (J. S. Mill) के कथनानुसार मताधिकार केवल उन मनुष्यों को मिलना चाहिए जो सरकार को किसी न किसी प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में कर देते हों। ऐसे लोगो को जो किसी भी प्रकार का कर नही देते, राज्य में राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाने चाहिए क्योकि वह राज्य का कार्य चलाने में मितव्ययिता से काम नहीं लेते।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) सम्पत्ति मनुष्य की योग्यता की कसौटी नही है। प्रायः धनवान् मनुष्य बहुत बुद्धिमान् नही होते और इसलिए उन्हें मताधिकार का कोई विशेष अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

(२) अधिकाश परिस्थितियों में संपत्ति अथवा वंशपरम्परागत अधिकार बेईमानी, धोखा तथा झूठ बोलकर प्राप्त की जाती है। ऐसे लोगों को मताधिकार प्रदान करना और उन दूसरे लोगों को इससे वंचित रखना, जो बेईमान पूँजीपतियों के चंगुल में फँसकर निर्धनता का शिकार बन जाते हैं, घोर अन्याय है।

(३) कर देने की क्षमता अधिकतर पूँजीपति में ही होती है इसलिए कर को मत देने की कसौटी बनाना उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना केवल मालदार लोगों को मत देने का अधिकार प्रदान करना।

परिणाम—प्रत्येक राज्य का उद्देश्य समाज में शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा कायम करना होता है जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सके। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति और उन्नतिशील व्यवस्था की उतनी ही आवश्यकता रहती है जितनी कि उसके साथ रहनेवाले अन्यान्य मानव को। फलस्वरूप, प्रत्येक मनुष्य को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on Educational Qualifications)

मत के पक्ष में युक्तियाँ—(१) मत देने का अधिकार केवल शिक्षित मनुष्यों को ही होना चाहिए जिससे शासन का कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण उपायों से चल सके। यदि अशिक्षित लोगों को यह अधिकार दिया गया तो शासन की नीति मूर्खों और दुष्टों के हाथ में रहेगी और शासकों का चुनाव ठीक प्रकार से न किया जा सकेगा।

(२) अशिक्षित पुरुष प्रायः स्वभाव से ही भावुक होते हैं। वे बुद्धि से काम नहीं लेते।

(३) आधुनिक राज्य के प्रश्न इतने पेचीदा हैं कि उन्हें एक अशिक्षित और मूर्ख मतदाता आसानी से नहीं समझ सकता। इसी कारण जे० एस० मिल ने इस बात पर जोर दिया था कि सर्वमताधिकार का अधिकार देने के पहले जनता को सर्वशिक्षा दी जानी आवश्यक है।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) यद्यपि यह बात सच है कि मताधिकार के उचित प्रयोग के लिए एक विशेष सीमा तक शिक्षा की आवश्यकता है, परन्तु व्यावहारिक रूप से यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि शिक्षित किस मनुष्य को कहा जाय। क्या एम० ए० अथवा बी० ए० अथवा मैट्रिक अथवा मिडिल पास लोगों को शिक्षित समझना चाहिए? केवल लिखना-पढ़ना शिक्षा नहीं है। यह केवल उसकी नीव है। राज्य के राजनीतिक प्रश्नों को मामूली तौर पर समझ लेने की योग्यता, साधारण बुद्धि रखने-वाले अशिक्षित लोगों में भी हो सकती है।

(२) परीक्षा की उपाधियाँ मनुष्य की बुद्धिमता या योग्यता की कोई कसौटी नही। कभी-कभी, अकबर के समान अशिक्षित और अपढ़ लोग, विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि-प्राप्त पुरुषों की अपेक्षा अधिक निपुण शासक और राजनीतिज्ञ सिद्ध हो सकते हैं।

(३) राजनीतिक अधिकार नागरिक अधिकारों की रक्षा तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। यदि अशिक्षित मनुष्यों को यह अधिकार नहीं दिया जाता तो वे अपने व्यक्तित्व की उन्नति नही कर सकते।

(४) मत के अधिकार का प्रयोग करना ही राजनीतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है और इससे राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है। इसलिए अशिक्षित लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए मताधिकार देना नितान्त आवश्यक है।

परिणाम—दोनों की युक्तियों पर ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि वास्तव में ऐसे सभी नागरिकों को जिनमें साधारण बुद्धि हो तथा जो राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने की साधारण क्षमता रखते हों, राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिएँ।

महिला-मताधिकार (Women Suffrage)

मत के विरुद्ध युक्तियाँ—(१) स्त्रियाँ शारीरिक शक्ति मे पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती है। पुरुषों के समान राज्य की राजनीतिक सेवा नही कर सकती। इसलिए उन्हे पुरुषों के समान मत देने का अधिकार नही दिया जाना चाहिए।

(२) किसी विशेष उम्मीदवार को मत देने के सम्बन्ध मे पति और पत्नी के बीच अथवा माता और सन्तान के बीच मतभेद हो जाने का डर रहता है और इससे गार्हस्थ्य जीवन की शान्ति भंग होने की सम्भावना रहती है।

(३) महिलाओं का उचित कार्यक्षेत्र घर है। उनका मुख्य काम संतान का पालन-पोषण करना तथा अन्य घरेलू कार्यो की देख-भाल करना है। यदि वे राज-

नीतिक कार्यों में भाग लेने लगेगी तो अपनी सन्तान का उचित पालन-पोषण न कर सकेगी, और इस प्रकार मानव-जाति का अधःपतन हो जायगा।

(४) मताधिकार द्वारा स्त्री-जाति के विशेष गुणों, जैसे लज्जाशीलता, कोमलता इत्यादि का नाश हो जाता है। राजनीतिक जीवन एक काँटों से भरा मार्ग है जिस पर एक कोमलांगी स्त्री पदार्पण नही कर सकती।

मत के पक्ष मे युक्तियाँ (Arguments in favour)—(१) शारीरिक दुर्बलता से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक गुणों का अपहरण नही होता और मत की योग्यता निश्चित करने के लिए यही गुण सच्ची कसौटी समझे जाते है, इसलिए शारीरिक दुर्बलता का बहाना लेकर स्त्रियों को मताधिकार से वंचित नही करना चाहिए।

(२) किसी भी मनुष्य को राजनीतिक अधिकारों के उपयोग के अयोग्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मस्तिष्क या बुद्धि में कोई त्रुटि सिद्ध की जाय। स्त्रियों में पुरुषों के समान ही बुद्धि होती है। उनका अपना अलग व्यक्तित्व होता है जिसका विकास उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष का। व्यक्तित्व के विकास के लिए राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। इसलिए पुरुष और स्त्री दोनों को ही समान राजनीतिक अधिकार प्रदान होने चाहिएँ।

(३) राजनीतिक अधिकार एक साधन है जिसके द्वारा अन्यान्य अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। इसलिए स्त्रियों को अपने नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीतिक अधिकार अवश्य प्रदान किये जाने चाहिए। इन्ही अधिकारों के द्वारा वे समाज मे अपना उत्थान कर सकती है तथा पुरुषो के अन्याय और शोषण से छुटकारा पा सकती है।

(४) स्त्रियो के प्रभाव से राज्य के राजनीतिक जीवन में माधुर्य आ जाता है। स्त्रियाँ अपने प्रेम और सहानुभूति की भावना से युद्ध और संघर्ष को मिटाकर एक उच्च नागरिक जीवन की स्थापना कर सकती है।

परिणाम—आधुनिक समय मे अधिकतर मनुष्यों की यही धारणा है कि सभी मनुष्यो को चाहे वे पुरुष हो अथवा स्त्री, मताधिकार दिया जाना चाहिए। दुनिया के प्रायः सभी सभ्य देशों में अब स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते है। भारतवर्ष के भी नये विधान के अधीन स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मत देने का अधिकार दे दिया गया है।

चुनाव के सम्बन्ध में कुछ जानने योग्य बातें

प्रतिनिधियो के चुनाव के लिए सारा देश कुछ क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक से एक या एक से अधिक प्रतिनिधि विधान सभा के लिए चुने जाते है। इन क्षेत्रों

को निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहा जाता है। जिस क्षेत्र से एक मेम्बर चुना जाता है उसे एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (Single member constituency) और जिस क्षेत्र में दो या दो से अधिक मेम्बर चुने जाते हैं उसे बहुसंख्यक निर्वाचन-क्षेत्र (Multi-member constituency) कहा जाता है। जिस स्थान पर चुनाव होता है उसे चुनाव-स्थान (Polling station) कहते हैं। जो अफसर चुनाव की देख-भाल करता है उसे चुनाव अधिकारी (Returning officer) कहा जाता है। जिस कागज पर लिखकर मतदाता अपनी राय देते हैं उसे मत-पत्र (Ballot Paper) कहा जाता है और जिस पेटी में वह राय डाली जाती है उसे चुनाव पेटी (Ballot Box) कहा जाता है। चुनाव में राय देने के दो तरीके काम में लाए जाते हैं— एक यह कि एक मतपत्र छपवा लिया जाता है जिस पर उन सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे होते हैं जो चुनाव में खड़े होते हैं। उम्मीदवारों में से जिसको भी चाहे, मतदाता राय दे सकता है। राय देने का तरीका यह होता है कि जिस व्यक्ति को भी राय देनी हो उसके नाम के आगे गुणन (×) का चिह्न लगा दिया जाता है। ऐसा चिह्न लगाते समय मतदाता को कोई नहीं देखता। वह बिना डर के जिसे भी चाहे, अपनी राय दे सकता है। चिह्न लगाने के पश्चात् मतदाता स्वय मत-पत्र को मोड़कर चुनाव की पेटी मे डाल देता है। मत देने की यह प्रथा गुप्त मत प्रदान प्रथा (Secret Ballot Voting) कहलाती है। राय देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चिह्न गलत न लगाया जाय। 'मतपत्र' पर मतदाता अपना नाम न लिखे, जितने चिह्न लगाने चाहिए उससे अधिक न लगाये, अन्यथा राय बेकार हो जाती है और वह रद्दी की टोकरी में डाल दी जाती है। दूसरा तरीका यह है कि अलग-अलग उम्मीदवारो के लिए अलग-अलग रंग अथवा चिह्न की पेटियाँ निश्चित होती हैं। मतदाता जिस उम्मीदवार के पक्ष में राय देना चाहता है उसी की पेटी में अपने मतपत्र को डाल देता है। यह प्रथा अशिक्षित मतदाताओं की सुविधा के लिए काम में लाई जाती है।

चुनावों के समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि मतदाताओं के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाय, उन्हें डराया या धमकाया न जाय, उन्हे किसी प्रकार का लोभ व लालच दिखाकर उनकी राय न माँगी जाय। ऐसा करने से सारा चुनाव रद्द हो सकता है। चुनाव के समय कोई एक व्यक्ति दूसरे के नाम से भी राय नहीं डाल सकता। परन्तु व्यवहार में अक्सर देखा जाता है कि लोग मृत पुरुषों के नाम से भी राय डाल देते हैं। मतदाताओं की शिनाख्त के लिए चुनाव के स्थान पर प्रत्येक उम्मीदवार की ओर से उसका एक प्रतिनिधि (Election Agent) रहता है, जिसे इस बात का अधिकार होता है कि यदि वह समझे कि कोई आदमी गलत नाम से राय डालना चाहता है तो वह चुनाव अधिकारी के ध्यान में उस बात को ला दे। यदि बात सच हुई

तो ऐसा आदमी गिरफ्तार कर लिया जाता है। चुनाव हो जाने के पश्चात् भी ऐसी बातों पर एतराज उठाया जा सकता है। इस प्रकार के एतराज को Election Petition कहा जाता है।

§ २. निर्वाचन के तरीके (Methods of Election)

निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुने जाने के कई तरीके हैं। इनमें से एक तरीके को "एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रथा" (Single Member Constituency System), और दूसरे को "बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रथा" (Multi-member Constituency System) कहा जाता है।

एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रथा—चुनाव की यह व्यवस्था सबसे अधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है। इस व्यवस्था के अधीन सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे चुनाव-क्षत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से व्यवस्थापिका सभा के लिए एक सदस्य चुना जाता है। इस प्रथा में प्रत्येक मतदाता को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। चुनाव मे बहुत से उम्मीदवार अपने कार्यक्रम के बल पर, जनता से अपने लिए राय माँगते हैं। जिस उम्मीदवार को चुनाव में सबसे अधिक राय मिलती है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रथा—चुनाव की इस व्यवस्था के अधीन सारा देश कुछ थोड़े से बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य विधान सभा के लिए चुने जाते हैं। चुनाव में बहुत से उम्मीदवार भाग लेते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत मतदाताओ को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने होते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन सदस्य चुनने हैं तो प्रत्येक मतदाता तीन वोट दे सकता है। यह मत वह किन्हीं तीन उम्मीदवारों के पक्ष मे दे सकता है; परन्तु तीनों या एक से अधिक मत एक उम्मीदवार के पक्ष में नहीं। जिन तीन उम्मीदवारों को सबसे अधिक मत मिलते हैं, उन्हें निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

उपर्युक्त प्रथाओं से लाभ तथा हानि

आधुनिक काल में उपर्युक्त दोनों प्रथाएँ विधान सभा के चुनाव में काम मे लाई जाती हैं। **इन प्रथाओं का सबसे बड़ा गुण यह है**—(१) यह बहुत सरल है। कोई भी मनुष्य इन्हें आसानी से समझकर अपनी राय दे सकता है। (२) इन प्रथाओं के अधीन प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम रहता है। (३) इन प्रथाओं के अधीन अल्पसंख्यक जातियों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल सकता

है। निर्वाचन-क्षेत्रों का बँटवारा इस प्रकार किया जाता है कि यदि कुछ क्षेत्रों में बहुसख्यक जाति के निर्वाचक अधिक होते है तो दूसरे क्षेत्रों में अल्पसंख्यक जातियों के।

इन प्रथाओं से कुछ हानियाँ भी है, जैसे—(१) बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों मे प्रतिनिधि और उसके निर्वाचकों का घनिष्ठ सम्बन्ध नही रह सकता। यह क्षेत्र इतने बड़े होते है कि एक प्रतिनिधि के लिए यह संभव नही कि वह अपने सारे निर्वाचकों से सम्बन्ध बनाये रख सके। (२) दूसरे, इन प्रथाओं के अधीन मतों की एक बहुत बड़ी सख्या बेकार चली जाती है। एक उदाहरण से हमारा यह मत बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा।

मान लीजिए, एक निर्वाचन-क्षेत्र में ४०० मतदाता है और उस क्षेत्र से केवल एक उम्मीदवार निर्वाचित होना है, अब मान लीजिए कि इस क्षेत्र से ५ उम्मीदवार 'अ', 'ब', 'स', 'द' और 'य' खड़े होते है। राय गिनने पर मालूम पड़ता है कि 'अ' को १२५ मत, 'ब' को १०० मत, 'स' को ७५ मत, 'द' को ६० मत और 'य' को ४० मत मिलते है। ऐसी अवस्था में 'अ' को सफल उम्मीदवार घोषित कर दिया जायगा यद्यपि उसे ४०० में से केवल १२५ मत ही प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार २७५ राय बेकार चली जाती हैं और इन राय देनेवालों को किसी प्रकार का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता।

(३) तीसरे, इन प्रथाओं के अधीन उन अधिकारियों के हाथ में जिन्हें निर्वाचन-क्षेत्र बनाने का अधिकार प्राप्त होता है, बहुत अधिक ताकत आ जाती है। यह लोग यदि चाहें तो अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व को बिल्कुल समाप्त कर सकते है। अंग्रेजी में इस विधि को Gerrymandering कहा जाता है।

§ ३. अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न

हम ऊपर देख चुके है कि "एक तथा बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रथा" के अधीन अल्पसंख्यक जातियों को देश की विधान सभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतक अधिकारो एव हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। प्रत्येक देश की विधान सभा को उसकी जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले सभी दलों, जातियों एवं हितों का, उनकी गणना के हिसाब से, प्रतिनिधित्व प्रदान करे।

अल्पसंख्यक जातियों एवं हितों को वर्तमान राज्यों में प्रतिनिधित्व देने के अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। इन उपायों में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध है :—

१. आनुपातिक निर्वाचन-प्रथा (Proportional Representation or Hare's Plan).

२. सूची-प्रथा या दलो के आधार पर आनुपातिक निर्वाचन-प्रथा (General List System).

३. सीमित मत-प्रथा (Limited Vote System).

४. एकत्रित मतदान-प्रथा (Cumulative Vote System).

५. पृथक् निर्वाचन-प्रथा (Separate Electorate System).

६. सुरक्षित स्थान-युक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate with reservation of seats)

अब हम इन प्रथाओं का अलग-अलग विस्तार से उल्लेख करेंगे।

आनुपातिक निर्वाचन-प्रथा

इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रवर्त्तक इङ्गलैण्ड का एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ टामस हेयर (Thomas Hare) था। इस कारण से ही इस प्रथा को Hare's Scheme भी कहा जाता है। इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रयोग डेनमार्क में किया गया था। आजकल यह प्रथा अत्यन्त लोकप्रिय हो गई है और किसी न किसी रूप में, इसका प्रयोग, प्रायः प्रत्येक देश में ही किया जाता है। इस प्रथा के अधीन देश को बहुसंख्याधारी निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम तीन प्रतिनिधि चुने जाते हैं, परन्तु मतदाताओं को केवल एक ही मत देने का अधिकार दिया जाता है।

इस चुनाव-प्रणाली का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है। मान लीजिए, किसी एक क्षेत्र से ५ सदस्य चुने जाते हैं। इस क्षेत्र में जितने चाहें उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं। परन्तु प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही राय देने का अधिकार होगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि मतदाता राय देते समय मत-पत्र पर, उम्मीदवारों के नामों के सामने १, २, ३, ४, ५, इत्यादि संख्याएँ लिख सकता है। इन सख्याओं के लिखने का अर्थ यह होता है कि मतदाता सबसे अधिक उस उम्मीदवार को चाहता है जिसके नाम के सामने वह (१) का अंक लिखता है परन्तु मतदाता दूसरे नामों के सामने २, ३, ४, इत्यादि अंक लिखकर यह प्रदर्शित करता है कि यदि उसका १ नम्बरवाला उम्मीदवार न चुना जा सके तो उसका मत उस उम्मीदवार के नाम मे परिवर्तित कर दिया जाय जिसके नाम के सामने उसने (२) लिखा है और यदि वह भी असफल रहे तो वह मत उस उम्मीदवारके नाम में बदल दिया जाय जिसके सामने उसने (३) लिखा है, आदि। वोट पड़ चुकने के बाद अशुद्ध वोट छाँटकर अलग कर दिये जाते हैं और शुद्ध वोटों की संख्या गिन ली जाती है। इस संख्या को चुने जानेवाले सदस्यों की संख्या में १ जोड़कर उससे विभाजित करते हैं। भागफल 'चुनाव अंक' (Electoral Quota) कहलाता है। यदि भागफल पूर्ण संख्या न हो तो उसे पूरी कर लेते हैं जैसे ५० + १/८/

को ५१ मान लेते हैं। इसके बाद प्रत्येक उम्मीदवार के सर्वप्रथम चुनाव (First choice) वाले मत छाँट लिये जाते हैं। जिस उम्मीदवार को 'चुनाव-अंक' के बराबर वोट मिल जाते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। अब यदि किसी उम्मीदवार के पक्ष में प्रथम चुनाववाले 'चुनाव अंक' से अधिक वोट मिले हों तो उसके फाजिल वोट ऊपर लिखी हुई (२) संख्या के अनुसार बाकी उम्मीदवारों के नाम बाँट दिये जाते हैं। इसके बाद मत फिर गिने जाते हैं और अब यदि किसी के वोटों की सख्या चुनाव-अंक के बराबर आ गई है तो उसे भी निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि इस प्रकार उम्मीदवारों की निश्चित संख्या चुन ली जाती है तो ठीक है, अन्यथा ऐसा किया जाता है कि जिस उम्मीदवार को सबसे कम वोट मिलते हैं उसे असफल घोषित करके उसके वोट (२) संख्या के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को बाँट दिये जाते हैं। इस प्रकार जब तक उम्मीदवारों की निश्चित संख्या नहीं चुन ली जाती तब तक इसी क्रम को दोहराया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह निर्वाचन-पद्धति बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी।

मान लीजिए, किसी निर्वाचन-क्षेत्र से पाँच सदस्य चुने जाने हैं और उस क्षेत्र मे ९ उम्मीदवार खड़े होते हैं। अब यह भी मान लो कि इस क्षेत्र में १२० मतदाताओं ने वोट दिये जिसमें से ४ अशुद्ध निकल आये, बाकी ११६ शुद्ध वोट पड़े। अब सबसे पहिले निर्वाचन अंक निकाला गया जो कि $\frac{११६}{५+१}$ अर्थात् १९$\frac{२}{६}$ हुआ। वोट जिस प्रकार आये वह अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका मे दिये गये हैं।

सबसे पहिले प्रत्येक उम्मीदवार के प्रथम चुनाववाले वोट छाँटे गये। इस गणना का परिणाम उपर्युक्त तालिका की पहिली पंक्ति में लिखा है। इसे देखने पर मालूम होता है कि केवल 'य' को निर्वाचन-अंक मे अधिक वोट मिले हैं। बाकी सभी वोट कम हैं। अब 'य' को तुरन्त निर्वाचित घोषित कर दिया गया, परन्तु अभी चार सदस्य चुनने शेष रहे। 'य' के बाकी १० फ़ाजिल वोट नं० (२) उम्मीदवारों के नाम बदल दिये गये। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'य' के ३० वोटो से कौन से १० परिवर्तित किये जायं। इसके लिए दो तरीके काम में लाये जाते हैं—या तो सब वोटों को एक ढेरी में खूब उलट-पुलट करके उसमें से कोई १० वोट निकाल लिये जाते हैं या फिर सब वोटों में से पहिला, तीसरा, पाँचवाँ इत्यादि वोट ले लिये जाते हैं। यही नियम आगे भी माना जाता है। 'य' के दस वोटों के परिवर्तन मे जो परिणाम हुआ वह दूसरे पृष्ठ की तालिका की दूसरी पंक्ति मे लिखा है। जिनको इस परिवर्तन में कुछ भी नहीं मिला उनके नाम के आगे यह चिह्न (×) लगा दिया गया है। पंक्ति नं० ३ में इस परिवर्तन का परिणाम दिया गया है. इसे देखने से मालूम पड़ता है कि 'द' जिसे १७ वोट पहले ही मिल चुके थे उसे तीन

उम्मेदवारों के नाम	प्रथम चुनाव वाले वोटों की गणना	य के फाजिल वोटों का परिवर्तन	परिणाम	स के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	क के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	च के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	ह के वोटों का परिवर्तन	अन्तिम परिणाम	—
१ अ	१२	+१	१३	+१	१४	×	१४	+६	२०	×	२०	निर्वाचित
२ ब	१३	+१	१४	×	१४	+५	१९	×	१९	+१	२०	निर्वाचित
३ स	२	×	२	—२	×	×	×	×	×	×	×	
४ द	१७	+३	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
५ य	३०	—१०	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
६ ह	१५	×	१५	×	१५	×	१५	+१	१६	—१६	×	
७ ल	१५	+१	१६	×	१६	+१	१७	+१	१८	+२	२०	निर्वाचित
८ क	४	+४	८	×	८	—८	×	×	×	×	×	
९ च	८	×	८	×	८	×	८	—८	×	×	×	
बेकार वोट	×	×	×	१	१	+२	३	×	३	+१३	१६	—
शुद्ध वोटों की कुल संख्या	११६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	—

*यह कोष्ठक Hogg and Hallet की Proportional Representation नामक पुस्तक से, जिसका उल्लेख महादेवप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक Elements of Civics मे किया है, लिया गया है।

और मिल गये, और इस प्रकार वह भी निर्वाचित हो गया। अब देखा गया कि फाजिल वोट किसी के नहीं रहे, इसलिए जिसके सबसे कम वोट थे, अर्थात् 'स' के दोनों वोट, दूसरे को दे दिये गये। उसका परिणाम पंक्ति नं० ५ में दिया गया है। जब इससे भी कुछ लाभ न हुआ तो 'क' के ८ वोट दूसरों को बाँट दिये गये। इसका परिणाम पंक्ति नं० ७ मे दिया गया है। इस परिवर्तन से भी किसी का चुनाव-अंक पूरा नहीं हुआ, इसलिए 'च' के वोट भी दूसरों को बाँट दिये गये। इससे 'अ' का चुनाव-अंक पूरा हो गया और वह भी निर्वाचित घोषित कर दिया गया। परन्तु अभी भी २ सदस्य चुनने बाकी रह गये; इसलिए 'ह' के वोट भी दूसरों को बाँट दिये गये। इसका फल यह हुआ कि 'ब' और 'ल' भी निर्वाचित हो गये। अब पाँचों सदस्य निर्वाचित हो गये और चुनाव समाप्त हो गया। कभी-कभी इन परिवर्तनों में ऐसा होता है कि परिवर्तित होनेवाले वोटों पर (२) ऐसे उम्मीदवारों के नाम के सामने लिखा होता है जो या तो निर्वाचित हो चुके हैं या असफल घोषित कर दिये गये हैं। इस दशा मे यह वोट बेकार हो जाते हैं।

उपर्युक्त निर्वाचन-पद्धति का हमारे देश में भी प्रचार है। इसी पद्धति के अनुसार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ "आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी" के सदस्यों का चुनाव करती हैं। राज्य-परिषद् के सदस्यों का चुनाव भी इसी रीति से होता है।

प्रथा से लाभ तथा हानि

इस प्रथा से लाभ यह है—(१) इस प्रथा के अन्तर्गत सब दलों को विधान सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व मिलता है। (२) कोई भी मत व्यर्थ नही जाता। (३) राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति पहले चुने जाते हैं और इससे विधान सभा का धरातल ऊँचा उठ जाता है। (४) इससे विधान सभा में किसी एक पार्टी का आधिपत्य नही रहता।

इस प्रथा से हानियाँ यह हैं: (१) यह एक बडी पेचीदी प्रथा है और सर्वसाधारण की समझ से बाहर है। (२) यह धारा सभा में बहुत से अल्पमत दलों के प्रतिनिधित्व को प्रोत्साहन देती है जिससे सरकार अस्थायी हो जाती है। (३) यह बहुमत दल को इस बात का अधिकार प्रदान नही करती कि वह छोटे दलों के सदस्यों को अपनी ओर मिला सके, और (४) चौथे यह प्रथा उपचुनाव के समय लागू नही हो सकती।

सूची-प्रथा (The List System)

इस प्रथा के अनुसार सारा देश एक ही निर्वाचन-क्षेत्र माना जाता है। देश के चुनाव व्यक्तिगत रूप से नही, वरन् दलबन्दी के आधार पर लड़े जाते हैं। राय देते समय मतदाता एक दल के सारे ही उम्मीदवारों को राय देते हैं। वह ऐसा नहीं कर सकते कि आधी राय एक दल के पक्ष में और बाकी राय दूसरे दल के पक्ष में दें। विभिन्न दलों के पक्ष में आई हुई तमाम राय चुनाव के समाप्त होने के पश्चात् गिन ली जाती हैं और फिर

इन मतों के अनुपात से विभिन्न राजनीतिक दलों को उतने ही स्थान दे दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिये किसी देश में 'अ', 'ब' और 'स' तीन दल हैं। इन दलों के चुनाव में इस प्रकार वोट मिलते हैं।

'अ' को ५,०००, 'ब' को ४,०००, और 'स' को १,०००। यदि उस देश की धारा सभा में चुने जानेवाले उम्मीदवारों की कुल संख्या १०० है तो 'अ' को ५० स्थान, 'ब' को ४० और 'स' को १० स्थान प्राप्त होंगे। इन स्थानों में उन उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है जिनके नाम पार्टियों की फेहरिस्त में सबसे ऊपर होते हैं।

प्रथा से लाभ तथा हानि

इस प्रथा से लाभ यह है कि (१) यह अत्यन्त सरल है, (२) कम खर्चीली है तथा (३) देश की दलबन्दी प्रथा को स्वीकार करती है और अलग-अलग व्यक्तियों को चुनाव में खड़े होने से रोकती है; परन्तु इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह (१) एक बड़े देश में अव्यावहारिक साबित होती है तथा (२) इसमें निर्वाचक और निर्वाचित में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित होने पाता, (३) इसके अतिरिक्त इस प्रथा में निर्वाचित सदस्य किसी भी क्षेत्र-विशेष के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते।

सीमित मत-प्रथा (Limited Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत देश बहुत से सदस्योंवाले निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम ३ उम्मीदवार चुने जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की निश्चित संख्या से कुछ कम राय देने का अधिकार दिया है। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुने जाते हैं तो लोगों को केवल दो राय देने का अधिकार होगा जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसंख्यक जाति का भी चुना जा सके।

एकत्रित मतदान-प्रथा (Cumulative Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत भी बहुनिर्वाचन क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार दिया जाता है जितने कि किसी क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाने होते हैं। परन्तु इसमें साथ ही मतदाताओं को यह भी अधिकार रहता है कि वे यदि चाहें तो अपने सारे या कुछ कम वोट एक ही उम्मीदवार को दे सकते हैं। इस प्रथा द्वारा अल्पसंख्यक जातियों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि वे अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार के हक में डालकर उसे निर्वाचित करा लें।

इस प्रथा में दोष यह है कि प्रख्यात उम्मीदवार कभी-कभी आवश्यकता से अधिक मत प्राप्त कर लेते हैं और इससे बहुत से मत बेकार चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस

प्रथा के अन्तर्गत कभी-कभी अल्पसंख्यक दल अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।

पृथक् निर्वाचन-पद्धति (Separate Electorate System)

अंग्रेजों के काल में निर्वाचन की यह पद्धति हिन्दुस्तान में प्रचलित थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के मतदाताओं की अलग-अलग सूचियाँ बनाई जाती हैं। निर्वाचन-क्षेत्र धार्मिक विश्वास के आधार पर बनाये जाते हैं अर्थात् हिन्दू के लिए अलग, मुसलमानों के लिए अलग, सिक्खों के लिए अलग और इसी प्रकार धारा सभा में विभिन्न जातियों के सदस्यों की पहले से ही संख्या निश्चित कर दी जाती है। चुनाव में एक जाति के लोग दूसरी जाति के उम्मीदवार के लिए वोट नहीं दे सकते, अर्थात् हिन्दू हिन्दुओं के लिए, मुसलमान मसलमानों के लिए, सिक्ख सिक्खों के लिए राय देते हैं।

दोष—यह प्रथा अत्यन्त दोषपूर्ण है (१) यह सभी उत्तम राजनीतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (२) यह राष्ट्रहीनता और पृथकत्व की भावना जागत करती है। इसी प्रणाली के कारण आज भारतवर्ष दो टुकड़ों में बँट गया है। (३) यह प्रणाली केवल चुनाव के ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती, वरन् नौकरियों, व्यापार और लाभ के दूसरे स्थानों में भी पैर फैलाने लगती है। (४) यह एक संक्रामक बीमारी की तरह बढ़ती है। यदि एक जाति को पृथक् चुनाव का अधिकार दे दिया जाय तो दूसरी सभी जातियाँ वैसा ही अधिकार माँगने लगती हैं। (५) इससे सहयोग, प्रेम तथा सहानुभूति की भावना नष्ट होकर विभिन्न जातियों के बीच वैमनस्य पैदा हो जाता है। (६) इससे साम्प्रदायिकता का विष फैलता है और राजनीतिक नेता लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए जातीयता की तरङ्गों में बह जाते हैं। (७) धारा सभा में पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त पर चुने हुए सदस्य, राष्ट्रीय हित की बातें नहीं सोचते वरन् संकुचित जातीय हितों की रक्षा करना अपना पेशा बना लेते हैं। (८) इस प्रथा से कभी भी देश में एक उत्कट राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं होता। (९) यह प्रथा बिलकुल अराष्ट्रीय और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (१०) यह आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर दलबन्दी को असंभव बना देती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथक् निर्वाचन-पद्धति राष्ट्रीय हित के लिए अत्यन्त घातक है। हमारे स्वतन्त्र भारत की प्रथम राष्ट्रीय सरकार ने इसीलिए सबसे पहले इस विषैली प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया है।

सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate with Reservation of Seats)

इस प्रथा के अन्तर्गत व्यवस्थापिका सभा में अल्पसंख्यक जातियों के स्थान संविधान द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं। परन्तु विभिन्न जातियों के सदस्यों के लिए पृथक्

निर्वाचन-क्षेत्र नियत नहीं किये जाते। इस प्रकार यह प्रथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त पृथक् निर्वाचनप्रणाली के सब दोषों को दूर कर देती है। इस प्रथा में हिन्दू मुसलमानों को तथा मुसलमान हिन्दुओं को अपने मत देते हैं। केवल वही सदस्य विधान सभा में जाते हैं जिन्हे सब जातियों का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढता की नीव पड़ती है।

अल्पसख्यक जातियों के हित की रक्षा के लिए एक दूसरा साधन भी कभी-कभी काम में लाया जाता है और वह यह कि संविधान में एक ऐसी शर्त रक्खी जाती है जिससे विभिन्न जातियो के प्रचलित अधिकारों और रीति-रिवाजों के विरुद्ध विधान सभा में उस समय तक कोई कानून मंजूर नही किया जा सकता, जब तक विधान सभा में उस जाति के दो-तिहाई सदस्य उसे स्वीकार न कर लें। भारत के नये संविधान में, हरिजनों तथा पिछड़े हुए सिक्खों को छोड़कर बाकी अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन तथा सुरक्षित स्थान की प्रथा का अंत कर दिया गया है। प्रजातन्त्र शासन वास्तविक सफलता को उसी समय प्राप्त होता है जब जनता में एकता हो और उसके विभिन्न अंग अपने विशिष्ट अधिकारों की माँग न कर, अपने आपको एक अविच्छिन्न राष्ट्र का अंग मानें।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Direct vs. Indirect Election)

निर्वाचन-पद्धति के विषय में दो तरीकों का वर्णन कर देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें से एक तरीके को प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा तथा दूसरे को अप्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा कहा जाता है।

प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा—यह वह प्रथा है जिसमें मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों को चुनते हों। यह तरीका प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। मताधिकारी ही अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारो को वोट देते है और जिन्हे अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते है।

अप्रत्यक्ष चुनाव—इस तरीके के अन्तर्गत मतदाता धारा सभा के लिए प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनते बल्कि एक माध्यमिक संस्था के द्वारा चुनते है। इस निर्वाचन-प्रणाली मे दो बार चुनाव होता है, एक बार माध्यमिक संस्था के लिए जिसके ५०–६० या १०० सदस्य होते हैं और फिर विधान सभा के लिए जिसके सदस्यों का चुनाव माध्यमिक संस्था के ५०–६० या १०० सदस्य करते हैं। रूस में यह प्रथा प्रचलित है। हमारे देश की राज्य परिषद् के सदस्य भी इसी प्रणाली से राज्य की विधान सभाओ द्वारा चुने जाते है। अमेरिका तथा भारत में राष्ट्रपति का चुनाव भी इसी प्रणाली से होता है।

गुण और दोष—प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा के गुण यह हैं कि इसके अन्तर्गत जनता का विधान सभा में अधिक विश्वास रहता है। प्रतिनिधि अपने आपको मतदाताओं के

प्रति उत्तरदायी समझते हैं तथा इससे जनता का राजनीतिक ज्ञान बढता है। इस प्रथा के दोष यह है कि मतदाताओं में इतनी योग्यता नही होती कि वे ठीक प्रकार से अपने शासकों का चुनाव कर सकें। वास्तव में मतदाताओं में जनता के वास्तविक हितों को समझनेवाले लोग बहुत कम होते है। इसलिए यदि सब मतदाता मिलकर कुछ थोड़े से ऐसे आदमियों को चुन लें जिन्हें अच्छे-बुरे की पहचान हो, तो इससे विधान सभा के सदस्यों का चुनाव अधिक सुचारु रूप से हो सकता है। परन्तु इस प्रथा में दोष यह है कि इससे जनता मे राजनीतिक जागृति नही हो पाती और वह चुनाव मे उस संलग्नता के साथ भाग नही लेते जैसा कि प्रत्यक्ष चुनाव में लेते है। इसके अतिरिक्त यह चुनाव-प्रणाली अप्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रतिनिधियो का चुनाव केवल थोड़े से ही लोगो के हाथ मे रहता है। घूसखोरी के लिए भी इस प्रथा में काफी गुञ्जाइश रहती है क्योंकि धारा-सभा के सदस्यों का अन्तिम चुनाव थोड़े मे ही लोगों के हाथ में होता है।

प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों का परस्पर सम्बन्ध

प्रश्न उठता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि का उसके निर्वाचकों के प्रति क्या कर्तव्य शेष रह जाता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की ओर से बिल्कुल बेखबर हो जाते है और केवल दूसरे चुनाव के समय ही उनके पास दोबारा राय माँगने के लिए आते है। वास्तव मे यह व्यवहार अत्यन्त निन्दनीय है। प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वह अपने निर्वाचको के साथ बराबर संपर्क बनाये रखे। उनके दुख और मुसीबत की कहानी सुने तथा जहाँ तक भी बन पड़े उनकी सेवा करने का प्रयत्न करे। धारा सभा के सम्मुख जो भी प्रश्न आते है उनके विषय में भी उसे अपने निर्वाचकों से परामर्श करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका कर्तव्य है कि वह उस कार्यक्रम और नीति को कार्य रूप मे परिणत करने का प्रयत्न करे जिसके आधार पर उसे उसके निर्वाचको ने धारा सभा का सदस्य चुना है। अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा करना तथा मतदाताओं को उपस्थित राजनीतिक गुत्थियों से अवगत कराना भी उसका परम कर्तव्य है। एक और बात जिसकी चर्चा यहाँ हम आवश्यक समझते है, यह है कि प्रतिनिधि को अपने स्थानीय हितों की रक्षा के लिए कभी भी राष्ट्रीय हितों का बलिदान नही करना चाहिए। राष्ट्रीय हितों में स्थानीय हित स्वभावतया सन्निहित होते है।

आदर्श प्रतिनिधित्व-प्रथा (Ideal Representative System)

प्रजातन्त्रीय सङ्गठन के उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि किसी भी देश की आदर्श प्रतिनिधित्व प्रथा मे निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिएँ :—

१. सर्वमताधिकार (Universal franchise)

२. प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रथा (Direct System of Election)

३. गुप्त मतदान प्रथा (Ballot System of Voting)

४. निर्वाचन के समय अनैतिक तथा अवांछनीय कार्यों की रोकथाम (Prevention of Malpractices at the time of Election)

५. निर्वाचक और निर्वाचित में निरन्तर संपर्क (Constant Contact between the Representative and the Electorate)

६. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Protection of Minorities)

७. पृथक् निर्वाचन-पद्धति तथा बहुमत का अन्त (Abolition of Separate Electorates & Plural Voting)

योग्यता-प्रश्न

१. महिला मताधिकार के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०, १९४२)

२. आप वयस्क मताधिकार से क्या समझते हैं ? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३२, १९४६)

३. अल्पमत क्या है ? प्रजातांत्रिक व्यवस्थापिकाओं में प्रचलित कुछ ढंगों का वर्णन कीजिये।

४. जातीय प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ है ? भारतवर्ष को दृष्टिकोण में रखकर इस प्रश्न पर प्रकाश डालिये और इसके कुछ उपाय बतलाइये।

५. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के तुलनात्मक लाभ और हानियाँ क्या हैं ? इनका वर्णन कीजिये।

६. किसी व्यवस्थापिका सभा में प्रतिनिधियों के निर्वाचित होने के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये और उनके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३३)

७. एक आदर्श निर्वाचन-पद्धति क्या हो सकती है ? मतदाता शासकों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखते हैं ? (यू० पी०, १९४४)

८. अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का आप क्या आशय समझते हैं ? क्या भारत के लिए आप संयुक्त निर्वाचन प्रणाली उचित समझते हैं ? (यू० पी०, १९४८)

९. मताधिकार पाने के लिए क्या लक्षण होने चाहिए ? क्या आपकी राय में किसी निरक्षर मनुष्य को चुनने का अधिकार मिलना चाहिए ? अपने उत्तर के कारण लिखिए। (यू० पी०, १९५०)

१०. मताधिकार और प्रत्यक्ष चुनाव पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो। (यू० पी० १९५२)

११. सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो। (यू० पी० १९५३)

अध्याय १८

राजनीतिक दल (Political Parties)

परिभाषा—राजनीतिक दल किसी राज्य के अन्तर्गत मनुष्यों के उस संगठित समूह को कहते हैं जो किसी राजनीतिक उद्देश्य अथवा आर्थिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए शांतिमय तथा वैध (Legal) साधनों से, किसी देश के मतदाताओं (Electorate) के बहुमत को अपने पक्ष में करके, राज्य की शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता हो। किसी राजनीतिक दल के लिए, इस प्रकार, तीन बातों की विशेष रूप से आवश्यकता रहती है :—

(१) किसी एक राजनीतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्त में विश्वास, (२) अनुशासनपूर्ण संगठन; और (३) देश की कार्यकारिणी (Cabinet) पर, वैध तथा शांतिपूर्ण उपायों से जनता के बहुमत को अपने पक्ष में करके, कब्जा करने की इच्छा। गैटिल (Gettel) ने इसी कारण राजनीतिक दल की इस प्रकार व्याख्या की है कि यह कुछ लोगों का वह संगठन है जो एक विचार रखते हैं तथा जो अपने अनुयायियों से मत के बल पर, सरकार की मशीन पर अपना कब्जा जमाकर, उस कार्यक्रम और नीति को कार्यान्वित करना चाहते हैं जिसमें उनका विश्वास है। कुछ दूसरे राजनीतिक लेखकों ने इसकी परिभाषा दूसरे प्रकार से की है, उदाहरणार्थ गिलक्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है "राजनीतिक दल कुछ लोगों का वह संगठन है जिनका एक विचार और एक उद्देश्य होता है।" लीकॉक (Leacock) लिखता है कि "राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य उस संगठन से है जो राजनीति के एक सिद्धान्त पर सहमत होते हैं।" एक तीसरे राजनीतिज्ञ गिलक्राइस्ट लिखते हैं, "राजनीतिक दल व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनीतिक प्रश्नों पर एक होता है तथा जो इस बात की चिन्ता में रहते हैं कि किस प्रकार सरकार उनके इच्छानुसार काम करे।" मुनरो के अनुसार "राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो सार्वजनिक समस्याओं पर एक मत रखते हैं।"

गुट्ट (Factions)—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि राजनीतिक दलों के अलावा कुछ देशों में ऐसे मनुष्यों के गुट्ट भी होते है जो किसी राजनीतिक कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते वरन् जो अपनी स्वार्थसिद्धि तथा व्यक्तिगत अधिकार की प्राप्ति के लिए आपस में मिल जाते हैं और फिर बल-प्रयोग, लड़ाई-दङ्गा, गुण्डागर्दी आदि

साधनों को काम में लाकर अपनी उद्देश्य-पूर्ति करना चाहते है। ऐसे समूहों को किसी प्रकार भी राजनीतिक दल नही कहा जा सकता। उनको गुटबन्दी कहना अधिक न्याय-संगत जान पड़ता है। एक राजनीतिक लेखक ने राजनीतिक दल और गुट्ट में इस प्रकार भेद किया है। राजनीतिक दल वोटो के बहुमत द्वारा काम करते है, परन्तु गुट्ट सिरों को फोड़ कर काम करते है। (A political party acts by counting heads, while a faction does so by breaking heads.)

ऐतिहासिक दृष्टि से गुटबन्दियाँ ससार में राजनीति के साथ सदा से चली आई है। पुराने राजतन्त्र शासनों में भी गुटबन्दियाँ थी परन्तु राजनीतिक पार्टियाँ अभी कोई दो शताब्दियों से ही देखने मे आई है। राजनीतिक दलो का विकास प्रजातन्त्र शासनों के आविष्कार के साथ हुआ है, क्योकि प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था राजनीतिक दलो के अभाव में संभव नही।

राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार

राजनीतिक दल, राजनीतिक समस्याओं के विषय में, जनता मे भिन्न-भिन्न राय होने के कारण बन जाते है। जो लोग इन समस्याओं पर एक ही प्रकार से विचार करते है, तथा उनको सुलझाने के लिए एक ही कार्यक्रम मे विश्वास रखते है, वह एक राजनीतिक दल बना लेते है। अक्सर राजनीतिक दलों के पीछे कुछ बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति होते है। इन व्यक्तियों में श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य, उनके साथ लग जाते है, और फिर वह सब मिलकर, एक अत्यन्त आकर्षक प्रोग्राम जनता के सामने रखते है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी ओर अधिक से अधिक मतदाताओं को खीचने की कोशिश करता है और इसके लिए वह नये-नये नारे, नये-नये चित्ताकर्षक प्रोग्राम जनता के सामने रखता है। यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि राजनीतिक दलों की सदस्यता या नीति के विषय मे कोई निश्चित या स्थायी सिद्धान्त नही होता। समय की आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार राजनीतिक दलो का कार्यक्रम भी बदलता रहता है और उनकी सदस्यता भी। प्रायः प्रत्येक देश में ऐसा देखने मे आता है कि आज जो व्यक्ति एक दल के साथ है कल वही अपने दल को छोड़कर, दूसरे मे शामिल हो जाते है। मतदाताओ की अधिकतर संख्या उस दल के साथ अपनी सहानुभूति रखना पसन्द करती है जिसके हाथ में राज्य-सत्ता हो। हारे हुए दल के साथ ऐसे ही लोग रहते है जिनका उस दल के कार्यक्रम में दृढ़ विश्वास होता है।

आधुनिक काल में अधिकतर राजनीतिक दल निम्नलिखित सिद्धान्तों पर व्यवस्थित किये जाते है :—

(१) **राजनीतिक सिद्धान्त**—स्वतत्र राष्ट्रों में, देश के राजनीतिक संगठन के [illegible]

विश्वास करते हैं, तो कुछ प्रजातन्त्र में, कुछ लोग कुलीनतन्त्र में विश्वास रखते हैं तो कुछ तानाशाही शासन में, कुछ लोग फासिस्ट ढङ्ग की सरकार में विश्वास रखते हैं तो कुछ धर्मतन्त्र (Theocratic) शासन में। इन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में विश्वास करनेवाले आदमी अपना एक अलग संगठन बना लेते है और फिर अपने मत का जनता में प्रचार करते है। गुलाम देशों मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए भी राजनीतिक दल बनाये जाते है।

(२) **आर्थिक सिद्धान्त**—कुछ लोग जो समाज के एक ही प्रकार के आर्थिक संगठन में विश्वास रखते हैं अथवा जो जनता की आर्थिक दशा सुधारने के लिए समान साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं, अथवा जो एक ही पेशा करते हैं; एक ही प्रकार का संगठन बना लेते हैं। इन संगठनों के उदाहरण में हम विभिन्न देशों के समाजवादी दल, कम्यूनिस्ट पार्टी, लेबर पार्टी, जमीदार एसोसिएशन इत्यादि दलों के नाम ले सकते है। आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक दल आधुनिक काल में बहुत लोकप्रिय है।

(३) **प्राकृतिक मतभेद** (Temperamental Differences)—ससार के सभी देशो में मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं के विषय मे जनता में चार प्रकार के दृष्टिकोण होते है। सबसे पहले कुछ ऐसे लोग होते है जो प्राचीन काल की व्यवस्था को ही आदर्श मानते है और वर्तमान तथा भविष्य को असतोष की दृष्टि से देखते है। इस प्रकार के विचारो के मनुष्यो को हम प्रतिक्रियावादी (Reactionaries) कह सकते है, क्योंकि यह लोग पीछे की ओर देखते है। दूसरे प्रकार के मनुष्य वह होते है जो वर्तमान व्यवस्था के प्रति संतुष्ट रहते हैं तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या सुधार नही चाहते; ऐसी मनोवृत्ति प्राय: सम्पन्न और धनी लोगों में पाई जाती है, राजनीति में इन्हें कन्जरवेटिव (Conservative) या अनुदार कहा जाता है क्योंकि वे सुधार-विरोधी और वर्तमान व्यवस्था के पक्षपाती होते है। तीसरे प्रकार के मनुष्य समाज मे वह है जो वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों को समझते एव उसमे परिवर्तन और सुधार चाहते है, किन्तु धीरे-धीरे और वैधानिक उपायो से। ऐसे लोग (Liberal) या उदार कहे जाते है। अन्त में प्रत्येक समाज मे कुछ लोग ऐसे होते है जो वर्तमान व्यवस्था से इतनी घृणा रखते है कि उसको नष्ट-भ्रष्ट करके उसके स्थान पर नई सभ्यता का निर्माण करना चाहते है। इन लोगों को उग्र अथवा (Extremist or Radical) कहा जाता है। मनुष्य के इन प्राकृतिक मतभेदो के कारण भिन्न-भिन्न देशों में कन्जरवेटिव, लिबरल तथा रेडिकल पार्टियाँ बनाई जाती हैं। कुछ देशों में प्रतिक्रियावादी दलों को दक्षिण पक्ष (Rightist

Party), अनुदार और उदार दलों को मध्य पक्ष (Centre Party), उग्र दलों को वाम पक्ष (Leftist Party) के नामों से भी पुकारा जाता है।

कुछ पिछड़े हुए देशों में जातीय, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी विभिन्नताओं के आधार पर भी दलों की व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी किसी देश में बिना किसी राजनीतिक या आर्थिक कार्य-क्रम के भी किसी एक बड़े राजनीतिक नेता में आस्था होने के कारण भी राजनीतिक दल का निर्माण हो जाता है। हाल ही में इसी प्रकार का एक दल अमेरिका में हेनरी वालेस ने बनाया है।

इंगलैण्ड के दल—इंगलैण्ड में मुख्यतः तीन दल हैं :—(१) कंजरवेटिव (Conservative), (२) लिबरल (Liberal) और (३) मजदूर (Labour)। इनमें से पहले दो दलों का निर्माण प्राकृतिक मतभेद के कारण हुआ और तीसरे दल का आर्थिक कार्य-क्रम के सिद्धान्त पर। इगलैंड के पिछले १९४६ के आम चुनाव में लिबरल पार्टी की भारी हार हुई। इस कारण आजकल इगलैंड में केवल दो ही पार्टियाँ अधिक प्रभावशाली रह गयी हैं।

अमेरिका के दल—अमेरिका मे मुख्यतः दो पार्टियाँ हैं—(१) डेमोक्रेट्स, (२) रिपब्लिकन्स। इन पार्टियो के कार्य-क्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही दल पूंजीवाद के समर्थक हैं। अन्तर केवल इतना है कि रिपब्लिकन पार्टी, डैमोक्रेटिक पार्टी के मुकाबले में कुछ अधिक प्रतिक्रियावादी है। हाल ही में अमेरिका में मि० हेनरी वालेस ने एक तीसरी प्रोग्रेसिव पार्टी का भी निर्माण किया है जिसका उद्देश्य अमेरिका की विदेशी नीति मे रूस के साथ समझौता करना है।

फ्रान्स के दल—फ्रांस के राजनीतिक इतिहास का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि वहाँ इतने राजनीतिक दल हैं कि उस देश में स्थायी सरकार कभी नही बनने पाई है। वहाँ मन्त्रिमण्डलों की तब्दीली आये दिन की बात है। फ्रांस के प्रमुख राजनीतिक दलों में हम कम्यूनिस्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, कैथोलिक पार्टी, रेडिकल पार्टी और जनरल डिगाल की पार्टी के नाम ले सकते हैं।

भारतवर्ष के दल—हमारे देश को स्वतन्त्र हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ है इसलिए यहाँ राजनीतिक दलों की व्यवस्था उन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नही की गई है जिन पर पाश्चात्य देशों के दल संगठित हैं। अभी कुछ दिन पहले तक हमारे देश की पार्टियाँ धार्मिक तथा जातीय भेद-भावों पर अवलम्बित थी। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, अकाली दल, दलित जातीय संघ आदि इसी के उदाहरण हैं। केवल इण्डियन नेशनल कांग्रेस ही हमारे देश की एक ऐसी पार्टी है जो राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर अवलम्बित है। धार्मिक दलों का प्रभुत्व हमारे देश में शासन की पृथक् निर्वाचन-पद्धति (Separate Electorates) के कारण हुआ। इन दलों ने साम्प्र-

दायिकता का वह बीज बोया कि हमारे देश के दो टुकड़े होकर ही रहे। महात्मा गांधी की मृत्यु के पश्चात् से हमारे देश की राजनीति मे एक जबदस्त तबदीली आई है। जनता अपने सबसे अमूल्य रत्न को खोकर साम्प्रदायिकता के क्षेत्र से कुछ दूर हटने लगी है। पिछले सन् १९५२ के चुनावो मे उसने साम्प्रदायिक दलो को करारी हार देकर अपनी राजनीतिक चेतना का पूरा प्रमाण दिया है।

आजकल हमारे देश की सबसे संगठित और शक्तिशाली पार्टी कांग्रेस ही है। देश के तमाम प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार पर इसी का प्रभुत्व है। सन् १९५२ के आम चुनावों में इसी दल को विजय मिली और विधान सभाओं में सबसे अधिक स्थान उसी को प्राप्त हुए हैं।

अब कुछ काल से प्रजा-समाजवादी एवं साम्यवादी दलों का प्रभाव भी हमारे देश में बढ़ रहा है। साम्यवादी दल का सबसे अधिक जोर दक्षिण में है। पिछले आम चुनावों में कांग्रेस के पश्चात् इसी दल के उम्मीदवार सबसे अधिक विधान सभाओं में चुने गये।

कांग्रेस, प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी और कम्यूनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त हमारे देश में कुछ और छोटे-छोटे राजनीतिक दल भी हैं। इनमें जन संघ, हिंदू सभा, अकाली दल, शैड्यूल कास्ट फिडरेशन मुख्य हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य (प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों की आवश्यकता)

दलों की आवश्यकता—राजनीतिक दलों को वर्तमान राजनीति की प्रेरक शक्ति कहा गया है। उनके बिना प्रजातन्त्र शासन का संचालन संभव नहीं होता। वैसे बाहरी रूप से देखने में यह बात बड़ी अजीब-सी मालूम पड़ती है कि प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों को अनिवार्य क्यों माना जाता है। प्रजातन्त्र शासन का अर्थ दलगत सरकार नही होता। उसका अर्थ है 'समस्त जनता की सरकार'। कोई एक दल किसी दशा में भी समस्त जनता का प्रतिनिधित्व नही करता। कभी-कभी तो जो दल शासनारूढ़ होता है वह जनता के केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग का ही प्रतिनिधि होता है। बहुदलीय देशों में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। फिर क्यों यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र शासन राजनीतिक दलों के संगठन के बिना संभव नहीं है?

उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सैद्धान्तिक रूप से यह बात ठीक है कि प्रजातन्त्र का अर्थ समस्त जनता का शासन होता है। परन्तु सवाल उठता है कि जब आजकल के राज्यों में यह संभव नहीं है कि समस्त जनता राज-काज के कामों में सीधा भाग ले सके

और इसलिए प्रतिनिधियों के चुनाव द्वारा प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था चलाई जाती है, तो यह किस प्रकार जाना जाय कि किसी प्रश्न पर जनता की क्या राय है तथा वह किन उद्देश्यों के आधार पर शासन-नीति का निर्माण कराना चाहती है ? यह कहना भी भारी भूल होगी कि किसी देश के लिए यह कहा जाय कि वहाँ की समस्त जनता एक से ही राजनीतिक उद्देश्यों अथवा आर्थिक कार्यक्रम में विश्वास रखती है, या सार्वजनिक प्रश्नो के हल के सबध मे वहाँ की जनता में किसी प्रकार का मतभेद नही है। ऐसी अवस्था केवल एक तानाशाही शासन-प्रणाली के अंतर्गत ही देखी जा सकती है, एक ऐसे देश में नहीं जहाँ जनता को सोचने-विचारने तथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत व्यक्त करने की आज्ञा हो। यह स्वाभाविक ही है कि मानसिक विकास के कारण सार्वजनिक समस्याओ के उचित हल के सबंध मे समाज के नेताओं में मतभेद होगा। सब व्यक्तियों का उद्देश्य एक हो सकता है कि राष्ट्रीय हित की वृद्धि की जाय, परन्तु वह किन उपायों से संभव है इस संबंध मे समाज के बुद्धिमान् वर्ग में सदा मतभेद रहता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही नही आवश्यक भी है, कारण विचारों के संघर्ष से ही सामाजिक प्रश्नो का उचित हल निकलता है। यदि सब मनुष्य एक ही दशा में सोचें तो वह बुद्धिजीवी प्राणी नही कहे जा सकते, वरन् भावहीन और विचारहीन पशु ही माने जायँगे। राजनीतिक दलों का सबसे बड़ा कार्य यही होता है कि वह उन व्यक्तियों को एक ही संगठन के अधीन व्यवस्थित कर देते हैं जो सार्वजनिक महत्व के राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक प्रश्नों पर एक-सा ही दृष्टिकोण रखते हैं।

द्विदलीय तथा बहुदलीय प्रणाली—किसी देश में बहुत से राजनीतिक दल हो सकते हैं तथा किसी में कम। अधिक राजनीतिक दलों का यह अर्थ नही होता कि उस देश में राजनीतिक स्वतंत्रता अधिक है या जिस देश में थोड़े दल हैं, वहाँ के लोग कम बुद्धिमान् हैं। सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर विस्तृत हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि जनता छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर मौलिक प्रश्नो के संबंध में एक ही राय रक्खे। बहुत से दलों के सगठन का यह अर्थ होता है कि जनता राष्ट्रीय हित के मामलों मे विशाल दृष्टिकोण से काम नही लेती। और छोटे-छोटे मतभेदों के कारण अलग राजनीतिक दल बना बैठती है जिससे राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचती है। विदित है कि राजनीतिक दलों का संगठन क्षुद्र जातीय, धार्मिक अथवा व्यक्तिगत स्वार्थो के आधार पर नही होना चाहिए। देश हित की दृष्टि से कुछ मौलिक समस्याओं के आधार पर ही राजनीतिक दलों का निर्माण होना चाहिए। बहुत से दलों के संगठन से यह भी पता नही चलता कि अधिकांश जनता किस दल-विशेष के कार्यक्रम को पसंद करती है। ऐसी दशा में एक स्थाई सरकार की स्थापना भी नही हो सकती। इसलिए ऐसे राज्यों में जहाँ जनता की राजनीतिक चेतना काफी जागृत है, अधिक राजनीतिक दलों के संगठन को अच्छा नहीं

माना जाता। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जनता में इस गुण की भी आवश्यकता है कि वह छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर विशाल दृष्टिकोण से विचार करे। इसीलिए देखा जाता है कि प्रायः सभी राजनीतिक दल अपने देश की वैदेशिक नीति का समर्थन करते हैं; केवल आतरिक प्रबंध की मौलिक समस्याओं के संबंध मे उनमें मतभेद होता है। हमारे देश में भी पिछले दिनों में बहुत से छोटे-छोटे राजनीतिक दल मिलकर एक हो गये हैं। किसान मजदूर प्रजा पार्टी, समाजवादी दल, फार्वर्ड ब्लाक, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि का विलयन होकर एक संगठित दल प्रजा समाजवादी दल बन गया है। दूसरे वामपक्षी तथा दक्षिण पक्षी दलों में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है।

द्विदल और बहुदल-प्रणाली के गुण व दोष

गुण—अधिकतर राजनीतिक विद्वान् दो दलों के सगठन को ही श्रेष्ठ मानते हैं। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) द्वितीय प्रणाली के अंतर्गत एक दृढ़ और स्थायी सरकार बनने की अधिक संभावना रहती है। सरकार उस दल की बनती है जिसका विधान सभा में बहुमत हो। बहुत से दलो के होने से सरकार की स्थिति डावाँडोल रहती है और मत्रिमडल आए दिन बदलते रहते हैं।

(२) द्विदल प्रणाली की सरकार जनता की अधिक विश्वासपात्र होती है। वह जनता के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है। बहुत से दलों के होने से जनमत का ठीक पता नही चलता और ऐसे दल की सरकार भी बन सकती है जिसके कार्यक्रम को बहुत थोड़े लोग पसंद करते हों।

(३) द्विदल प्रणाली के अंतर्गत सरकार अपने बहुमत की सहायता से निश्चित होकर अपने कार्यक्रम पर अमल कर सकती है। उसे इस बात का भय नही रहता कि कुछ सदस्य उसकी नीति से असतुष्ट होकर सरकार को राय देना छोड़ देंगे और इस प्रकार उसकी हार हो जायगी। बहुदल प्रणाली मे ऐसी ही बात अक्सर होती रहती है। यही कारण है कि फ्रास में कोई भी सरकार एकाध साल से अधिक टिकाऊ नहीं रहती।

(४) द्विदल प्रणाली से एक शक्तिशाली तथा सुसगठित विरोधी दल का भी निर्माण हो जाता है। यह दल सरकार की नीतियो की निरतर आलोचना करके उसे निरंकुशता का मार्ग अपनाने से रोकता है। बहुदलीय देश में विरोधी पक्ष की शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं और सारे राजनीतिक दल मिलकर सरकार का विरोध नही करते।

(५) अंत में द्विदलीय प्रणाली में जनता छोटे-छोटे मतभदों को भुलाकर राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर विशाल दृष्टिकोण से विचार करने की क्षमता प्राप्त करती है।

इस प्रणाली के अंतर्गत किसी गलत कार्य के लिए उत्तरदायित्व का निश्चित करना भी सरल रहता है।

दोष—द्विदल प्रणाली की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना भी की जाती है :—

(१) गोल्डविन स्मिथ का कहना है कि द्विदल प्रणाली अप्राकृतिक है। राजनीतिक दलों का निर्माण स्वाभाविक मतभेदों के आधार पर होता है। मानव-स्वभाव को केवल दो भागों में बाँटना किसी भी प्रकार सत्य या न्यायसंगत नहीं हो सकता।

(२) द्विदलीय प्रणाली के अंतर्गत सरकार अपने बहुमत की शक्ति से देश पर निरंकुश शासन करती है। ऐसी अवस्था उन देशों में अधिक मिलती है जहाँ विरोधी दल अशक्त हो। इससे अल्पसंख्यक वर्गो के हितों का ह्रास होता है।

(३) द्विदलीय प्रथा के अंतर्गत बहुमत दल के कुछ बड़े-बड़े नेताओं को छोड़कर शेष सदस्यों का काम विधान सभा के अधिवेशनों में केवल इतना रह जाता है कि वह किसी प्रश्न पर राय माँगे जाने की स्थिति में अपने दल के पक्ष में हाथ उठा दें। उन्हें पार्टी संयम के नाम पर अपने विचारों को व्यक्त करने की आजादी नही मिलती और वह अपने विचारों द्वारा देश का हित साधन नही कर सकते। ऐसी स्थिति में विधान सभा की महत्ता भी घट जाती है और वह मंत्रियों के निश्चय पर मोहर लगाने के अतिरिक्त और कोई काम नही करती।

निष्कर्ष—परन्तु इन दोषों के रहते हुए भी अधिकतर राजनीतिक विद्वान् द्विदलीय प्रणाली को ही श्रेष्ठ बताते हैं। इस प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए विधान सभा में अनेक समितियों (Parliamentry Committees) बनाई जाती हैं जिनमें भाग लेनेवाले सदस्य सरकार की नीति की खुली आलोचना कर सकते हैं। दल की अपनी मीटिगों में भी सदस्यों को इस बात का अधिकार दिया जाता है कि वह सरकारी नीतियों की खुले रूप में आलोचना कर सके।

दलों के मुख्य कार्य—उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के अंतर्गत राजनीतिक दलों का निर्माण क्यों आवश्यक है। सार्वजनिक प्रश्नों पर जनता की राय जानने का कोई दूसरा उपाय अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। राजनीतिक दल चुनाव के समय जनता को यह बतलाते हैं कि उनका क्या कार्यक्रम तथा उद्देश्य है? यदि उसके उम्मीदवारों को बहुसंख्या में निर्वाचित करके विधान सभा में भेजा गया तो वह किस नीति का पालन करेंगे। जनता जिस राजनीतिक दल के कार्यक्रम को पसंद करती है उसी के उम्मीदवारों को राय देती है और इस प्रकार एक ऐसी सरकार का निर्माण हो जाता है जो जनता की राय का प्रतिनिधित्व कर सके।

राजनीतिक दलों के कार्य—मुख्य रूप से राजनीतिक दल दो कार्य करते हैं :— (१) जनता में अपने कार्यक्रम और नीति का प्रचार और (२) चुनावों में भाग लेना। प्रथम कार्य के अन्तर्गत राजनीतिक दल जनता में अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए अखबार निकालते हैं, सभाएँ करते हैं, राजनैतिक साहित्य छापते हैं, तथा रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा अपने निर्वाचकों की सेवा करने का प्रयत्न करते हैं। इन कार्यों द्वारा दलों का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि आम चुनाव के समय जनता उनके प्रतिनिधियों को राय दे। दूसरे कार्य के अन्तर्गत राजनीतिक दल धारा सभा के चुनावों में भाग लेकर देश की सरकार पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। चुनावों को लड़ने के सम्बन्ध में उन्हें मुख्यतः निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं:—

(१) वोटरों की अधिकाधिक संख्या में अपने दल का सदस्य बनाना और वोटरों की सूची (Electoral Register) में उनका नाम लिखवाना, जिससे वह अगले चुनावों में भाग ले सकें।

(२) जिन पदों के लिए निर्वाचन होना है उनके लिए योग्य उम्मीदवार चुनना तथा उनका वोटरों से परिचय कराना।

(३) अखबारों, नोटिसों, व्याख्यानों, सभाओं तथा प्रदर्शनों द्वारा अपने प्रतिनिधियों को चुनाव में जिताने के लिए, आन्दोलन करना।

(४) दूसरे दलों के सिद्धान्तों की आलोचना करना जिससे जनता उनके ही दलों के प्रतिनिधियों को राय देकर धारा सभा का सदस्य निर्वाचित करे।

(५) चुनाव लड़ना, वोटरों से अपने उम्मीदवारों के लिए राय माँगना, अपने पक्ष के वोटरों को गाड़ी या मोटरों में बिठाकर चुनाव-स्थान पर ले जाना।

(६) यदि चुनाव में बहुमत प्राप्त हो तो देश का शासन करना, अन्यथा धारा सभा में विरोधी दल का निर्माण करके सरकार के कार्यों की आलोचना करके उसे सतर्क रखना।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के संचालन में राजनीतिक दलों की ही सहायता से काम चलता है। इन दलों के बिना न मन्त्रिमंडल ही बन सकता है, न चुनाव ही लड़े जा सकते हैं, न प्रतिनिधियों को ही ठीक प्रकार से चुना जा सकता है, न विरोधी दल ही बन सकता है, और न जनता की राजनीतिक शिक्षा ही हो सकती है।

राजनीतिक दलों से लाभ

(१) प्रजातन्त्र के संचालन के लिए राजनीतिक दलों का होना परमावश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है। जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य राजनीतिक दल ही करते हैं। यदि यह दल न हों तो देश में संगठित बहुमत का निर्माण न हो सके और इसके न होने से प्रजातन्त्र शासन का चलना ही असम्भव हो जाय।

(२) राजनीतिक पार्टियों के आधार पर ही किसी देश के मन्त्रिमंडल में जनता के इच्छानुसार परिवर्तन सम्भव होते है। ज्यों ही धारा सभा में किसी विशेष मंत्रि-मंडल की हार हो जाती है तो तुरन्त ही उसके स्थान में दूसरे मन्त्रिमंडल का निर्माण हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विरोधी दल मन्त्रिपद ग्रहण कर लेता है और पहिले मन्त्रिमंडल के सदस्य विरोधी दल का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

(३) अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक दल, कार्यकारिणी और धारा सभा के बीच मेल बनाये रखते है। इन दलों के अभाव में अध्यक्षात्मक शासन कभी सुचारु रूप से नही चल सकता। राजनीतिक दल, ऐसी सरकार में कार्यकारिणी और धारा सभा दोनों के सदस्यो पर असर डालते है और इस प्रकार उनके बीच होनेवाले गत्यवरोध को रोकते है।

(४) राजनीतिक दल निर्वाचकों को शिक्षित, अनुशासित तथा संयमी बनाने के कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेते है। वह राजनीतिक साहित्य, समाचारपत्रों तथा सभाओं के द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते है तथा उसे देश की समस्याओ से अवगत कराकर सार्वजनिक विषयों के प्रति उसकी रुचि बढ़ाते है।

(५) निर्वाचकों की सेवा तथा उनमें अनुशासन का भाव निर्माण करने के लिए राजनीतिक दल कभी-कभी स्वयसेवक दलो का भी निर्माण करते है।

(६) वे देश के सामने उपस्थित विभिन्न विषयों का गम्भीर अध्ययन करने के लिए कभी-कभी अन्वेषण-संस्थाएँ (Research Institutions) खोलते है, तथा विशेषज्ञों की कमेटियाँ नियुक्त करते है और इस प्रकार देश की समस्याओं को समझने तथा उन्हें हल करने का प्रयत्न करते है।

(७) कभी-कभी राजनीतिक दल सामाजिक सुधार के कार्यो में भी भाग लेते है। हमारे देश की कांग्रेस ने हरिजन-उद्धार, स्त्री-शिक्षा तथा जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भावों को मिटाने का जो प्रयत्न किया है वह अत्यन्त ही सराहनीय है।

(८) अंत में राजनीतिक दल जनता के छोटे-छोटे मतभेदों को दूर कर उनमें समान हित की प्राप्ति के लिए भावना उत्पन्न करते है।

राजनीतिक दलों के दोष

राजनीतिक दलों में अनेक दोष भी होते है। उनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे करते है।

(१) दल प्रथा एक सच्चे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इसमें दल के अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। एक बार दल द्वारा किसी विषय पर निर्णय हो जाने के पश्चात् सब सदस्यों को उस फैसले को

मानना पड़ता है। और यदि दल के कुछ सदस्य उस निर्णय को बिल्कुल नापसन्द भी करते हों तो भी वह उसके विरोध मे अपनी आवाज नही उठा सकते।

(२) राजनीतिक दलों का नेतृत्व कुछ ऐसे लोगो के हाथों में आ जाता है जो सिद्धान्तहीन होते है तथा जो चुनाव लड़ने में उचित और अनुचित उपायों में भेद नही करते।

(३) दल के अन्दर कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक गुट बन जाता है जिनके हाथ में सारी शक्ति केंद्रित हो जाती है और फिर उनको उनके स्थान से नही हटाया जा सकता। दलबन्दी की इन्ही बुराइयों के कारण राज्य के सर्वश्रेष्ठ नागरिक अपने को इस दूषित वातावरण से बिल्कुल अलग रखते है।

(४) राजनीतिक दलो के कारण जिन मन्त्रिमंडलों का निर्माण होता है उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी आसनारूढ हो जाते है जिनमे शासन-सबधी कोई भी योग्यता नही होती।

(५) दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य ऐसी ही दूसरी बुराइयों का बाजार गर्म हो जाता है। दलों के नेता चुनाव के समय, निर्वाचकों को अपनी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़े करने का प्रलोभन देकर, बहुत बडी रिश्वत खा जाते है। इसके अतिरिक्त एक दल की सरकार बनने के पश्चात् दल के नेता इस बात का प्रयत्न करते है कि उन्ही की पार्टी के सदस्य विभिन्न राजनीतिक स्थानों पर नौकरियाँ प्राप्त करें। इससे बहुत से योग्य व्यक्ति नौकरी से निकाल दिये जाते है। अमेरिका का (Spoils System) इस सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(६) दलो के कारण राष्ट्र परस्पर-विरोधी समूहो मे विभाजित हो जाते है। दल-प्रथा मनुष्यों मे देशभक्ति के स्थान पर दल-भक्ति के भावो का सचार करती है। दल के सदस्य अपनी पार्टी के हित के सामने राष्ट्र के हित को एक अत्यन्त हीन वस्तु समझते है।

(७) प्रायः सभी दल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनता में गलत बातों का प्रचार करते है और इसके कारण जनता के भोले-भाले नागरिको को इस बात का पता नही चलता कि वास्तव में सच्चाई क्या है!

(८) दलबन्दी प्रथा में खुशामद और जी-हजूरी का बोलबाला होता है। केवल ऐसे ही व्यक्ति पार्टी नेताओं (Party Bosses) की निगाह में चढ़ सकते है जो सदा उनकी खुशामद में लगे रहें।

(९) सभी राजनीतिक दल आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्तों पर नही बनाये जाते, कितने ही दल केवल व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण संगठित कर लिये जाते है।

(१०) दल-प्रथा का प्रभाव केवल धारा सभा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा ग्राम-पंचायतों के क्षेत्र में भी—जहाँ केवल स्थानीय प्रश्नों पर ही विचार किया जाता है—पाया जाता है। इससे जनता का दैनिक नागरिक जीवन भी दूषित हो जाता है।

(११) जिस देश में बहुत से दल धारा सभा में होते हैं वहाँ स्थायी सरकार नहीं बन पाती। प्रान्त में इसी कारण जल्दी-जल्दी मन्त्रिमण्डल बदलते रहते हैं।

(१२) दल-प्रथा के कारण मन्त्रिमण्डल में केवल एक ही पार्टी के नेताओं को शामिल किया जाता है। विरोधी दल के योग्य व्यक्ति, इसी कारण, राष्ट्र के निर्माण-कार्य में भाग नहीं ले सकते।

(१३) दल के नेता ऐसी योजनाओं को धारा सभा के सम्मुख पेश करते हैं जिनसे जनता की वास्तविक भलाई तो चाहे हो या न हो परन्तु जिनसे उनके अशिक्षित निर्वाचक प्रसन्न हो जायँ और आगामी चुनाव में उनको फिर राय दे सकें।

(१४) दलबन्दी की प्रथा से मनुष्य का नैतिक पतन हो जाता है। वह सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार नहीं करता, वरन् अपने दल के दृष्टिकोण से विचार करता है।

दोषों को दूर करने के उपाय—उपर्युक्त वर्णन से पता लगता है कि दलबन्दी की प्रथा अत्यन्त ही दोषपूर्ण है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि दलों को समाप्त करके प्रजातन्त्रात्मक सरकार किस प्रकार चलाई जा सकती है। दलबन्दी की प्रथा की बुराई तो बहुत से राजनीतिज्ञों ने की है परन्तु उनमें से किसी ने भी यह बताने का प्रयत्न नहीं किया कि इनके बिना वर्तमान सरकारों का संगठन किस प्रकार चलाया जा सकता है।

हमारी सम्मति में दलबन्दी-प्रथा को खत्म करने की आवश्यकता नहीं, उसकी बुराइयों को दूर करने की आवश्यकता है। ये बुराइयाँ एक शिक्षित, चैतन्य, सुदृढ़, न्यायपूर्ण और दूरदर्शी जनमत के निर्माण द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता ही दलबन्दी के दोषों का अन्त कर सकती है। हमारे लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम राजनीतिक दलों की बुराइयाँ करते रहें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम अपने जीवन को संयमी, अनुशासित और नैतिक बनायें। जनता के नैतिक धरातल का प्रतिबिम्ब ही राजनीतिक पार्टियों में पाया जाता है। इसलिए यदि हम स्वयं जागरूक बनें तथा जनता को शिक्षित बनायें, उनको नैतिकता का पाठ पढ़ायें, उसे राजनीतिक शिक्षा प्रदान करें, उसे भले-बुरे का ध्यान करायें, सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति उसकी रुचि बढ़ावें, तभी हम प्रजातन्त्रात्मक शासन के दोषों को दूर कर सकते हैं।

राजनीतिक दलों की सफलता की शर्तें (Conditions for the Success of Political Parties)

प्रजातन्त्र राज्य में जनता को शिक्षित बनाने के अतिरिक्त राजनीतिक दलों को भी उचित नियमों के अनुसार व्यवस्थित किया जाना चाहिए।

(१) सर्वप्रथम राजनीतिक दलों को राजनीतिक या आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करना चाहिए, साम्प्रदायिक या जातीय या भाषा या किसी वर्ग-विशेष के स्वार्थ के आधार पर नही। जिन देशों में राजनीतिक दल किसी उसूल पर नहीं, वरन् कुछ लोगों की स्वार्थसिद्धि के आधार पर बनाये जाते है वहाँ प्रजातन्त्र राज्य की संस्था सफल नही हो सकती।

(२) राजनीतिक दलों के ऊपर से किसी एक मनुष्य या गुट का प्रभुत्व कम करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विधान में इस प्रकार की शर्तें रक्खी जायँ जिनके कारण कोई एक मनुष्य किसी पद पर दो या तीन वर्ष से अधिक न रह सके।

(३) देश मे राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक नही होनी चाहिए, जिससे कि सरकार का काम स्थायी रूप से चल सके। अधिक राजनीतिक दलों के कारण धारा सभा के सदस्य देश की भलाई के काम करने के बजाय, मंत्रिमंडलों के तोड़ने-फोड़ने के कार्य में लगे रहते है।

योग्यता-प्रश्न

१. पाश्चात्य देशों में राजनीतिक दलों की व्यवस्था कौन से सिद्धान्तों पर की गई है ? क्या भारतीय दल इसी प्रकार के सिद्धान्त पर विभाजित किये गये है ? दलप्रथा के क्या-क्या लाभ है ? (यू० पी०, १९३५)

२. दल-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाइये और दलों के कार्य और प्रभाव का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३६)

३. राजनीतिक दल की व्याख्या कीजिए। क्या दल प्रथा आनन्दप्रद नहीं वरन् एक शाप है ? क्या आप इस मत से सहमत हैं ?

४. राजनीतिक दल सार्वजनिक मत को शिक्षित बनाने में, शासन की व्यवस्था करने में कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होते है ? (यू० पी०, १९४०)

५. दल शासन का क्या अर्थ है ? इसके गुण और दोष समझाइये। (यू० पी०, १९४२)

६. राजनीतिक दल का क्या अर्थ है ? ये दल जनता को शिक्षित बनाने तथा शासन को चलाने में किस प्रकार सहायता देते है ? (यू० पी०, १९४४, १९४९)

७. राज्य के संचालन में और नागरिक को राजनीतिक शिक्षा देने में राजनीतिक दल कहाँ तक सहायक होते हैं ? (यू० पी०, १९५४)

अध्याय १६

जनमत (Public Opinion)

जनमत का महत्त्व—समाज की वर्त्तमान व्यवस्था में, जिनमें विभिन्न मानव-प्रवृत्तियों के विकास के लिए अनेक संगठन कायम हैं, और प्रजातन्त्र के आधुनिक युग में, जहाँ राज्य के कार्य इतने व्यापक हो गये हैं कि वे मानव-जीवन की प्रत्येक व्यवस्था पर अपना प्रभाव डालते हैं, शासन के कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रगतिशील जनमत की नितान्त आवश्यकता है।

(१) सर्वप्रथम जनमत, सामाजिक जीवनके विभिन्न संगठनों के कार्यों और आचारों को, नियन्त्रित करके व्यवस्थित करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने पड़ोसियों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता, और विशेषकर उन लोगों के विचारों के प्रति जिनका उसके दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क है। जनमत विभिन्न संस्थाओं के लोगों को सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करने से रोकता है। वह संस्थाओं को इस प्रकार काम करने के लिए विवश करता है कि जिससे मानव-व्यक्तित्व की अधिकाधिक उन्नति हो सके।

(२) दूसरे, जनमत राज्य की कार्यकारिणी के कामों का इस उद्देश्य से निरीक्षण करता है जिससे वह नागरिकों के अधिकाधिक हित के लिए कार्य कर सके।

(३) यह शासन को उन स्वार्थी तथा पदलोलुप व्यक्तियों के हाथों में जाने से रोकता है जो राज्य के यन्त्र को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए काम में लाना चाहते हैं। इस प्रकार वह नागरिकों के अधिकार और स्वतंत्रता का संरक्षक बन जाता है। जनमत एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा अधिकांश लोगों के विचार, राज्य के सर्वोच्च कर्मचारियों तक पहुँचाये जा सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में शासन को नियन्त्रित रखने के लिए यह सबसे शक्तिशाली यन्त्र है। यह शासकों को इस प्रकार कार्य करने के लिए विवश करता है कि जिससे वे जनता के अधिकाधिक हित के लिए काम कर सकें।

वर्तमान राज्य धारा सभा में विरोधी दल के सदस्यों की आलोचना की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी कि उस जनमत की जिसका भान उन्हें सार्वजनिक सभाओं, नेताओं के भाषणों, समाचार-पत्रों तथा उपचुनाव के परिणामों से होता है। सत्ता-प्राप्त राजनीतिक दल उप-चुनाव में अपने विरोधियों की जीत से इतने भयभीत हो जाते हैं कि तुरन्त ही वे अपनी नीति में परिवर्तन करके जनता को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रजातन्त्र और जनमत

प्रजातन्त्र की व्याख्या जनता के उस शासन से की गई है जो जनता के द्वारा, जनता के हित में, शासन हो। यह वह शासन है जिसमें देश की सरकार जनता के इच्छानुसार देश का प्रबन्ध करती है। इसलिए प्रजातन्त्र राज्य में एक शिक्षित जनमत बहुत महत्त्व-पूर्ण कार्य करता है। यदि किसी देश की सरकार जनमत की अवहेलना करती है तो वह प्रजातन्त्रीय सरकार कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती।

प्रजातन्त्रीय शासन में जनता का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सदा सतर्क और चैतन्य रहे एव उसके कार्य और नीति की, समाचार-पत्रो तथा सार्व-जनिक सभाओं द्वारा, सदा रचनात्मक आलोचना करती रहे। जनता का यह भी धर्म है कि वह अपनी सरकार की उन बातो के लिए प्रशसा करे जिनके द्वारा उसका हित-साधन होता है। कुछ लोग सरकार की निरन्तर आलोचना करते रहना अपना पेशा-सा बना लेते है। यह बात उचित नहीं। आलोचना केवल ऐसी होनी चाहिए कि जिससे शासक अपनी त्रुटियो का अनुभव कर सके तथा अपनी नीति मे सुधार कर सके। संक्षेप में आलोचना सुधारात्मक होनी चाहिए, विनाशात्मक नही।

तानाशाही और जनमत

तानाशाही शासन की वह व्यवस्था है जो जनमत के आधार पर सगठित नही की जाती, वरन् जनमत को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न करती है। इस सरकार मे जनमत का शासन पर नियन्त्रण नहीं रहता, वरन् शासन का जनमत पर अधिकार रहता है। सरकार जनमत के समस्त यन्त्रो, समाचार-पत्रों, रेडियो, मंच, शिक्षा संस्थाओ, राजनीतिक साहित्य, सिनेमा, चित्रकला इत्यादि सभी प्रचार-साधनो को अपने नियत्रण में रखती है। तानाशाही शासन में भाषण की स्वतंत्रता नही होती; जनता अपने इच्छानुसार संस्थाओं का संगठन भी नहीं कर सकती। देश के सारे प्रचार-साधन सरकार की नीति का ही ढोल पीटते है। विचारों की स्वतन्त्रता के लिए तानाशाही में कोई स्थान नहीं होता। यहाँ तक कि देश की शिक्षा-प्रणाली तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी सरकार की नीति का ही समर्थन करने के लिए किया जाता है।

तानाशाही शासन में केवल एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व रह सकता है, अर्थात् तानाशाही दल का। शेष सब ही भंग कर दिये जाते है और उनके नेताओं को जेल की चहारदीवारियों में बन्द कर दिया जाता है। शासन के प्रति किये गये प्रत्येक विरोध का सख्ती के साथ दमन किया जाता है, और आलोचकों को बन्दीगृहों में डाल-कर या फाँसी के तख्तों पर चढ़ाकर उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जाता है। तानाशाही शासन में पुलिस, सेना और गुप्तचरों का शासन रहता है। जनता इतनी डरी हुई रहती है कि वह निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट नही कर सकती।

तानाशाही के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शासन में किसी भी तरह का वास्तविक जनमत कायम नही रह सकता। जो कुछ भी जनमत होता है उसका उद्देश्य केवल तानाशाह की नीति का समर्थन करना होता है। इस प्रकार के शासन की सफलता केवल क्षणिक होती है। जनता को ज्यों ही अवसर मिलता है वह अपने शासको के विरुद्ध उठ खड़ी होती है और इस प्रकार के शासन का अन्त करके प्रजातन्त्रीय शासन की व्यवस्था कायम कर देती है।

जनमत क्या है ? (What is Public Opinion)

साधारण बोलचाल में जनमत का आशय लोग उस मत से समझते हैं जो लोग सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कायम कर लेते है। परन्तु वास्तव में सार्वजनिक महत्त्व के किसी भी प्रश्न पर सब लोगों की कभी भी एक राय नही होती है। भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करते हैं। इनमें से कुछ अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उस प्रश्न को देखते हैं, कुछ अपनी जाति और कुछ अपने धर्म-हित के दृष्टिकोण से। अधिकतर मनुष्य सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी कोई भी राय नही रखते। वह किसी समाचार-पत्र या पुस्तक को पढ़कर, या किसी नेता का भाषण सुनकर या किसी सभा-सोसायटी में बड़े व्यक्तियों की बातें सुनकर, अपनी राय कायम कर लेते हैं; और फिर बाहर जनता में उस मत का इस प्रकार प्रचार करते हैं जैसे वह उनकी अपनी स्वतन्त्र राय हो। इस प्रकार हमें मालूम हुआ कि प्रत्येक समाज में केवल थोड़े से ही ऐसे लोग होते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचर करने की क्षमता रखते हैं, और ये मनुष्य भी निष्पक्ष भाव से इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते; वे भी अपना मत स्थिर करने में स्वार्थी भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जनमत के प्रवाह का किस प्रकार पता लगाया जाय। ब्राइस (Bryce) का कथन है कि अखबारों से जनमत का ठीक पता नहीं लगाया जा सकता क्योंकि केवल अखबारों की ग्राहकसंख्या से इस बात का पता नहीं चलता कि इस मत को कितने लोग स्वीकार करते हैं।

सार्वजनिक सभाओं से भी इस बात का ठीक अनुमान नहीं लगता, क्योंकि घनी आबादी वाले केन्द्रों में किसी भी उत्साही युवक द्वारा, एक बड़ा हाल श्रोताओं से ठसा-ठस भरा जा सकता है। धारा सभा से त्यागपत्र देने, या मर जाने से रिक्त स्थान के लिए जो उप-चुनाव होता है, उससे भी जनमत का ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि किसी प्रतिनिधि का चुनाव उस प्रचार-कला और उन सिद्धहस्त प्रचारकों की कुशलता पर निर्भर रहता है जो झूठ बोलकर या निर्वाचकों को धोखा देकर अपनी ओर मिला सकते हैं।

जनमत का वास्तविक ज्ञान उन निष्पक्ष लोगों की राय से हो सकता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर स्वार्थरहित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण राय कायम करने की क्षमता रखते हों। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जैसे पहले भी बताया जा चुका है, जनमत सब लोगों की राय को नहीं कहते, क्योंकि सार्वजनिक प्रश्नों पर कभी एक राय हो ही नही सकती। बहुसंख्यक लोगों की राय को जनमत नही कहा जा सकता क्योकि ऐसी राय झूठे और सिद्धान्तहीन प्रचार के द्वारा, देश के भोले-भाले लोगों को गुमराह करके, कायम की जा सकती है। जनमत एक ऐसी राय भी नहीं कही जा सकती जिसमें अल्पसंख्यक जातियों के हितों का कोई ध्यान न रखा गया हो। ऐसी राय बहुमत की राय कही जा सकती है किन्तु जनमत नहीं। किसी जाति या समुदाय या समाज या सगठन या गांव या शहर के नागरिकों की राय भी जनमत नही कहला सकती। ऐसी राय को हम जातिमत अथवा दलमत या संगठनमत या ग्रामीणमत या एक नगर विशेष का मत कह सकते है। इसलिए हमारी राय में सच्चा **जनमत वह है जो विवेक और स्वार्थरहित बुद्धि के असाधारण स्तम्भ पर अवलम्बित हो, और जो किसी जाति या वर्ग-विशेष के हित का नहीं, वरन सारे समाज के हित पर लक्ष्य रखता हो।** इसका अर्थ यह हुआ कि किसी देश के केवल ऐसे ही लोग जनमत का प्रतिनिधित्व कर सकते है जो विचारशील हो, जिनमें विवेक-बुद्धि हो तथा जो उचित और अनुचित में भेद कर सकते हों। यदि ऐसे लोगो मे मतभेद हो, तो इन व्यक्तियो के बहुमत द्वारा अनुमोदित राय सच्चा जनमत कहलायेगी। किसी देश में ऐसे व्यक्तियो की सख्या एक से लेकर करोड़ो तक हो सकती है। ऐसी संख्या जितनी भी अधिक होगी जनमत उतना ही सुदृढ, शक्तिशाली तथा प्रभावोत्पादक होगा।

सही जनमत बनाने के रास्ते में रुकावटें (Hindrances to the creation of sound public opinion)

देश मे विचारशील और निष्पक्ष व्यक्तियों को पैदा करने के लिए एक विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है। इस वातावरण को उत्पन्न करने में समाचार-पत्र और पुस्तकें, राजनीतिक दल, सभा और व्याख्यान तथा शिक्षा एव धर्म-सम्बन्धी सस्थाएँ एक महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। यदि यह सारे प्रचार के साधन नैतिकता के आधार पर अपने कर्तव्य का पालन करें तो एक सही जनमत का आसानी से निर्माण हो सकता है। परन्तु यदि यही प्रचार के साधन नैतिकता का आश्रय छोड़कर असत्य और धूर्तता की शरण लें, तो देश मे एक सच्चा जनमत कभी भी नहीं बन सकता। वर्तमान राज्यों मे निम्नलिखित रुकावटें एक सच्चे जनमत के निर्माण में आमतौर पर पेश की जाती हैं:—

(१) समाचारपत्रों द्वारा झूठा, शरारत भरा और भ्रमोत्पादक प्रचार।

(२) सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति स्वार्थपूर्ण, साम्प्रदायिक एवं संकुचित दृष्टिकोण।

(३) नागरिक जागरूकता का अभाव एवं सामाजिक प्रश्नों के प्रति घोर उदासीनता।

(४) देश के राजनीतिक दलों का आर्थिक व राजनीतिक सिद्धान्तों को छोड़कर साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर निर्माण।

(५) राजनीतिक साहित्य व शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के द्वारा रूढ़िवादी व संकुचित विचारों का प्रचार।

सही जनमत बनाने तथा उसके व्यक्त करने की शर्तें (Conditions for the expression and formulation of sound public opinion)

एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि हम उन तमाम बाधाओं को दूर कर सकें, जिनका वर्णन अभी हमने ऊपर किया है। इसके साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित अवस्थाएँ उत्पन्न की जायें :—

(१) **शिक्षित जनता**—अशिक्षा सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। उचित और पर्याप्त शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नही कर सकता। वह शिक्षा के बिना एक कोरा भावुक प्राणी रहता है और तर्क से काम नहीं ले सकता।

(२) **आदर्श शिक्षा-प्रणाली**—किसी देश की शिक्षा-प्रणाली वहाँ की जनता की बुद्धि और स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के चरित्र का उत्थान तथा जनता में राजनीतिक चैतन्यता उत्पन्न करना होना चाहिए। शिक्षा प्रदान करने में छोटे और बड़े, ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं होना चाहिए। सबको समान रूप से आदर्श नागरिकता की शिक्षा मिलनी चाहिए।

(३) **निर्धनता का अंत**—एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि देश से गरीबी और भुखमरी का भी अन्त होना चाहिए। एक ऐसे देश में जहाँ की अधिकांश जनता को एक वक्त पेटभर खाना भी न मिलता हो, जहाँ के मजदूरों को पेट के धन्धे से ही फुर्सत न मिलती हो, जहाँ के किसानों को सदा ही अकाल का भय बना रहता हो, यह कैसे आशा की जा सकती है कि जनता सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकेगी। ऐसे देश में केवल धनिक लोगों का मत ही जनमत कहलायेगा।

(४) **साम्प्रदायिकता का अन्त**—सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित तथा साम्प्रदायिक भावों को निकालकर बाहर कर दे। जनता में राष्ट्रीय प्रश्नों पर एक विशाल दृष्टिकोण से अध्ययन करने की क्षमता

(५) निष्पक्ष समाचार-पत्र—असत्य, झूठ तथा भ्रमपूर्ण खबरों को उड़ानेवाले अखबार और धार्मिक, जातीय एवं साम्प्रदायिक भावनाओं से ओत-प्रोत सम्पादक एक सच्चे जनमत के निर्माण में भारी बाधक सिद्ध होते है। प्रजातन्त्रीय देशों में ऐसा भी देखने में आता है कि बड़े-बड़े पूँजीपति बहुत से अखबारो को खरीद कर अपने अधीन कर लेते है, और फिर उनके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठा प्रचार करते है। एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए ऐसे पत्रो का भी बन्द होना आवश्यक है।

(६) राजनीतिक दलों का आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों पर निर्माण—प्रजातन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों का निर्माण धार्मिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तो पर कदापि नही होना चाहिए, वरन् शुद्ध आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों पर होना चाहिए।

जनमत बनाने व व्यक्त करने के साधन (Agencies for the formulation and expression of public opinion)

हम ऊपर बता चुके है कि लोकमत स्वयं नही बनता बल्कि बनाया जाता है। उसके बनाने और व्यक्त करने के आठ मुख्य साधन है :—

(१) समाचार-पत्र, (२) सार्वजनिक सभा, (३) राजनीतिक दल, (४) राजनीतिक साहित्य, (५) रेडियो और सिनेमा, (६) शिक्षा सम्बन्धी सस्थाएँ, (७) चुनाव और (८) धार्मिक सगठन।

(१) समाचार-पत्र—समाचार-पत्रों का लोकमत पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर जनता समाचार-पत्रों को पढ़कर ही सार्वजनिक घटनाओ के विषय में अपनी राय निर्धारित करती है। समाचार-पत्र आधुनिक सभ्यता के प्रधान अग है। वे प्रजातन्त्र के धर्मग्रन्थ है। स्वतंत्र, निष्पक्ष और न्यायपूर्ण पत्र किसी भी देश के लिए गौरव का कारण हो सकते है। वे हमे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से अवगत कराते है, तथा शासन को जनमत के साथ संपर्क बनाये रखने मे सहायता प्रदान करते है। वे शासन के कार्यो की स्वतन्त्रता और निर्भीकतापूर्वक आलोचना करके जनमत का नेतृत्व करते है। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि समाचार-पत्रों को शासन अथवा जाति अथवा धर्म या संप्रदाय एवं पूँजीपतियों के अधिकार से मुक्त रखा जाय। ऐसे स्वतंत्र पत्र ही जनता का नेतृत्व कर सकते है।

जहाँ अच्छे समाचार-पत्र जनता की सेवा करते है वहाँ सिद्धान्तहीन पत्र अपने झूठे, शरारत भरे तथा घृणास्पद प्रचार से जनमत को दूषित भी कर देते है। आज हमारे देश में कितने ही ऐसे पत्र है जो हिसा का प्रचार तथा उत्तेजनात्मक समाचारों का प्रकाशन ही अपना पेशा बनाये हुए है। ऐसे पत्र आधुनिक सभ्यता के लिए एक भारी कलंक हैं।

प्रत्येक देश की सरकार का कर्तव्य है कि वह ऐसे पत्रों के प्रकाशन को रोके और जनता को उनके कुप्रभाव से बचाये।

(२) **सार्वजनिक सभाएँ**—सभा और व्याख्यानों द्वारा देश के बड़े-बड़े नेता जनता के सामने जाकर सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना मत प्रकट करते हैं। इन सभाओं से सार्वजनिक कष्टों को व्यक्त करने तथा शासन के कार्यों की आलोचना का भी अवसर मिलता है। इस प्रकार लोकमत के शिक्षण तथा निर्माण में सभाएँ भी महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं।

(३) **राजनीतिक दल**—राजनीतिक दल भी सार्वजनिक प्रचार के सबल साधन हैं। राजनीतिक दलों के नेता अपनी वक्तृत्व शक्ति द्वारा लोगों को प्रभावित करते हैं और जनता में राजनीतिक शिक्षा फैलाते हैं। इस प्रकार वह भी एक प्रगतिशील जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

(४) **राजनीतिक साहित्य**—यह भी ज्ञान-प्रचार और मत प्रकट करने का एक शक्तिशाली साधन है। राजनीतिक पुस्तकें विद्वान् लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं और स्वभावतः वे महान् आदर की दृष्टि से पढ़ी जाती हैं।

(५) **रेडियो और सिनेमा**—रेडियो और सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ प्रचार का कार्य भी करते हैं। इनके द्वारा अंकित प्रभाव बहुत स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त रेडियो और सिनेमा का प्रचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। परन्तु समाचार-पत्रों के समान, खराब हाथों में पड़ने से, प्रचार के यह साधन भी जनता की अत्यन्त हानि कर सकते हैं।

(६) **शिक्षा संबंधी संस्थाएँ**—यह संस्थाएँ देश के भावी नागरिक तैयार करती हैं, तथा राष्ट्र के चरित्र-निर्माण में सहायता पहुँचाती हैं। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्कूल में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकें ऐसी होनी चाहिएँ जो विद्यार्थियों के हृदय पर सच्ची नागरिकता की छाप लगा सकें।

(७) **चुनाव**—देश के जनमत को प्रकट करने का चुनाव भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इनके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को जनता के सामने अपने कार्यक्रम और नीति को रखने का मौका मिलता है। जनता जिस दल के कार्यक्रम को पसन्द करती है, उसी के पक्ष में राय देती है।

(८) **धार्मिक संगठन**—धर्म ने सदा से ही मनुष्यों के मस्तिष्क पर एक जबर्दस्त प्रभाव डाला है। पिछड़े हुए देशों में इसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। धार्मिक संस्थाएँ इसलिए जनमत के निर्माण में समुचित भाग लेती हैं। परन्तु एक सही जनमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि धार्मिक संस्थाएँ अपने संकुचित दृष्टिकोण से ही अपने राजनीतिक प्रश्नों पर विचार न करें बल्कि एक उदार दृष्टिकोण से इन प्रश्नों

का अध्ययन करें। आजकल विशेषकर हमारे देश में, कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ 'धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर भोले-भाले भावुक लोगों को पथभ्रष्ट कर देती हैं।

उपरोक्त वर्णित सभी संस्थाएँ जनमत के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं, इसलिए इनका किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न किया जाना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. आधुनिक राज्य में जनमत कौन-सा फर्ज अदा करता है ? जनमत किस तरह निर्मित और व्यक्त किया जाता है ? सच्चे जनमत के निर्माण और प्रकट करने में जो बातें बाधक-स्वरूप सिद्ध होती हैं उन पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३६)

२. प्रजातांत्रिक राज्यों में जनमत जिन मार्गों द्वारा प्रकट किया जाता है, उनका वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४०)

३. सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में स्वतन्त्र समाचार-पत्र और ईमानदार समाचार-पत्र की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

४. जनमत के अर्थ पर प्रकाश डालिये। किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं ?

५. जनमत क्या है ? किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत के निर्माण करने में कौन-सी शर्तें जरूरी हैं ? ये शर्तें भारतवर्ष में कहाँ तक पाई जाती हैं। (यू० पी०, १९४५)

६. जनमत से आप क्या समझते हैं ? यह किस प्रकार व्यक्त किया जाता है ? (यू० पी०, १९४८, १९५१)

अध्याय २०

स्थानीय स्वराज्य (Local Self-Government)

स्थानीय स्वराज्य का अर्थ म्युनिसिपल बोर्ड, ग्राम पंचायत, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट इत्यादि उन संस्थाओं से होता है जिन्हें स्थानीय मामलों में, जैसे—शिक्षा का प्रबन्ध, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, पानी, रोशनी, सड़कों तथा नाली इत्यादि के इन्तजाम का स्वराज्य प्राप्त होता है। स्वायत्त शासन की संस्थाएँ संसार के प्रायः सभी देशों में पाई जाती हैं। उपयोगिता, कुशलता, मितव्ययिता तथा नागरिक शिक्षा के दृष्टिकोण से इन संस्थाओं का अस्तित्व अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता है।

स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता (Utility of Local Self-Government)

सुविधाजनक प्रबन्ध—आधुनिक राज्यों का आकार इतना बड़ा होता है कि देश की केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारें अपने हाथों में केवल अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, शान्ति और व्यवस्था, मुद्रा, बैंक तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रबन्ध ही ले सकती हैं। हमारे घरों के सामनेवाली सड़कों व नालियों की सफाई, रोशनी व पानी का प्रबन्ध, अस्पताल और दवाखानों का इन्तजाम, जच्चाघर और दाइयों का प्रबन्ध, टूटे-फूटे मकानों और सड़कों के गड्ढों की मरम्मत, पार्क और खेलने इत्यादि के स्थानों का प्रबन्ध—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके संबंध में दूर पर रहनेवाली केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारें ठीक जानकारी नहीं रख सकतीं और इस कारण इन विषयों का प्रबन्ध सफलतापूर्वक तथा हर स्थान की सुविधा के अनुसार नहीं कर सकतीं। इन विषयों का उचित प्रबन्ध तो किसी विशेष स्थान के निवासी ही कर सकते हैं। क्योंकि इनके कुप्रबन्ध से उन्हें ही दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इसलिए स्वायत्त शासन की सर्वप्रथम उपयोगिता जनता की प्रतिदिन की आवश्यकताओं का उत्तम और सुविधाजनक प्रबन्ध है।

(२) **शासन की कुशलता** (Efficiency)—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं से केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों का कार्य-भार बहुत कम हो जाता है। छोटे-छोटे मामलों की देखभाल से छुटकारा पाकर, वे अपनी शक्तियाँ देश के बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने में लगा सकती हैं। इस कार्य-विभाजन से सरकार के काम की कुशलता (Efficiency) बढ़ जाती है और वह तेजी से अपने काम को संपन्न कर सकती है।

(३) **मितव्ययिता**—स्थानीय संस्थाओं से सरकार के खर्चे में भी भारी बचत हो जाती है। यदि ये संस्थाएँ न होतीं तो सरकार को अनेक कर्मचारियों को नियुक्त

करके स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करना पड़ता। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य बिना किसी वेतन के ही काम करते हैं और इस प्रकार देश की सरकार के खर्चे में काफी बचत हो जाती है।

(४) व्यावसायिक कार्य (Municipal Trading)—स्थानीय संस्थाओं को अनेक व्यावसायिक कार्य भी करने पड़ते हैं जिनसे न केवल जनता को ही सुविधा होती है, वरन् उनको स्वयं भारी आर्थिक लाभ पहुँचता है, और अनेक लोगों को बड़े-बड़े व्यवसायों के प्रबन्ध का अनुभव हो जाता है। प्रायः प्रत्येक देश में ही बड़े नगरों की म्युनिसिपैलिटियाँ, पानी (Water Works), बिजली, ट्रैम्वे, बस, ट्राली, बाजारों तथा कुछ कारखानों का प्रबन्ध करती है। यह व्यवसाय ऐसे है कि इन्हें केन्द्रीय सरकार ठीक प्रकार से नहीं चला सकती, और जनता की सुविधा तथा बचत के दृष्टिकोण से इनको व्यक्तिगत हाथ में भी नहीं दिया जा सकता। इससे प्रायः प्रत्येक देश मे ही ऐसे व्यवसायों का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं को ही दिया जाता है। पाश्चात्य देशों मे तो स्थानीय संस्थाएँ और भी अनेक व्यावसायिक कार्य करती है। वह अपनी ओर से सिनेमाओं, थियेटरो, नृत्य-घर, स्केटिंग हाल (Skating Hall), स्नानगृह, गोशाला, भोजनालय, रेस्टोरेंट तथा होटलों इत्यादि का भी प्रबन्ध करती है। इससे जनता को हर प्रकार की सुविधाएँ बहुत सस्ती कीमत में ही मिल जाती है।

(५) नागरिक शिक्षा (Civil Education)—स्थानीय स्वराज्य की सस्थाओं के पक्ष में सबसे जबर्दस्त दलील उनका शिक्षा सम्बन्धी मूल्य है। यह नागरिक तथा राजनीतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है। यह नागरिकों में उन गुणो तथा भावो का संचालन करती है जिन पर किसी देश की प्रजातन्त्रीय सस्थाओं की सफलता निर्भर है। यह जनता में प्रेम, सहयोग, सेवा तथा बलिदान के भाव और सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति रुचि पैदा करती है।

स्थानीय प्रश्न अर्थात् सफाई का प्रबन्ध, यातायात के साधनों की सुविधा, बगीचों तथा आमोद-प्रमोद के स्थानों का प्रबन्ध इत्यादि—यह कुछ ऐसे विषय है जिनमें किसी स्थान की जनता, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मुकाबले में, अधिक दिलचस्पी लेती है, क्योंकि इनके सुप्रबन्ध पर ही उसके दैनिक जीवन का सुख तथा अच्छाई निर्भर करती है। स्थानीय संस्थाओं के द्वारा मनुष्यों की एक बड़ी संख्या राजनीतिक अनुभव और शिक्षा प्राप्त कर लेती है। ऐसे मनुष्य आगे चलकर देश के राजनीतिक क्षेत्र में अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। इसलिए कुछ विद्वानों का कथन है कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ राष्ट्रीय स्वराज्य की जड़ है।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय संस्थाएँ सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इन संस्थाओं के द्वारा जनता में सार्वजनिक कार्यो के प्रति रुचि पैदा होती है। वे अपने

स्वार्थ की बातों से परे हटकर समान हित के कार्यों में भाग लेने लगते हैं। वे न्यायप्रिय, नम्र तथा शीलवान् नागरिक बन जाते हैं। वे आपस में मिल-जुलकर विचार करने लगते हैं।

डी टॉकविले (De Tocquville) का कहना है कि नागरिकों की स्थानीय संस्थाओं में स्वतन्त्र राष्ट्रो की शक्ति सन्निहित रहती है। जिस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार स्वाधीनता के लिए नागरिकों की सभाएँ आवश्यक हैं। एक स्वतन्त्र राष्ट्र सरकार का संगठन तो कर सकता है परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना, उसमें एक सुसंस्कृत राष्ट्र की भावनाएँ जागृत नही हो सकतीं।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

कुछ देशों में, विशेषकर भारतवर्ष मे, ऐसा देखने में आया है, कि स्थानीय संस्थाएँ अधिक सफल नही हो पाई हैं। जनता की सेवा करने के बजाय वे उनके दुःख तथा मुसीबत का कारण बन गई हैं। इन संस्थाओ ने दलबन्दी, बेईमानी, जालसाजी, रिश्वत तथा झूठ का प्रचार किया है। इन संस्थाओ के सदस्य जनता के हित की इतनी परवाह नहीं करते जितनी कि अपनी स्वार्थसिद्धि की। इन्ही सब दोषो के कारण कुछ लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया है कि 'स्थानीय संस्थाएँ कुप्रबन्ध तथा सार्वजनिक हित के कामो की अवहेलना ' का दूसरा नाम है।

स्वायत्त शासन की इन संस्थाओं की असफलता के अनेक कारण हैं, और इनमें सबसे बड़ा यह है कि कुछ देशों में इनकी सफलता के लिए आवश्यक वातावरण वर्तमान नहीं है। स्थानीय स्वराज्य की सस्थाएँ केवल उस दशा में सफल हो सकती हैं जब कि उन मनुष्यों में, जिनके ऊपर वे शासन करती हैं, निम्नलिखित गुण विद्यमान हों :—

(१) जनता में नैतिक सदाचार, ईमानदारी तथा सहयोग का उच्च आदर्श और सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना—यदि किसी देश की जनता समान हित के कार्यो के प्रति उदासीन रहती है, या सुस्त, स्वार्थी और अभिमानी है तो स्वायत्त शासन की संस्थाएँ सफल नही हो सकती। जनता को चाहिए कि वह सहयोग और समझौते का मूल्य तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर एक दूसरे के विचारों की इज्जत करना सीखे। उनमें अपने पड़ोसियों के हित की उन्नति के लिए सेवा की भावना विद्यमान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, उनमें उच्च व्यापक हित साधन के लिए छोटे स्वार्थो का बलिदान करने की क्षमता होनी चाहिए। स्थानीय हितों की प्राप्ति के लिए उसे राष्ट्रीय हितों के प्रति अन्धा न बन जाना चाहिए। उसमें सार्वजनिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की योग्यता होनी चाहिए।

(२) स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि देश

में एक तीव्र, चैतन्य और सजीव जनमत का निर्माण होना चाहिए। जनता को चाहिए कि वह म्युनिसिपल संस्थाओं के कामों की सदा रचनात्मक आलोचना करती रहे, जिससे कि यह लोग सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति उदासीन न हो जायँ। इसी उद्देश्य से प्रत्येक देश में मतदाताओं की सभाएँ (Voter's Council) बननी चाहिए जिससे कि वह स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार कर सकें और म्यूनिसिपल सदस्यों को जनता के न का बोध करा सकें।

(३) चुनाव के समय **निर्वाचकों को चाहिए कि वह अपने प्रतिनिधियों को मत देते समय उनकी योग्यता और सार्वजनिक सेवा का ध्यान रक्खें** और जातीय या पारिवारिक बन्धनों की भावनाओं से प्रभावित न हों।

(४) केन्द्रीय सरकार को भी चाहिए कि वह **स्थानीय संस्थाओं के काम में अधिक हस्तक्षेप न करे**। हस्तक्षेप केवल उसी दशा में किया जाना चाहिए जब कि स्थानीय संस्था का प्रबन्ध इतना दूषित हो जाय कि उसको सुधारने का और कोई उपाय शेष न रह जाय।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ

किसी भी देश की स्थानीय स्वराज्य की सस्थाओ का अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह संस्थाएँ कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक गाँव में ग्राम पंचायतें, छोटे-छोटे कस्बों मे टाउन एरिया कमेटी (Town Area Committee), शहरों में म्युनिसिपल बोर्ड तथा बड़े नगरों में कारपोरेशन और इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट (Corporation and Improvement Trust) होते हैं। अलग-अलग देशों में इन संस्थाओं को भिन्न-भिन्न नामों मे पुकारा जाता है। जैसे इंगलैंड में ग्राम पंचायतों को पैरिश (Parish), म्यूनिसिपल कमेटियों को काउन्टी (County) तथा कारपोरेशन्स को बारोज (Boroughs) कहा जाता है, इत्यादि।

अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त

प्रश्न उठता है कि केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार तथा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं में किस प्रकार अधिकार विभाजन किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि जो विषय राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं, जैसे —फौज का प्रबन्ध, रक्षा, हवाई सेना तथा समुद्री बेड़े का प्रबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध, आयात-निर्यात कर, आयकर, मुद्रा तथा केन्द्रीय बैंक का प्रबन्ध इत्यादि, यह केन्द्रीय सरकार के हाथ में सौंपे जाते हैं। जो विषय प्रांतीय महत्त्व के होते हैं, जैसे—शान्ति और व्यवस्था, कृषि तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति, शिक्षा का प्रबन्ध, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा जेलों इत्यादि का इन्तजाम, ये प्रांतीय सरकारों को दिये जाते हैं। ऐसे विषय, जैसे—सड़कों, गलियों तथा नालियों की सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध,

संक्रामक बीमारियों की रोकथाम, अस्पताल और औषधालयों का प्रबन्ध, आने-जाने के साधन इत्यादि, स्थानीय संस्थाओं को दिये जाते है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अधिकार-विभाजन का कोई फौलादी नियम नही होता। सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे से बिल्कुल अलग रहकर काम नही करते, वरन् एक दूसरे के सहयोग से काम करते है। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य का प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है। यदि किसी स्थानीय संस्था द्वारा शिक्षा अथवा स्वास्थ्य का ठीक प्रबन्ध नहीं किया जाता तो इससे केवल एक स्थान में रहनेवाले लोगो को ही असुविधा नहीं होती वरन् इसका प्रभाव देश के दूसरे भागों तथा नागरिकों पर भी पडता है। इसलिए प्राय: प्रत्येक देश में ही केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय तथा स्थानीय सस्थाओं के कामों की देखभाल करना अपना कर्तव्य समझती है।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के मुख्य कार्य

स्थानीय संस्थाओं के कार्यो का हम निम्न प्रकार से विवेचन कर सकते है :—

(१) **स्वास्थ्य-रक्षा**—स्वास्थ्य-रक्षा दो प्रकार से होती है। एक, रोग की उत्पत्ति के कारणो को दूर करके और दूसरे, रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा द्वारा। रोग फैलने के भी अनेक कारण होते है। जैसे—गन्दगी, अस्वच्छ जल का पीना, वायु में रोगों के कीटाणुओं की उपस्थिति आदि। स्थानीय संस्थाएँ रोगों के इन कारणों को दूर करने के लिए अनेक उपाय करती है, जैसे—सड़कों और नालियों की सफाई, शुद्ध जल का प्रबन्ध, चेचक, प्लेग, हैजे आदि के टीको का इन्तजाम, सड़ी-गली खाने की चीजों की बिक्री को रोकना, गन्दे मकानों व मुहल्लों को तोड़कर उनके स्थान पर खुले और स्वास्थ्यप्रद मकान बनवाना आदि। रोगियों की चिकित्सा के लिए अस्पताल और औषधालय स्थापित करती है।

(२) **प्रारम्भिक शिक्षा**—बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा के लिए पाठशालाएँ, नरसरी स्कूल, मौन्टसरी स्कूल इत्यादि खोलना, स्थानीय सस्थाओं का मुख्य कार्य है। पुस्तकालय और वाचनालय इत्यादि का प्रबन्ध भी इन्ही संस्थाओं द्वारा किया जाता है, जिससे कि वयस्क जनता की शिक्षा में सहायता मिल सके।

(३) **यातायात के साधनों का प्रबन्ध**—स्थानीय संस्थाएँ लोगों को इधर-उधर लाने ले जाने के लिए सड़कों, ट्राम्वे, बस तथा स्थानीय रेलों आदि का प्रबन्ध भी करती है।

(४) **आकस्मिक आपत्तियों से रक्षा**—अँधेरी सड़कों पर गिर पड़ना, दो मोटरों में टक्कर हो जाना तथा आग इत्यादि का लगना आकस्मिक दुर्घटनाएँ है। जनता की इनसे रक्षा के लिए स्थानीय संस्थाएँ रोशनी का प्रबन्ध करती है, गाड़ियों आदि के चलने के

लिए नियम बनाती हैं, मेलों और तमाशों में विशेष प्रबन्ध करती हैं और आग बुझाने वाले इंजिन आदि का इन्तजाम करती हैं।

(५) **जनता के मनोरंजन का प्रबन्ध**—जनता के मनोरंजन के लिए, प्रगतिशील संस्थाएं, सिनेमा, थियेटर, दगल, सर्कस, पार्कों, स्नानगृहों, तैरने के तालाबों इत्यादि का इन्तजाम करती हैं।

(६) **म्युनिसिपल व्यापार**—जैसे पहले भी बतलाया जा चुका है, स्थानीय सस्थाएँ जनता की सुविधा और स्वयं के आर्थिक लाभ के लिए बिजली और पानी, किराये की ट्राम व मोटरों, बाग व नरसरी तथा कुछ छोटे-छोटे कारखानों के चलाने का प्रबन्ध करती है। हमारे देश मे स्थानीय संस्थाएं, दूसरे देशों की अपेक्षा कम व्यापारिक काम करती हैं। दूसरे देशों में तो बैंकों का प्रबन्ध, टाकी, सिनेमा, नृत्य-घर, होटलों, रेस्टूरेन्ट, डेयरी तथा इसी प्रकार के दूसरे कामों को भी स्थानीय संस्थाएँ ही करती है।

(७) **विविध कार्य**—इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाएँ और भी दूसरे काम करती हैं। जैसे बड़े नगरों को उन्नत और सुन्दर बनाना (Town Planning) आदि। गॉव की संस्थाएँ जैसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, इलाका बोर्ड, ग्राम पचायतें इत्यादि कुछ और काम भी करती हैं, जैसे—वृक्षों का लगाना, नदियों के घाटों पर नाव आदि का प्रबन्ध करना, मवेशीखानों और पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, कृषि की उन्नति और अकालों की रोक-थाम का प्रबन्ध करना इत्यादि। ग्राम पंचायतें इनके अतिरिक्त गॉव के लोगों के बीच मुकदमों का फैसला भी करती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के साधन

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) हाउस टैक्स, (२) बाहर से आनेवाले माल पर चुङ्गी, (३) हैसियत और संपत्ति टैक्स, (४) म्युनिसिपल व्यापार से आमदनी (नल, बिजली, ट्राम, मोटर, बस इत्यादि से), (५), स्कूलों की फीस, सफाई कर (Conservatory Tax) इत्यादि, (६) म्युनिसिपल संपत्ति, बाजारों, दूकानों इत्यादि का किराया, (७) लायसेन्स की फीस (किराये पर चलनेवाली सवारियों आदि से) और (८) प्रान्तीय सरकार से आर्थिक सहायता।

भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ

हमारे देश में स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ अधिक उन्नत अवस्था में नहीं हैं। अधिकांश म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड दलबन्दियों के शिकार हैं। आये दिन चेयरमैनों पर अविश्वास के प्रस्ताव पास होते रहते हैं, जिसमें वे निश्चिन्त होकर प्रबन्ध-कार्य में भाग नहीं ले पाते। स्थानीय संस्थाओं का दूसरा काम म्युनिसिपल कर्मचारियों का रखना और

निकालना रह गया है। म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के सदस्य अपने मित्रों और संबंधियों को नौकरियों पर लगाने का प्रयत्न करते हैं और इस बात का ध्यान नहीं करते कि इससे स्थानीय संस्थाओं की कार्यकुशलता (Efficiency) पर क्या असर पड़ता है। भारतवर्ष के प्रत्येक बोर्ड में ही प्रायः आये दिन गबन के केस होते रहते हैं। पृथक् निर्वाचन-पद्धति के कारण हिन्दू और मुसलमान सदस्यों में मतभेद बना रहता है। इन सब दोषों का मूल कारण यह है कि चुनाव के समय निर्वाचक योग्य व्यक्तियों को राय नहीं देते वरन् अपने रिश्तेदारों तथा सम्बन्धियों को ही मत देते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि हमारे देश की जनता अशिक्षित है।

इन सब बुराइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि जनता को शिक्षित बनाया जाय तथा उनमें नागरिक शिक्षा का प्रचार किया जाय। वयस्क मताधिकार (Adult franchise) की प्रथा का होना भी नितान्त आवश्यक है। इन संस्थाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता के प्रत्येक सदस्य को उनमें भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. 'स्वायत्त शासन स्वराज्य की जड़ है' इस कथन पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३३)

२. म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को कौन-कौन से काम सौंपने चाहिएँ, और क्यों ? (यू० पी०, १९३३)

३. शासन के कार्य और अधिकार किन सिद्धान्तों के आधार पर, केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय शासन और स्थानीय संस्थाओं में विभाजित किये जाते हैं ? (यू० पी०, १९३४)

४. आप केन्द्रीय शासन और स्थानीय शासन को किस तरह अलग करेंगे ? किन कारणों से आप स्वायत्त शासन के अस्तित्व को उचित समझते हैं ? (यू० पी०, १९३५)

५. आधुनिक राज्य में स्वायत्त शासन के महत्त्व को भारतवर्ष का खास हवाला देते हुए समझाइये। (यू० पी०, १९३७, १९४६, १९४९)

६. म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के काम में सार्वजनिक दिलचस्पी पैदा करने के लिए आप कौन-से उपाय ठीक समझते हैं और क्यों ?

७. किसी भी शासन को अच्छा होने के लिए उसे अपने प्रजा के मत की कदर करनी चाहिए, इसकी प्राप्ति का सबसे अच्छा तरीका स्वायत्त शासन को यथासम्भव प्रोत्साहित करना है। इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४०)

८. केन्द्रीय शासन को स्थानीय संस्थाओं पर कहाँ तक और क्यों नियंत्रण रखना चाहिए ? (यू० पी०, १९४५)

९. यदि तुम्हें किसी क्रिकेट मैच के लिए कैप्टेन का तथा म्युनिसिपल कमेटी के लिए प्रधान का चुनाव करना पड़े तो तुम कौन से गुण इन व्यक्तियों में तलाश करोगे ? (यू० पी०, १९४९)

१०. यदि आप किसी नगरपालिका के सदस्य चुन लिये जायँ तो किन सुधारों की सूचना देना चाहेंगे ? (यू० पी०, १९५०)

११. स्थानीय संस्थाओं के क्या-क्या मुख्य कर्तव्य हैं ? समझाकर लिखिए। (यू० पी०, १९५२)

१२. ग्राम पंचायतों पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५२)

१३. 'स्थानीय संस्थाएँ लोकतन्त्र की नींव हैं, इस कथन का विवेचन करो और भारत में स्वस्थ नागरिक जीवन की पुष्टि के लिए स्थानीय संस्थाओं की महत्ता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करो। (यू० पी०, १९५३)

अध्याय २१

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

आधुनिक समय में राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए राष्ट्रीयता का सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया है। कुछ लोग तो इस सिद्धान्त को एक ईश्वरीय सिद्धान्त मानते हैं और इस धारणा के अन्तर्गत राष्ट्र को ईश्वर का प्रतीक समझते हैं। मनुष्य के रूप में उनके पास जितनी भी मूल्यवान् वस्तुएँ हैं उन्हें वे उसकी वेदी पर बलिदान करने के लिए सदा प्रस्तुत रहने हैं। संसार के दूसरे धर्मों की भाँति राष्ट्रीयता का नियम भी उनके लिए एक धर्म ही बन गया है। इस धर्म के अपने देवता, धर्मशास्त्र, ग्रन्थ, पुजारी, भक्त और सूरमा हैं। राष्ट्र के प्रति यह अनन्य भक्ति इन लोगों में इस कारण से प्रस्फुटित हुई कि वह मनुष्य देह के समान राष्ट्र को भी एक जीवित सङ्गठन मानते हैं। इस संगठन की अपनी अलग इच्छा, अलग उद्देश्य और लक्ष्य होते हैं। इन उद्देश्यों और इच्छाओं में राष्ट्र के सभी सदस्यों की इच्छाएँ और उद्देश्य सन्निहित रहते हैं। इस प्रकार का राष्ट्र ईश्वर के समान महान् और गुप्त अस्तित्व रखता है। यह अस्तित्व अनुभव किया जा सकता है, परन्तु देखा नहीं जा सकता। राष्ट्र उस बड़ी माता के समान है जिसकी सन्तान वे सब मनुष्य हैं जो भूतकाल में उत्पन्न हुए थे, जो आज मौजूद हैं, और जो भविष्य में उत्पन्न होंगे। मनुष्य जन्म लेते हैं और फिर काल के गाल में समा जाते हैं, परन्तु राष्ट्र सदा जीवित रहता है। मनुष्य का जितना कुछ भी प्रभुत्व है वह उसे राष्ट्र की ही देन है। उसका अपना न तो जीवन है और न संस्कृति ही। वह राष्ट्र के हित और गौरव का केवल एक साधन मात्र है।

राष्ट्र के इस आध्यात्मिक और आंगिक सिद्धान्त में विश्वास के कारण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का विकास हुआ है।

राष्ट्रीयता की परिभाषा

राष्ट्रीयता की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन कार्य है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस धारणा की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है। प्रजातंत्रवाद के प्रसिद्ध लेखक लार्ड ब्राइस का कहना है "राष्ट्रीयता की परिभाषा नहीं हो सकती। इसे तो केवल देखकर पहचाना जा सकता है।" एटैनबर (A Taynber) का कहना है, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगों को किसी एक राजनैतिक संगठन में रहने के लिए बाध्य करती है।" डाक्टर हौलेन्ड भी राष्ट्रीयता को एक आध्यात्मिक भावना बतलाता है। मैक-

आइवर (Mac Iver) भी इसी प्रकार कुछ मनुष्यों के एक साथ रहने की क्रियात्मक भावना को राष्ट्रीयता का नाम देता है।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं से राष्ट्रीयता का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। वास्तव में राष्ट्रीयता कोई स्थूल वस्तु नही जिसे देखा या महसूस किया जा सके। राष्ट्रीयता एक आत्मिक भावना का नाम है। इस भावना के अंतर्गत बहुत से मनुष्य एक साथ रहने और समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करने की इच्छा प्रकट करते है, यह मनुष्य आपस में तो एक होते है, परन्तु दूसरों से विभिन्नता का भाव रखते है।

राष्ट्रीयता की भावना का जन्म यूरोप में उन्नीसवी सदी में हुआ। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने संसार में इस भावना का बीज बोया। इससे पूर्व किसी देश की जनता अपनी भक्ति का प्रदर्शन राजा के प्रति करती थी, देश के प्रति नही; फ्रास की क्रान्ति ने संसार को समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव का पाठ पढ़ाया। प्रत्येक देश अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने की दुहाई देने लगा, जनता के हृदय मे राज्य-भक्ति के स्थान पर देश-भक्ति का संचार हुआ। प्रत्येक ऐसे मनुष्यो का समूह, जिसकी अपनी एक पृथक् सस्कृति, सभ्यता, भाषा, धर्म तथा इतिहास था, अपने लिए एक अलग स्वतंत्र राष्ट्र स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। सन् १९१८ के महायुद्ध ने इस भावना को और अधिक प्रोत्साहन दिया और अमरीका के प्रेसिडेण्ट विलसन ने राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धांत को मानकर इस भावना को एक अत्यन्त आध्यात्मिक स्वरूप दे दिया।

इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीयता का भाव अभी केवल एक ही सदी पुराना है। इस भावना ने संसार की सेवा भी की है और हानि भी। राष्ट्रीयता का भाव मनुष्य में एक नया गौरव, एक नया आत्म-सम्मान और एक उत्कट देश-भक्ति का संचार करता है। यह मनुष्य के अपने परिवार अथवा जाति अथवा धर्म अथवा प्रान्त के प्रति प्रेम को एक विस्तृत स्वरूप देकर देश के प्रति प्रेम में बदल देता है। परन्तु इस सीमा पर पहुँचने के पश्चात् प्रेम का बहता हुआ स्रोत एकदम रुक जाता है और सारे मनुष्य-समाज के प्रति प्रेम में परिवर्तित होने के बजाय, देश की संकुचित सीमा में उलझकर रह जाता है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता का भाव एक निकृष्ट भाव है और इसके उग्र रूप से संसार में कलह, लड़ाई-झगड़े, खून और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है।

राष्ट्र क्या है? राष्ट्रीयता की भावना किसी एक राष्ट्र के नागरिको में ही विद्यमान रहती है। इसलिए राष्ट्रीयता का और अधिक विश्लेषण करने से पहले आवश्यक है कि हम राष्ट्र का सही अर्थ समझने का प्रयत्न करे।

राष्ट्रीयता एक भावना का नाम है, और राष्ट्र एक ऐसे मनुष्यों के समूह का जो एक साथ रहते हो अथवा एक साथ रहने की उत्कट इच्छा रखते हों, और जो अपने आप तो माला के दानों के समान एक होकर रहते हों, परन्तु दूसरे मनुष्यों के समुदाय से बिल्कुल

भिन्नता का अनुभव करते हों। राष्ट्र में इस प्रकार निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है—

(१) राष्ट्र एक मनुष्यों का समुदाय है। किसी राष्ट्र में मनुष्यों की कितनी संख्या होनी चाहिये—यह कहना कठिन है। राष्ट्र छोटे भी हो सकते हैं और बहुत बड़े भी; परन्तु किसी एक नगर या गाँव में बसनेवाले लोगों को हम राष्ट्र नहीं कह सकते। राष्ट्र कहलाने के लिए जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि वह बहुत से देहातों और नगरों में फैली हुई हो।

(२) मनुष्यों के प्रत्येक समुदाय को हम राष्ट्र नही कह सकते, केवल वह समुदाय राष्ट्र कहे जा सकते हैं जिनमें समान संस्कृति, समान इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धार्मिक भावना, समान उद्देश्य अथवा जीवन के प्रति समान दृष्टिकोण के कारण एकता और आत्मीयता का भाव हो। इस प्रकार राष्ट्र की सबसे बड़ी पहचान एकता की भावना है। मनुष्यों का केवल वही समुदाय राष्ट्र कहा जा सकता है जो एकता के सूत्र में बँधा हो और जो संसार के दूसरे इसी प्रकार के समुदायों से अपनी अलग संस्कृति, भाषा, आचार-व्यवहार, भौगोलिक स्थिति इत्यादि के कारण विभिन्नता का भाव रखता हो।

मनुष्यों के किसी समुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने के अनेक साधन हो सकते हैं। समान संस्कृति, समान जातीय भावना, समान इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धर्म, समान देश, किसी शत्रु के विरुद्ध लड़ने की समान भावना, समान रीति-रिवाज, राजनीतिक एकता इत्यादि—ये ऐसी धारणाएँ हैं जो मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता का भाव निर्माण कर देती हैं। इस प्रकार की भावना एक दिन में पैदा नहीं होती, न जाने कितने वर्षों तथा कितनी सदियों के बाद, एक ही साथ रहनेवाले मनुष्यों में, इस प्रकार की भावना का जन्म होता है, परन्तु एक बार ऐसी भावना का निर्माण होने के बाद, यह आसानी से नहीं मिटती। इसके पश्चात् यदि एक ही राष्ट्र के लोग अलग-अलग दूर-दूर देशों में भी रहने लगें, तो भी उनमें से राष्ट्रीयता के भाव का लोप नहीं होता, दूर देशों में रहते हुए भी वह अपने आपको अपने पूर्वजों के देश का ही नागरिक मानते हैं और उस देश के लोगों से मिलने पर एक अनोखी आत्मीयता का अनुभव करते हैं।

ऊपर दिये हुए राष्ट्रीयता की भावना के कारणों में से किसी एक या अधिक कारणों के अभाव से राष्ट्रीयता का लोप नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ यदि एक ही देश के रहनेवाले लोग भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास रखते हैं, या अलग-अलग भाषा बोलते हैं, या अलग-अलग रीति-रिवाजों का पालन करते हैं तो इतना सब कुछ होने पर भी, यदि उनमें किन्हीं दूसरे कारणों से एकता की भावना बनी रहती है तो वह एक राष्ट्र बन सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि एकता उत्पन्न करने के जितने भी अधिक कारण किसी मनुष्यों के समुदाय में विद्यमान

होंगे, राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही अधिक उत्कट तथा तीव्र होगी। अब हम राष्ट्रीयता के इन विभिन्न अङ्गो का विस्तार से विवेचन करेंगे।

राष्ट्रीय भावना के विभिन्न अङ्ग

(१) धर्म—मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता तथा आत्मीयता का भाव निर्माण करने में धर्म एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। एक ही धर्म में विश्वास करनेवाले लोग एक-से ही देवी-देवता, रीति-रिवाज, उत्सव तथा खान-पान और रहन-सहन के तरीकों में विश्वास करने लग जाते हैं और इससे उनकी एक अलग संस्कृति बन जाती है। ऐसे लोगों में एकता तथा आत्मीयता का भाव आसानी से निर्माण हो जाता है, परन्तु वर्तमान समाज में प्रगतिशील मनुष्य, धर्म को एक व्यक्तिगत भावना समझते हैं, वह विभिन्न धर्मों के मनुष्यों के साथ रहकर भी एकता का अनुभव करते हैं। इंग्लैंड में प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दो अलग धर्मो में विश्वास करनेवाले लोग, एक साथ ही मिलकर रहते हैं और अपने-आपको एक राष्ट्र का सदस्य समझते हैं परन्तु प्रतिक्रियावादी अथवा पिछड़े हुए लोगों में धर्मों की विभिन्नता, अभी भी राष्ट्रीयता के निर्माण में बाधक सिद्ध होती है। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान, सदियों तक एक साथ रहते हुए और एक-सी ही वेश-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज, इत्यादि होने पर भी साम्प्रदायिकता के प्रचार के कारण, अपने आपको दो पृथक् राष्ट्रों का सदस्य मानने लगे। आयरलैंड में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक धर्मावलम्बियों में मतभेद के कारण देश के दो टुकड़े हो गए। हालैण्ड और बेल्जियम देशों का संगठन भी धार्मिक विभिन्नता के कारण टूट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण में एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(२) जाति (Race)—राष्ट्र के निर्माण में जातीय समानता भी समुचित स्थान रखती है। एक ही जाति के लोगों का समान सामाजिक संगठन होता है, उनके रीति-रिवाज भी एक-से ही होते हैं। इससे राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहायता मिलती है। परन्तु आधुनिक काल में, संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो, जहाँ एक ही जाति के लोग रहते हों। इंगलैंड में नार्मन, सैक्सन, लैटिन वंशों के लोग रहते हैं; अमरीका में यूरोप की सारी ही जातियों के मनुष्य रहते हैं। संसार में विशुद्ध जातियाँ बहुत कम पाई गई हैं, इस कारण वर्तमान काल में, जातीय समानता, राष्ट्रीय भावना के निर्माण में एक आवश्यक अङ्ग नहीं मानी जाती।

(३) भाषा—राष्ट्रीयता के निर्माण में भाषा की समानता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। समान भाषा राष्ट्रीय साहित्य को जन्म देकर, राष्ट्रीयता के भाव को अधिक चैतन्य और उत्कट बनाती है। इससे राष्ट्र के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो जाता है। परन्तु भाषा की समानता भी राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य नहीं।

कैनेडा और स्विटजरलैंड में लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। इन भाषाओं के अलग-अलग साहित्य हैं, फिर भी इन देशों के लोग अपने आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते हैं। भाषा की असमानता से भी दो भिन्न-भिन्न मनुष्यों के समुदाय एक राष्ट्र बन जाते हैं। इंगलैंड और अमरीका निवासी एक ही भाषा बोलते हैं, परन्तु फिर भी वह दो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभाजित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की समानता से राष्ट्रीय भावना के निर्माण में तो सहायता मिलती है, परन्तु यह तत्व भी किसी राष्ट्र की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य नहीं।

(४) समान देश—राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिए मनुष्यों का किसी एक निश्चित देश में रहना भी आवश्यक है। बहुत काल तक एक ही वातावरण, जलवायु तथा देश में रहने के कारण व्यक्तियों के समुदाय में आत्मीयता तथा एकता का भाव निर्माण हो जाता है, यही भाव राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। परन्तु एक बार राष्ट्रीयता का भाव निर्माण होने के पश्चात् फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी मनुष्य एक ही स्थान या प्रदेश में रहें। आजकल जर्मन, अमरीकन तथा अंग्रेज दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों में रहते हैं, परन्तु फिर भी वह अपने आपको अपनी पितृ-भूमि का ही राष्ट्रीय मानते हैं।

(५) समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ—समान रूप से प्राप्त की गई विजय और यातनाओं की स्मृतियों से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण हो जाता है। इस कार्य में राष्ट्रीय कविताएँ, गाथाएँ तथा गीत बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। गुलाम देश में विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लड़े गये स्वतन्त्रता-संग्राम से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। यूरोप में कितने ही राष्ट्रों का जन्म इसी भावना के कारण हुआ है।

(६) समान शासन—एक ही शासन के अधीन बहुत काल तक रहने से भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि होती है। कैनेडा में फ्रांसीसी और अँगरेज सदियों से एक ही सरकार के अधीन रहते हैं, इससे आज वह अपने आपको फ्रांसीसी और अँगरेज समझने के बजाय कैनेडा-निवासी ही समझते हैं।

(७) समान उद्देश्य—एक साथ रहनेवाले जनसमूह में, जीवन के प्रति समान दृष्टिकोण तथा समान उद्देश्य के भाव निर्माण हो जाते हैं। उसके रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीके तथा स्वभाव भी एक-से ही बन जाते हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे स्थानीय मतभेद दूर हो जाते हैं और जन-समाज एक राष्ट्रीय समूह बन जाता है।

(८) युद्ध—एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है, "राष्ट्रों का जन्म युद्ध-क्षेत्र में होता है।" इस कहावत का आशय है कि किसी समान शत्रु के विरुद्ध बहुत समय तक युद्ध लड़ने से पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग का भाव निर्माण हो जाता है, युद्धक्षेत्र में उत्पन्न हुई मित्रता बहुत काल तक नहीं मिटती। यही मित्रता राष्ट्रीयता का सार है।

इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य में एक नही, वरन् अनेक तत्व काम में आते है। ऊपर दिये गये तत्व राष्ट्रीय भावना के निर्माण मे सहायक सिद्ध होते हैं। इन तत्वों में से जितने भी अधिक तत्व किसी जनसमुदाय के जीवन में विद्यमान होंगे, राष्ट्र उतना ही अधिक शक्तिशाली तथा सगठित होगा। परन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि ऊपर दिये हुए तत्वों मे से कोई भी तत्व राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिए अनिवार्य नही। यह तत्व राष्ट्र निर्माण के कार्य मे सहायता देते है, परन्तु उसके अङ्गभूत नही। उपरोक्त तत्वो मे से किन्ही एक से अधिक तत्वों का होना राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए आवश्यक है परन्तु किसी विशेष तत्व का होना नही।

भारतवर्ष एक राष्ट्र है अथवा नहीं

भारतवर्ष में अनेक जातियो, धर्मो तथा सम्प्रदायो के लोग निवास करते है, देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाएँ बोली जाती है। जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाजों तथा खान-पान के तरीकों मे भारी मतभेद है। प्रश्न उठता है कि इन सब चीजों के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है अथवा नही ?

भारत की जनता के दो मुख्य अग हिन्दू और मुसलमान है। भाषा, देश, खान-पान तथा रीति-रिवाजों मे थोड़ी-बहुत भिन्नता होने पर भी देश के सभी हिन्दुओं में एक आत्मीयता का भाव विद्यमान है। सभी हिन्दू राम और कृष्ण की पूजा करते है, गङ्गा और यमुना को पवित्र मानते है, गऊ को माता का प्रतीक समझते है, वेद और धर्मशास्त्रो के प्रति श्रद्धा रखते है तथा एक-से ही उत्सव तथा त्यौहारों मे भाग लेते है।

भारत के मुसलमान इसके विपरीत, हिन्दुओ से अलग रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, उत्सव और मेले, धर्मशास्त्र और ग्रथ, शादी और विवाह, जन्म और मरण के नियमो मे विश्वास करते है। इसलिए कुछ राजनीतिक लेखको का कहना है कि भारत मे हिन्दू और मुसलमान पृथक्-पृथक् राष्ट्र है। इसी भावना के अन्तर्गत भारत के कुछ प्रमुख मुसलमान नेताओ ने पाकिस्तान की माँग की। उन्होने कहा, 'भारत मे मुसलमान एक अल्पसख्यक वर्ग नही वरन् एक राष्ट्र है,' इसीलिए उन्हे 'आत्मनिर्णय' का अधिकार मिलना चाहिए अर्थात् उनका अपना एक अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हमारे देश के कुछ हिन्दू नेता विदेशियों तथा मुसलमानों के फैलाये हुए, इस सांप्रदायिकता के जाल मे फँस गये और उन्होंने भी हिन्दुओ को मुसलमानों से एक पृथक् राष्ट्र कहना आरम्भ कर दिया। देश में साप्रदायिकता की आग बढ़ती गई, हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े आये दिन होने लगे और अन्त मे अग्रेजों की कूटनीतिज्ञता के कारण भारत के दो टुकड़े कर दिये गये। हमारे देश मे हिन्दू और मुसलमानों को दो पृथक् राष्ट्रों का सदस्य स्वीकार कर लिया गया।

परन्तु आज जब हमारे देश के दो टुकड़े हो गये और एक स्वतन्त्र पाकिस्तान का राज्य स्थापित हो गया, तो देश के समझदार हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने सोचना आरम्भ किया कि क्या वास्तव में भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं ? मुसलमानों के नेता जो कल तक, पाकिस्तान राज्य की स्थापना से पहिले, अपने आपको हिन्दुओं से भिन्न एक अलग राष्ट्र का सदस्य कहने में गर्व करते थे आज वही नेता हिन्दुस्तान के प्रति अपनी वफादारी का हलफ उठाते हैं और कहते है कि वह भारतवासी पहले है और मुसलमान बाद में। 'उनके साथ उनके नेताओं ने धोखा किया', 'हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई है', 'वह एक राष्ट्र के नागरिक है', इत्यादि। क्या ही अच्छा होता, यदि यही जागृति मुसलमान जनता में कुछ समय पहले आ जाती।

वास्तव मे पाकिस्तान की माँग, मुसलमानों के धनी तथा मध्य वर्ग के लोगों की माँग थी। देश की गरीब तथा त्रस्त मुसलिम जनता से इस माँग का कोई संबंध नही था; परन्तु सांप्रदायिकता के विषैले तथा निरन्तर प्रचार ने इन लोगों की मति भी बदल दी और वह भी पाकिस्तान की माँग में अपना सहयोग देने लगे। परन्तु जब पाकिस्तान बन गया और गरीब मुसलमान जनता दोनों राज्यों में सांप्रदायिक नेताओं के कोप का भाजन बनी, तो इन लोगों की आँखे खुली और वह कहने लगे कि 'मुसलमान हिन्दुओं से अलग राष्ट्र नहीं, वह तो उनके भाई है।'

भारत के ९५ प्रतिशत मुसलमान हिन्दू धर्म को ही छोड़कर मुसलमान बने है। उनके पूर्वज, किसी न किसी समय, हिन्दू धर्म मे ही विश्वास करते थे। आज भी गाँवों में रहनेवाले मुसलमान हिन्दुओ जैसा ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वह एक-सी ही पोशाक पहनते है, एक-से ही मकानो में रहते है तथा एक-से ही रीति-रिवाजों में विश्वास करते है। धर्म की विभिन्नता से मनुष्य की राष्ट्रीयता नही बदल जाती। धर्म एक व्यक्तिगत भावना का नाम है, राष्ट्र एक सामूहिक शक्ति का। ससार के प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न धर्मो के लोग रहते है, परन्तु फिर भी वह अपने आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते है। भारतवर्ष में भी हिन्दू और मुसलमान एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। विदेशी शासकों की फूट डालने की नीति तथा कुछ सांप्रदायिक नेताओ के विष-वमन के कारण, हिन्दू और मुसलमानों मे झगड़े होने लगे थे, परन्तु स्वतन्त्र भारत में यह सब नहीं होता। आजाद हिन्दुस्तान का प्रत्येक नागरिक अपने आपको पहले भारतवासी तथा उसके पश्चात् हिन्दू और मुसलमान समझता है। इसलिए यह कहना ठीक होगा कि भारत एक राष्ट्र है और उस देश में रहनेवाली समस्त जनता सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बँधी हुई है।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का महत्व (The case for national self-determination)

प्रश्न उठता है कि क्या संसार में प्रत्येक राष्ट्र को अपना एक अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अधिकार होना चाहिये ? इस मत के पक्ष तथा विरोध में अनेक राज-

नीतिक लेखकों ने अपनी सम्मति प्रकट की है। कुछ लेखकों का कहना है कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त संसार में लड़ाई, झगड़े, कलह और द्वेष की भावना का बीज बोता है। इससे संसार विभिन्न क्षेत्रों मे बँट जाता है, मनुष्य अपने राष्ट्र के हित के सामने मानव समाज के सुख और वैभव का ध्यान छोड़ देता है, मानव के विशुद्ध प्रेम का बहता हुआ स्रोत राष्ट्र की सीमाओ से टकरा कर मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम मे परिवर्तित नही होता।

परन्तु इस मत के विरुद्ध कुछ दूसरे लेखकों का कहना है कि एक राष्ट्र एक राज्य का सिद्धान्त ही संसार में राजनीतिक सङ्गठन का एक आदर्श सिद्धान्त है। इस मत के पक्ष में यह लेखक अनेक दलीलें देते हैं :—

(१) उदाहरणार्थ इन लेखकों का कहना है कि संसार में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग संस्कृति, अलग साहित्य, अलग भाषा तथा अलग जनश्रुतियाँ होती हैं। कोई राष्ट्र इन हितों की केवल उसी समय रक्षा कर सकता है जब वह स्वतन्त्र हो अर्थात् जब उसे सार्वभौमिकता प्राप्त हो। दूसरा राष्ट्र, चाहे वह कितना ही अधिक सभ्य अथवा ईमानदार क्यों न हो, इन हितों की रक्षा नहीं कर सकता।

(२) दूसरे, इन लेखकों का कहना है कि 'स्वाधीनता' तथा 'समानता' के सिद्धांत संसार में केवल उसी समय कायम रह सकते हैं जब प्रत्येक राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो। जब तक दुनिया में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन गुलाम बना कर रखता है, तब तक न दुनिया में शांति नहीं रह सकती है, न लड़ाई और झगड़े दूर हो सकते हैं, और न समानता का सिद्धान्त ही कायम रह सकता है। व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र भी अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार एक गुलाम मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार कोई राष्ट्र भी अपनी स्वाधीनता खोकर किसी भी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक उन्नति नहीं कर सकता।

(३) राष्ट्रवादी, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत के पक्ष में तीसरी दलील यह पेश करते हैं कि संसार की संस्कृति, सभ्यता तथा शांति केवल उसी समय कायम रह सकती है जब दुनिया का प्रत्येक देश आजाद हो। दुनिया में कुछ देशों की दूसरे देशों पर शासन करने की भावना से ही युद्ध होते हैं, जिससे संसार की उन्नति और संस्कृति खतरे में पड़ जाती है। शासित देश भी अपने विजेता देश के विरुद्ध सदा विद्रोह करने के लिए उद्यत रहता है, और इससे भी संसार की शांति को सदा खतरा बना रहता है।

(४) चौथी बात यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेष प्रतिभा द्वारा संसार की सभ्यता और संस्कृति को बहुत सहायता पहुँचा सकता है। पराधीनता से देश की उन्नति रुक जाती है और फलस्वरूप संसार के ज्ञान तथा संस्कृति के भंडार को भारी क्षति पहुँचती है।

(५) अंत में राष्ट्रवादियों का कहना है कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र में नागरिकों की अपने देश तथा राज्य के प्रति भक्ति की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं, वह समझने लगते हैं कि शासन उनका है और वह शासन के हैं। दूसरे शब्दों में, वह शासन को अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक हितों का संरक्षक समझने लगते हैं, और इस कारण वह अपने देश पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

राष्ट्रवादियों द्वारा व्यक्त किये गये उपरोक्त मत की उन लोगों ने कड़ी आलोचना की है जो अपने आपको ससारवाद (Cosmopolitanism) के सिद्धान्त का प्रवर्द्धक कहते हैं। इन लोगो का कथन है कि आधुनिक काल मे मनुष्य का सामाजिक जीवन केवल राष्ट्र की चहारदीवारियों तक ही सीमित नही रहता। वह आज विश्वव्यापी बन गया है। संसार में आवागमन के साधनों तथा विज्ञान की उन्नति के कारण एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है जिसके कारण आज सारा विश्व एक ही समाज बन गया है। आज रेलगाड़ी, स्टीमशिप तथा वायुयानों ने उन बाधाओं का नाश कर दिया है जिनके कारण पुराने जमाने में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अलग जीवन व्यतीत करता था। टेलीफोन और वायरलेस के आविष्कार ने समूचे संसार को एक ही संगठन में आबद्ध कर दिया है। एक कपास की खेती करनेवाले भारतीय किसान को, आज मैनचेस्टर या ओसाका के कपड़े के कारखानों की हड़ताल से धक्का पहुँचता है क्योंकि इससे उसकी कपास की माँग कम हो जाती है और फलस्वरूप कीमत घट जाती है। इसलिए आधुनिक काल में समूचे संसार का आर्थिक हित एक दूसरे से सन्निहित है। इसके अतिरिक्त आज एक भारतवासी टाल्सटाय की किताबें, शेक्सपियर के नाटक और मोपासाँ की कहानियाँ पढ़ता है। वह अमेरिका, इंगलैंड अथवा अन्य देशों के सिनेमा चित्रों को देखता है। यही हाल अन्यान्य देशों के निवासियों का भी है। इस प्रकार आज सारे संसार की संस्कृति और सभ्यता समान हो गई है। संसार की इन भौगोलिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकता के कारणों से ससारवादियों का कहना है कि दुनिया में एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय शासन का संगठन होना चाहिए जो संसार के सब देशों के हित की रक्षा कर सके। इस समय प्रत्येक मनुष्य को अपने आपको संसार का नागरिक समझना चाहिए, राष्ट्र का नही। उसके इस दृष्टिकोण पर ही आज संसार की शान्ति और उन्नति निर्भर है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवन में राष्ट्रीयवादिता का सिद्धान्त दूसरे कारणों से भी अवांछनीय है। राष्ट्रीय भावना, संकीर्णता, छल और द्वेष पर अवलम्बित है। राष्ट्रवादी दूसरों से पृथक् रहने और भिन्नता रखने में गर्व करता है। वह समझता है कि वह दूसरों से ऊँचा, अधिक सभ्य, अधिक क्रियाशील, अधिक नैतिक और रक्त मे अधिक विशुद्ध है। इस भावना से मानव-समाज अनेक परस्पर-विरोधी और कटु विभागों में विभाजित

जाता है। मनुष्यों का दृष्टिकोण और सहानुभूति संकीर्ण हो जाती है। उनमें मिथ्या गौरव और अहंकार के भाव आ जाते हैं। लोगों का राजनैतिक दृष्टिकोण संकुचित बन जाता है और राजनीतिक पृथक्त्व की भावना बढ़ जाती है। इस भावना से राष्ट्रीय ईर्ष्या उत्पन्न होती है और अंत में संसार में युद्ध होने लगते हैं। इन सब कारणों से आधुनिक समाज में राष्ट्रीय भावना मनुष्य के स्थायी सुख की विरोधी है और इसलिए राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के स्थान पर संसार को अंतर्राष्ट्रीयता का सिद्धान्त ग्रहण करना चाहिए।

दोनों मतों का समन्वय

हमारे विचार से उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। यह ठीक है कि संसार में प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीनता का अधिकार प्राप्त होना चाहिए क्योंकि इसी अधिकार के अंतर्गत राष्ट्र अपनी सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति कर सकता है। परन्तु इस अधिकार का आशय यह कदापि नहीं कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के प्रति द्वेष रक्खे या उनकी स्वाधीनता का अपहरण करने का प्रयत्न करे। संसार के प्रत्येक राष्ट्र को उतना ही स्वतंत्र रहने का अधिकार है, जितना कि किसी दूसरे राष्ट्र को। इसलिए एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध लड़ाई नही वरन् उसकी स्वाधीनता तथा संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्रों को आपस में सांस्कृतिक तथा सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए तथा ऐसे कार्यों की पूर्ति के लिए, जिनमें सब राष्ट्रों का हित सन्निहित हो, एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करनी चाहिए, जिसके दुनिया के सारे राष्ट्र सदस्य हों तथा जिसके आदेशों का दुनिया के सभी देश पालन करें। ऐसे 'विश्व संघ' की स्थापना से ही संसार मे स्थायी शान्ति तथा पारस्परिक सहयोग की स्थापना हो सकती है।

योग्यता-प्रश्न

१. राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता क्या है ? क्या ये दोनों अविच्छिन्न पारस्परिक संबंध रखते हैं ? (यू० पी०, १९३०)

२. आप राष्ट्रीयता से क्या समझते हैं ? उसके मुख्य सिद्धान्त क्या हैं ? (यू० पी०, १९३३)

३. राष्ट्रीयता की खराबियाँ क्या हैं ? वे किस तरह समूल नष्ट की जा सकती हैं ?

४. सामाजिक व्याख्या के आधार पर राष्ट्रीयता के महत्त्व को समझाइये।

५. कौन से कारण हैं जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता को जन्म दिया है ? आप राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता मे किस तरह मेल को स्थापित करेंगे ?

६. राष्ट्रीयता क्या है ? क्या उसे विश्व-अशान्ति का कारण समझना उचित है ?

७. वह कौन से तत्व हैं जिनसे किसी राष्ट्र का संगठन होता है ? क्या भारत एक राष्ट्र कहा जा सकता है ? (यू० पी०, १९४७)

८. स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५२)

अध्याय २२

सामाजिक शक्तियाँ

पिछले अध्यायों में हम मनुष्य के नागरिक अधिकारों का विस्तार से वर्णन कर चुके हैं तथा यह भी बतला चुके हैं कि स्वतंत्रता तथा समानता अधिकारों की स्वीकृति के ही बदले हुए नाम हैं, और इसलिए किसी प्रकार उनसे अपना भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। अधिकारों की रक्षा में ही मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता और समानता सन्निहित है।

मनुष्य के अधिकारों की रक्षा एक विशेष प्रकार के संगठित और सुसंस्कृत समाज में ही हो सकती है। किसी जंगली और असभ्य समाज में मनुष्य के अधिकारों का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। संयम और नियंत्रण, कानून तथा राज्य के आदेशों के प्रति भक्ति, राष्ट्रीय भावना और समाज-सेवा की लगन अधिकारों की रक्षा की आवश्यक अवस्थाएँ हैं। इनके बिना समाज में अराजकता फैल जाती है और मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए मनमानी करने लगते हैं। ऐसे वातावरण में किसी भी मनुष्य के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते।

अधिकारों की रक्षा के लिए कर्तव्य-पालन की भावना भी अत्यन्त ही अनिवार्य है। यह भावना मनुष्य के नैतिक चरित्र तथा राज्य के नियमों के आधार पर अवलम्बित रहती है। राज्य के नियमों के द्वारा मनुष्य के कानूनी अधिकारों की रक्षा होती है, परन्तु मनुष्य के नैतिक तथा सामाजिक अधिकारों की रक्षा व्यक्तित्व तथा समाज की नैतिक शक्ति पर अवलम्बित रहती है। समाज की नैतिक शक्ति का प्रदर्शन शृंखलाओं, संस्थाओं, रीति-रिवाजों तथा संप्रदायों के द्वारा होता है। व्यक्ति की नैतिक भावना उसकी आध्यात्मिक तथा साधारण शिक्षा पर अवलंबित रहती है, और इसी प्रकार राज्य की शक्ति दंड तथा संपत्ति की व्यवस्था पर निर्भर रहती है। संपत्ति का अधिकार मनुष्य के चरित्र तथा सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में इसलिए हम शिक्षा, दण्ड तथा सम्पत्ति की संस्थाओं का विस्तार से वर्णन करेंगे और यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इन शक्तियों का मनुष्य के चरित्र तथा सामाजिक सङ्गठन के कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है।

§ १. शिक्षा

राष्ट्रीय सदाचार के निर्माण के लिए उचित प्रकार की शिक्षा की सदा आवश्यकता रहती है। हमारे घरेलू जीवन के आदर्श को ऊँचा उठाने के लिए, विचारशील और अधिक

चतुर नागरिकों की वृद्धि के लिए, बच्चों को सच्ची नागरिकता के वातावरण का क्रियात्मक ज्ञान प्रदान करने के लिए, परिवार और जाति के पारस्परिक सम्बन्ध को सुधारने के लिए, अपनी जन्मभूमि की समृद्धि और संसार की शान्ति के लिए , शिक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपयोगी और उच्च साधन नहीं हो सकता।

शिक्षा और प्रजातन्त्रवादी शासन

साधारण रूप में शिक्षा प्रजातन्त्र शासन की जड़ है। प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के ही हित में सरकार'। इस प्रकार की सरकार को ठीक ढग से चलाने के लिए लोगों में सदाचार के उच्च आदर्श, सार्वजनिक कार्य करने की उमंग और राजनीतिक ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम से ही हम अपने नागरिकों में इस प्रकार के गुणों का सृजन और उनका बौद्धिक तथा नैतिक विकास कर सकते हैं।

(१) शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है—यह मनुष्य के अन्दर उन गुणों का संचार करती है जिनके द्वारा मनुष्य एक अच्छा शासक और उपयोगी नागरिक बन सकता है। शिक्षा-संस्थाओं में ही नवयुवक विद्यार्थी अपने जीवन के निर्माण-काल में प्रेम, सेवा, बलिदान आदि गुणों और दूसरे सामाजिक तथ्यों का अर्जन कर सकते हैं और इनके द्वारा ही प्रजातन्त्रवादी शासन की नीव रखी जा सकती है।

(२) शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपनी भावनाओं को अनुचित मार्ग पर जाने से रोककर एक अनुशासित जीवन व्यतीत करना सीखता है—शिक्षा मनुष्य को वासनाओं की दासता से मुक्त कर एक प्रगतिशील जीवन व्यतीत करना सिखाती है। वह मनुष्य को देशभक्त, सहयोगी, त्यागी और बुद्धिमान् बनाती है। इस प्रकार वह मानव-समाज में उन गुणों का विकास करती है जिनकी किसी भी प्रजातन्त्र संगठन को सफल ढंग से चलाने के लिए आवश्यकता बनी रहती है।

(३) शिक्षा मनुष्य को जीवन के आर्थिक संग्राम के लिए भी तैयार करती है—वह मनुष्य को कार्य करने के लिए चतुर बनाती है। एक शिक्षित मनुष्य विविध कार्यों के जटिल स्वरूप को आसानी से समझ सकता है और इस प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए आसानी से सामग्री इकट्ठी कर सकता है।

(४) शिक्षा मनुष्य को अपने बचे हुए समय को अधिक उपयोगी कार्यों में व्यतीत करने के लिए अनेक अवसर प्रदान करती है—एक शिक्षित मनुष्य अपने को ऐसे किसी भी कार्य में लगा सकता है जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो। वह पुस्तकें और राजनीतिक साहित्य पढ़कर संसार की परिस्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह सभी युगों के महान् पुरुषों के विचारों, उत्तमोत्तम गम्भीर इच्छाओं और भावनाओं में प्रवेश कर सकता है।

(५) अन्त में, शिक्षा के द्वारा मनुष्य भौतिक और सामाजिक स्वास्थ्य के रहस्यों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है—यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य अपने और पड़ोसियों के जीवन को अधिक स्वस्थ और सुखी बना सकता है।

शिक्षा किस प्रकार की हो ?

(१) शिक्षा किस प्रकार की हो, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है। इसलिए शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिए जिससे मनुष्य समाज में रहकर एक प्रगतिशील जीवन व्यतीत कर सके। शिक्षा ऐसी नहीं होनी चाहिए जो मनुष्य को अपरिवर्तनशील बना दे। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का अर्थ हमारे मस्तिष्क को विशाल और हमारे हृदय को सर्वत्रगामी बनाना है। शिक्षा ऐसी न हो जो हमें केवल अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति बना दे या हमें पुराने रूढ़िवादी विचारों में ही विश्वास करना सिखाये। शिक्षा का असली उद्देश्य है मनुष्य के मस्तिष्क को हर प्रकार के विचारों को समझने के योग्य बनाना।

(२) दूसरी बात यह है कि शिक्षा को राजनीतिज्ञों के उन सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रचार का साधन कभी न बनाना चाहिए जिन पर वे स्वयं विश्वास करते हैं। देश के शासक प्रायः नवयुवकों के हृदय पर उन आदर्शों को अंकित करना चाहते हैं जो उनके शासन को बनाये रखने और उनके स्वार्थसाधन के लिए आवश्यक हो। उदाहरण के लिए, नाजी जर्मनी और इटली में विद्यार्थियों को व्यक्तियों की पूजा करना और कुछ ऐसे विशेष मतों पर विश्वास करना, जिन्हें उनके शासक मानते थे, सिखलाया जाता था। उन्हें साम्यवाद (Communism) से घृणा करना और साम्राज्यवाद से प्रेम करना सिखाया जाता था। सच्ची शिक्षा द्वारा नवयुवकों के हृदय में ऐसी संकुचित भावनाओं का संचार कदापि नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार केवल वही शिक्षा जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके और जिससे उपर्युक्त भय दूर किये जा सकें, प्रजातांत्रिक संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य

सच्ची शिक्षा का अर्थ पूर्णरूपेण सुखी जीवन व्यतीत करने की तैयारी करना है। इसलिए उसे निम्नलिखित परिणामों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए :—

(१) व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी (सर्वाङ्गीण) विकास—शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इस योग्य बनाना है कि वह जीवन के भौतिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में समाज के एक शिक्षित सदस्य के समान अपने कर्तव्य का सम्मानसहित पालन कर सके। यह सब तभी सम्भव है जब मनुष्य के व्यक्तित्व

की सर्वाङ्गीण उन्नति हो। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के अन्दर की सारी शक्तियों का विकास किया जाय। इस प्रकार शिक्षा केवल साहित्यिक ही नही वरन् शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक भी होनी चाहिए।

(२) **आलोचनात्मक दृष्टिकोण**—शिक्षा सम्बन्धी सस्थाओ को विद्यार्थियों पर, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कुछ विशेष विश्वास या सिद्धान्त नही लादने चाहिए अपितु उन्हें इनके दृष्टिकोण को आलोचनात्मक, निर्णय को स्वतन्त्र और स्वभाव को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) **आर्थिक संघर्ष की क्षमता**—शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिए धनोपार्जन के योग्य बना सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज के आर्थिक जीवन के अनुसार ही शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाय। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष में कृषि और छोटे-मोटे उद्योग-धंधो की विशेष प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि विद्यार्थी जिस समय स्कूल से अलग होगा उसी समय वह इन धन्धों में से किसी में भी अपने लिए उचित स्थान प्राप्त कर सकेगा।

(४) **श्रम का आदर**—इसके अतिरिक्त शिक्षा मे शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार के कार्य करने की विद्यार्थियों में इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षित विद्यार्थी हाथ से काम करने में कुछ आदर की कमी का अनुभव करते है। उदाहरणार्थ, वह खेती करना या कारीगरी अथवा मिस्त्री का काम करना पसंद नहीं करते। इस प्रकार विद्यार्थियो में हाथ मे काम करने के प्रति घृणा का उत्पन्न होना सर्वथा अनुचित है। विद्यार्थियो का प्रत्येक श्रम आदरणीय है। उन्हे Dignity of Labour का पाठ सीखना चाहिए।

(५) **मानव-व्यक्तित्व की महत्ता**—शिक्षा के द्वारा नवयुवको को मानव-व्यक्तित्व को आवश्यक महत्ता को भली भाँति समझाना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा जाति, वर्ण, राष्ट्र अथवा लिंग के भेद-भाव मिट जायँ और सारा समाज सहयोग की शृंखलाओं में जकड़ जाय।

(६) **ज्ञान की वृद्धि**—शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य सारे मानव-समाज के सचित ज्ञान को न केवल प्राप्त ही कर सके, वरन् खोज के द्वारा उसकी अधिकाधिक उन्नति भी कर सके।

प्रारम्भिक शिक्षा

राज्य का सबसे आवश्यक कर्तव्य यह है कि वह देश के सभी नागरिकों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करे। एक अच्छे सामाजिक जीवन के लिए पढ़ना, लिखना और गणित का साधारण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इनके बिना मनुष्य को अपने जीवन की

प्रत्येक अवस्था में अनन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसमें एक साधारण पत्र लिखने की भी योग्यता नहीं रहती। वह दूसरों की चालों और धूर्ततापूर्ण व्यवहार से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वह समाचार-पत्र नही पढ़ सकता और इस प्रकार संसार में जो कुछ हो रहा है उसका ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। प्रारम्भिक शिक्षा से मानव में सहानुभूति और ज्ञान की वृद्धि होती है, शिल्पकला का विकास होता है और सहयोग की भावना बढ़ती है। पाठशाला में बालक अपने स्वभाव को एक भिन्न वातावरण के अनुकूल बनाना सीखता है। वह पाठशाला के वातावरण में अधिक विनम्र और आज्ञाकारी बनना तथा खेल के मैदान में एक स्वस्थ जीवन व्यतीत करना सीखता है।

अध्यापकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड देकर उनके हृदय में भय उत्पन्न न करें। बच्चों को अपने स्कूल में किसी डर के कारण नहीं, वरन् प्रेम के कारण आना चाहिए। अध्यापकों को बच्चों से अधिक से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके उनके हृदय में ज्ञान के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। बच्चों पर किसी भी वस्तु के बलपूर्वक लादने से उनके सदाचार की उन्नति नहीं हो सकती। सच्ची शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य विद्यार्थियों को सदाचारी बनाना है।

मौलिक शिक्षा (Basic Education)

भारतवर्ष में शिक्षा सम्बन्धी 'वर्धा-योजना' ने, जिसे संसार के सर्वश्रेष्ठ नेता महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया, इस देश की समस्त आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। वह मौलिक शिक्षा चार सिद्धान्तों पर अवलम्बित है।

प्रथम सिद्धान्त यह है कि शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए और उसे सात वर्ष तक जारी रखना चाहिए। दूसरा यह कि शिक्षा विद्यार्थी पर बलपूर्वक नहीं लादनी चाहिए। शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि बच्चा काम करते-करते ही उसे ग्रहण कर ले और वह भी इसलिए कि उसकी ज्ञान प्राप्त करने की अपनी इच्छा हो। तीसरे, शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की मातृभाषा होनी चाहिए और चौथे, शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए।

वर्धा-योजना, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए सात वर्ष के समय की सीमा निर्धारित करती है। इस समय के अन्दर यह आशा की जाती है कि बच्चा गणित, विज्ञान, भाषा, साहित्य, साधारण ज्ञान, इतिहास, भूगोल, चित्रकारी आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह किसी एक ऐसे धन्धे मे भी दक्षता प्राप्त कर सकता है जो आगे चलकर उसे अपनी जीविका कमाने में सहायक बन सके।

इस शिक्षा के स्वावलम्बी सिद्धान्त की इसलिए आलोचना की गई है कि यह हमारी शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को कारखानों का और विद्यार्थियों को श्रमिकों का रूप दे देगी।

परन्तु महात्मा गांधी का कथन था कि भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में चालीस करोड़ जनता को शिक्षा देने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि बच्चे अपनी शिक्षा का व्यय स्वयं कमायें। आजकल मौलिक शिक्षा के स्वावलम्बी अंग पर अधिक जोर नही दिया जाता। सरकार ही इस शिक्षा का सारा व्यय उठाती है। इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें काम करने और काम के द्वारा ही विद्या प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया जाता है। वर्धा की शिक्षा सम्बन्धी योजना के सभापति डाक्टर जाकिर हुसेन थे। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"मौलिक शिक्षा बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देना चाहती है वह यह है कि विद्यार्थी नैतिक सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ जायँ। मौलिक स्कूलों को नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करना होगा। जिस स्कूल में कार्य द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध हो उसमें विद्यार्थियों में नैतिक शिक्षा और कला सम्बन्धी आदर के भाव स्वयं जागृत हो जाते हैं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा योग्य नागरिक, नैतिक दृष्टि से योग्य पुरुष बन सकते हैं।"

सार्वभौमिक शिक्षा का महत्व

सार्वभौमिक शिक्षा के द्वारा ही समान सांस्कृतिक आदर्श प्राप्त किये जा सकते हैं। इसी के द्वारा वह गलत धारणाएँ भी दूर की जा सकती हैं जिनमें से अधिकांश वर्तमान बुराइयों का कारण बनी हुई हैं। शिक्षा किसी भी श्रेणी या राष्ट्र की बपौती बनाकर नही रक्खी जा सकती, वह तो जनसाधारण के मानसिक विकास की कुंजी है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को पूर्ण अधिकार है कि वह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सके। वह राष्ट्रीय सदाचार के उत्थान की जड़ है। वह व्यक्ति के मस्तिष्क और बुद्धि के विकास की नीव है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, अमीर हो या गरीब, शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार है। शिक्षा सच्चे प्रजातंत्रात्मक शासन की जड़ है। शिक्षा के बिना मनुष्य पशु के समान है। शिक्षारहित देश संसार में असभ्य और जंगली राष्ट्र कहलाते हैं। सच्ची शिक्षा से मनुष्य का दंभ, आपसी झगड़े, विशेषाधिकारो की माँग, ऊँच-नीच की भावना और इसी प्रकार की दूसरी बुराइयाँ नष्ट हो जाती हैं जिनके कारण कोई भी समाज उन्नति नही कर सकता। सार्वभौमिक शिक्षा ही संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रो को एकता और प्रेम के सूत्र में बाँधकर, लड़ाई और अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष-भाव को सदा के लिए इस पृथ्वी से मिटा सकती है। परन्तु इन सब के लिए आवश्यक है कि शिक्षा सच्ची और आदर्श शिक्षा हो। क, ख, ग का ज्ञान और थोड़ा-बहुत गणित जान लेने से मनुष्य शिक्षित नही कहलाता। शिक्षा का अर्थ है मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास।

माध्यमिक और उच्च शिक्षा

प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् अधिक योग्य विद्यार्थियों को राज्य के द्वारा स्थापित हाईस्कूल और कालेजों में अपनी शिक्षा जारी रखनी चाहिए। इसी अवस्था

में विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से विचार करने और अधिक साहित्य पढ़ने के आदी बन सकते हैं। इसी अवस्था में परीक्षाएँ होनी चाहिएँ। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने का अवसर मिलना चाहिए।

डिग्री कालेजों या विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को विभिन्न विभागों में ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ देनी चाहिए। विभिन्न विश्वविद्यालयों को विभिन्न विषयों के पढ़ाने में विशेषता प्राप्त करनी चाहिए। उन्हें इस प्रकार के योग्य व्यक्ति तैयार करने चाहिए जो राज्य के प्रधान पदों पर कार्य करने की पर्याप्त योग्यता रखते हों। इसके अतिरिक्त उन्हें विशेष ज्ञान-प्राप्त व्यक्तियों को देश को समर्पित करके उसे अधिकाधिक समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। विश्वविद्यालयों को अपने ज्ञान की सीमा को अन्वेषण, निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन और विचार द्वारा अधिकाधिक विस्तृत बनाना चाहिए। उन्हें देश के ज्ञान के संरक्षक का कार्य करते हुए अपने देशवासियों को प्रकाश और ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

वैज्ञानिक शिक्षा (Technical Education)

राज्य का कार्य बच्चों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा देने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त उसे देश के नागरिकों को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा भी देनी चाहिए। साहित्यिक शिक्षा से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। वैज्ञानिकों के लिए भी यह बहुत आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि ऐसा होने पर वे वैज्ञानिक बातों को बहुत शीघ्र समझ सकते हैं। औद्योगिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य धनोपार्जन कर सकता है और राज्य का एक आवश्यक और सन्तुष्ट नागरिक बन सकता है।

भारतवर्ष की दशा—भारतवर्ष में २०० वर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् भी केवल दस प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षित हुए। एक विदेशी शासन की असफलता का इससे अधिक और क्या ज्वलन्त प्रमाण हो सकता है? यदि देश स्वतन्त्र हो तो शिक्षा के क्षेत्र में जनता चाहे कितनी ही पिछड़ी हुई क्यों न हो, सरकार ५ या १० वर्ष के काल ही में देश की काया-पलट कर सकती है। रूस और जापान का उदाहरण हमारे सामने है। सन् १९१८ तक रूस की ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित थी परन्तु इसके पश्चात् केवल १० वर्ष के अन्दर ही रूस की ९० प्रतिशत जनता शिक्षित हो गई। जापान में भी यही हुआ। आज भारत भी स्वतन्त्र है और वह कार्य, जिसे हमारे अंग्रेज शासक २०० वर्षों में न कर सके, हमारी राष्ट्रीय सरकार कुछ ही वर्षों में कर देना चाहती है। उत्तर प्रदेश और अन्य प्रान्तों की सरकारें इस ओर विशेष कदम उठा रही हैं। सन् १९५२ की जनगणना के अनुसार साक्षरों की संख्या १० प्रतिशत से बढ़कर २० प्रतिशत हो गई है। आशा है, अगले १०–१५ वर्षों में सारी जनता साक्षर हो जायगी।

हमारे देश के शिक्षा-अधिकारियों के सामने एक दूसरी समस्या भी है और वह यह कि भारतवर्ष की अंग्रेजी काल की शिक्षा-प्रणाली में सुधार किया जाय। इस पुरानी शिक्षा-प्रणाली से देश के नवयुवकों का न चरित्र-निर्माण ही होता था और न वे स्कूलों और कालेजों से निकलकर किसी प्रकार का स्वतन्त्र व्यवसाय ही कर सकते थे। यह शिक्षा केवल अंग्रेजो के सहायतार्थ एक क्लर्कों की श्रेणी उत्पन्न करने का काम देती थी। भारत के वातावरण और उसकी आवश्यकताओं के यह सर्वथा विपरीत थी। आज हमारी राष्ट्रीय सरकार इस शिक्षा-प्रणाली को ऊपर से नीचे तक बदलने का प्रयत्न कर रही है। शिक्षा का पुराना ढाँचा इतना दूषित है कि उसमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करने से काम नहीं चल सकता। किसी देश की शिक्षा-प्रणाली उस देश की जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। हमारे देश मे जिस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता है वह यह है कि शिक्षा इस प्रकार की हो जो प्रत्येक भारतवासी के हृदय मे देश-प्रेम और स्वतन्त्रता का बीज बो सके और उन्हें स्वावलम्बी बना सके। उचित प्रकार की शिक्षा पर ही हमारे देश का भविष्य निर्भर है।

§ २. दण्ड

सामाजिक जीवन की दूसरी आवश्यक संस्था दण्ड है। राज्य का कार्य समाज में अनुशासन रखना और नागरिकों के कार्यों को शिक्षा और दण्ड रूपी दो शस्त्रों के द्वारा नियत्रित करना है। शिक्षा के द्वारा नागरिको को उनके अधिकार और कर्तव्यों का वास्तविक ज्ञान कराया जाता है जिससे वे अपने अधिकारों को समझकर अपने कर्तव्यों का शान्तिपूर्वक पालन कर सकें। दंड के द्वारा ऐसे नागरिको पर नियत्रण रक्खा जाता है जो अपने कर्नव्यो का पालन स्वयं नही करते और दूसरो के अधिकारों पर आक्रमण करते हैं।

दंड की व्याख्या—हम दण्ड की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि दण्ड एक ऐसे व्यक्ति के अधिकारों का, उसे विशेष कष्ट देकर अथवा बिना कष्ट दिये, अपहरण करना है जो दूसरे मनुष्यों अथवा सारे समाज के अधिकारों की अवहेलना करता हो।

दंड का प्रयोजन

समाज का प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही कर्तव्यो का पालन करे, दूसरे के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न न करे, यही दण्ड का प्रयोजन है। हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की अधिक से अधिक उन्नति केवल उसी अवस्था में कर सकता है जब समाज द्वारा उसे जीवन की विशेष सुविधाएँ प्राप्त हों। इन सुविधाओं का नाम ही 'मनुष्य के अधिकार' है। मुझे शिक्षा प्राप्त करने, घर बसाने और अपने विचारो को दूसरो पर व्यक्त करने आदि की सुविधाओं का प्राप्त होना ही मेरे अधिकारों की प्राप्ति है। मनुष्य को

समाज में रहकर यह अधिकार केवल उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं जब वह अपने कर्तव्यों का पालन करे। दूसरे शब्दों में, जब वह दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की अवहेलना न करे। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दूसरे के अधिकारों की भी उतनी ही रक्षा करे जितनी वह स्वयं अपने अधिकारों की करता है। समाज में दण्ड की व्यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न करे तो उसे शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक क्षति पहुँचाकर ऐसा करने से रोका जाय।

दंड के सिद्धान्त

दण्ड के उद्देश्यों के सम्बन्ध में तीन भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं: **(१) प्रतिशोधक सिद्धान्त** (Retributive Theory,), **(२) भयावह सिद्धान्त** (Deterrent Theory) और **(३) सुधारक सिद्धान्त** (Reformatory or Curative Theory)।

प्रतिशोधक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड किसी व्यक्ति के सामाजिक नियमों के विरुद्ध आचरण करने का स्वाभाविक परिणाम है। अपराधी इस प्रकार का कार्य कर समाज के नैतिक जीवन को ठेस पहुँचाता है। दण्ड इस प्रकार के आचरण का मूल्य है। बाइबिल में कहा है, 'पाप का वेतन मौत है'। प्रतिशोध सिद्धान्त में इसी आधार पर दण्ड दिया जाता है। 'जैसा करोगे वैसा पाओगे'—यही इस सिद्धान्त का आधार है। जिस प्रकार बीमार के लिए दवाइयाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार अपराधी के लिए दण्ड की व्यवस्था अनिवार्य है। दण्ड अपराध का मूल्य है। अपराधी अपने कृत्य द्वारा सामाजिक संगठन को अस्त-व्यस्त करता है। इसलिए समाज उसे, उसके कृत्य का, दण्ड द्वारा बदला देती है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी स्वयं अपने नैतिक विकास के लिए दण्ड को सहर्ष स्वीकार करता है। वह भविष्य में ऐसा कार्य न करे, इसलिए दण्ड की व्यवस्था है।

दूसरी दृष्टि से इस सिद्धान्त पर हम इस प्रकार विचार कर सकते हैं कि जिस व्यक्ति के साथ अन्याय किया गया है उसे अन्याय करनेवाले से बदला लेने का अधिकार है। बिना बदला लिये उसकी व्यथित भावनाएँ सन्तुष्ट नहीं होतीं। उसकी न्याय की भावना तब तक शान्त नहीं होती जब तक वह आँख के बदले आँख, कान के बदले कान और दाँत के बदले दाँत नहीं निकाल लेता। इसलिए राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सताये हुए मनुष्य की सतानेवाले मनुष्य को कुछ दण्ड देकर क्षति-पूर्ति करे। दण्ड के इस सिद्धान्त के अनुसार सताये हुए व्यक्ति की त्रस्त भावना को शान्त करने के उद्देश्य से ही दण्ड दिया जाता है।

प्राचीन समय में अपराधियों को दण्ड देने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता था। किन्तु वर्तमान समय में इस सिद्धान्त के नैतिक मूल्य को छोड़कर शेष दिशाओं में इसे निकम्मा समझा जाता है; क्योंकि दण्ड का उद्देश्य समाज में बर्बरता को बढ़ाना नहीं, उसको

कम करना है। अपराधियों को दण्ड इसलिए देना चाहिए कि वे भविष्य में फिर कभी इस प्रकार का कार्य न करें और उनको दिये गये दण्ड से जनता के दूसरे लोग यह शिक्षा ग्रहण करें कि यदि उन्होंने भी इसी प्रकार का कार्य किया तो उनकी भी यही दशा होगी। दण्ड देने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं, समाज को होना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति को वे अधिकार जिनकी अवहेलना के लिए दण्ड दिया जाता है, समाज द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

भयावह सिद्धान्त—दण्ड का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे भयावह सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि वह स्वयं या उसी प्रकार के दूसरे अपराधी भविष्य में अपराध न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड बहुत कड़ा और बहुत अधिक मात्रा में दिया जाता है। अपराध के विचार से उसकी मात्रा आवश्यकता से अधिक रहती है। इस प्रकार के दंड देने का उद्देश्य यह होता है कि समाज के समान विचारवाले दूसरे मनुष्य सावधान हो जायँ और भविष्य में ऐसे अपराध न करें। इस दण्ड का उद्देश्य नागरिको के हृदय में भय उत्पन्न करना होता है जिससे कि समाज का कोई व्यक्ति ऐसे अपराधों की पुनरावृत्ति करने की कल्पना तक न कर सके।

सुधारक सिद्धान्त—दंड का एक तीसरा भी सिद्धान्त है जिसे सुधारक सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में अपराध केवल उसी अवस्था में होते हैं जब मनुष्यों को ठीक प्रकार की शिक्षा न दी जाय या सामाजिक संगठन अन्यायपूर्ण हो या समाज के कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में कोई खराबी हो। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अपराधी को दंड देने की अपेक्षा, अपराध किस लिए किया गया है, इसका क्या कारण हो सकता है, क्या अपराध का कोई सामाजिक कारण है या वैयक्तिक इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है। सुधारक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिको का ऐसा मत है कि समाज में अधिकतर अपराध इस कारण से होते हैं कि अपराधियों के मस्तिष्क में, किन्हीं कारणों से कोई ऐसा दोष आ जाता है जिसके कारण वह समाज के दूसरे सभ्य नागरिकों की भाँति आचरण नही कर पाते और कुछ न कुछ पाप कर डालते हैं। ऐसे अपराधियों को यदि उपयुक्त वातावरण में रखकर ठीक प्रकार की शिक्षा दी जाय तो ऐसे लोग समाज के दूसरे लोगों की भाँति ही उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। भयावह सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को दंड देने से वह और भी भयानक अपराधी बन जाते हैं। जेल के दूषित वातावरण में पलकर अपराधियों में प्रायश्चित्त की भावना नही, वरन् प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है। सुधारक सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों के साथ ठीक उसी प्रकार व्यवहार किया जाता है जैसा कोई डाक्टर अपने रोगी के साथ करता है। अपराध भी एक रोग है और अपराधियों के रोग को समझकर उसका इलाज करना चाहिए। सुधारक सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को बन्दीगृहों में नहीं, सुधारक-गृहों में रखना चाहिए जहाँ धार्मिक और औद्योगिक शिक्षा द्वारा वे समाज के उपयोगी सदस्य

बन सकें। हमारे देश के महान् नेता महात्मा गांधी भी इसी सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

आधुनिक सिद्धान्त—दंड का आधुनिक सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों के गुणों के एकीकरण का प्रतिफल है। यह इन सिद्धान्तों की सारी ही अच्छी बातों को स्वीकार करता है। प्रतिशोधक सिद्धान्त का प्रयोग दीवानी मुकदमों में किया जाता है, भयावह सिद्धान्त का प्रयोग पुराने और कट्टर अपराधियों के साथ किया जाता है और सुधारक सिद्धान्त का उपयोग बालक और प्रथम अपराधियों के साथ व्यवहार करने में किया जाता है दंड देने के समय अपराधी की अवस्था, उसका चाल-चलन, उसका कुल, उसका सामाजिक रहन-सहन, अपराध का स्वरूप, उसका उद्देश्य, उत्तेजना की मात्रा इत्यादि अनेक बातें को ध्यान में रक्खा जाता है। बालक अपराधियों को सुधारक-गृहों (Reformatories) में रक्खा जाता है, प्रथम अपराधियो को उचित चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है और पुराने कट्टर अपराधियों को घोर कारावास का दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी मृत्यु दण्ड भी दिया जाता है। दण्ड पर्याप्त और उचित है या नही इसकी परीक्षा समाज की भलाई से की जाती है।

§ ३. सम्पत्ति

सामाजिक जीवन में निजी सम्पत्ति की संस्था एक आवश्यक शक्ति है। निजी सम्पत्ति का अर्थ किसी व्यक्ति की उस भूमि, जायदाद या सामान से है जिस पर उसका कानूनी अधिकार हो और जिसका वह पूर्ण रूप से अपनी इच्छा के अनुसार भोग कर सके। किसी सम्पत्ति का अधिकार मनुष्य के केवल उस पर अधिकार कर लेने से ही नहीं हो जाता अपितु उस अधिकार को समाज को स्वीकार करना पड़ता है और उसकी रक्षा करनी पड़ती है। यदि राज्य अपनी शक्ति के द्वारा उस सम्पत्ति की दूसरों के आक्रमणों से रक्षा न करे तो उसका अस्तित्व ही नही रह सकता। इसके अतिरिक्त जायदाद, सामान या भूमि का सामाजिक कार्य और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण ही मूल्य होता है। हीरे या मोतियों का उस समय तक कोई मूल्य नही होता जब तक समाज उनका उपयोग स्वीकार न करे। अतएव समाज को व्यक्तियों की निजी संपत्ति पर कुछ विशेष नियंत्रण रखने का अधिकार है। किसी व्यक्ति की संपत्ति इसलिए उसकी निजी सपत्ति नही कहलाती कि उस पर केवल वही व्यक्ति नियंत्रण रख सकता है और समाज नहीं, वरन् इसलिए कि समाज ने उस व्यक्ति को अपनी संपत्ति पर सामाजिक हित और अपनी निजी भलाई के लिए उपयोग करने की सुविधा दी है।

सम्पत्ति की उत्पत्ति—संपत्ति की उत्पत्ति मानव-व्यक्तित्व की आवश्यकताओं और स्वभाव से हुई। मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने और उसके व्यक्तित्व का विकास करने के लिए सम्पत्ति का अधिकार अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ लेखकों का मत है कि निजी सम्पत्ति की प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि सांसारिक युद्ध की प्रथा। सभ्यता के प्रसव-काल में विजेता लोग पराजित लोगों की भूमि और दूसरी भारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेते थे। युद्ध से लूटा हुआ सामान सैनिकों में बाँट दिया जाता था। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की सस्था का जन्म हुआ।

एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक लॉक (Locke) का मत है कि निजी सम्पत्ति का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्य धन की उत्पत्ति के लिए अपने परिश्रम को प्रकृति की स्वतन्त्र देन मे मिश्रित करने लगा। यह सिद्धान्त संपत्ति का उत्पादन अथवा श्रम-सिद्धान्त कहलाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि निजी संपत्ति की सस्था बहुत प्राचीन है। संभवतः वह वर्तमान राज्य से भी अधिक प्राचीन है। वर्तमान राज्य की बनाई हुई व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा के कानूनों से इसकी अधिक महत्ता बढ़ गई है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से लाभ

व्यक्तिगत सपत्ति की प्रथा का जन्म' जैसा पहले कहा जा चुका है, मनुष्य की आवश्यकताओं और स्वभाव से हुआ। इस सस्था के अनेक लाभ है :—

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति से मनुष्य के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। जिस व्यक्ति के पास धन है वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है : धन के बिना मनुष्य न अपनी भूख ही शान्त कर सकता है और न अपनी दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति। धन के अभाव में उसका जीवन दुखी बन जाता है और उसे कितनी ही रातें बिना भोजन के बड़ी व्याकुलता के साथ बितानी पड़ती हैं।

(२) धन के द्वारा सदाचार की उन्नति होती है। जिस व्यक्ति के पास धन होता है उसे किसी से डरने या किसी की खुशामद करने की आवश्यकता नही रहती। वह अपने विचारों में स्वतन्त्र, विश्वासों में दृढ़ और अपने व्यवहार में निष्कपट रह सकता है। इसके विपरीत एक दरिद्र व्यक्ति को अधिकार-प्राप्त पुरुषों की चापलूसी करनी पड़ती है। उसे चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिए अपने मत का बलिदान करना पड़ता है और कभी-कभी तो परिस्थितियों से विवश होकर उसे चोर और डाकुओं का-सा निन्दनीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

(३) धन के अधिकार से व्यक्ति गम्भीर और सावधान बन जाता है। धनवान् लोगों को देश की अव्यवस्था से भारी खतरा बना रहता है, इसलिए ऐसे लोग निःशृंखल नही बन सकते। वे देश की सरकार को शक्तिशाली बनाने में हर प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं।

(४) जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति रहती है वह अपने जीवन को सुन्दर और कलापूर्ण

बना सकता है। वह अपने अवकाश का प्रयोग अपनी शक्तियों की कला और संस्कृति की उन्नति में लगाकर कर सकता है।

(५) सम्पत्ति के बिना मनुष्य में स्वाधीनता और आतिथ्य के गुण विकसित नही हो सकते। जिस व्यक्ति के पास अपनी ही भूख मिटाने के लिए धन नही वह दूसरा की सहायता कहाँ से कर सकता है ?

(६) सम्पत्ति-प्रथा कार्य करने की अधिक स्फूर्ति उत्पन्न करती है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में निजी लाभ की आशा एक आवश्यक अंग है। निजी सम्पत्ति की प्रथा को नष्ट करने से मनुष्य में कार्य करने की स्फूर्ति नहीं रहती। वह केवल उतना ही कार्य करता है जितना उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्तियों के काम करने से समाज की आयु घट जाती है और देश की आर्थिक स्थिति को भारी धक्का पहुँचता है।

(७) निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य अपनी आय में से कुछ न कुछ बचाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार देश की सम्पत्ति बढ़ जाती है।

(८) निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है और वह उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति में अपना समय व्यतीत कर सकता है।

हानियाँ

निजी सम्पत्ति की प्रथा से जहाँ इतने लाभ होते हैं वहाँ उससे कुछ हानियाँ भी होती हैं। इनमें से कुछ हानियों का वर्णन नीचे किया जाता है :—

(१) निजी सम्पत्ति की प्रथा पर यदि उचित नियन्त्रण न रक्खा जाय तो इससे धनी लोगों को गरीबों का खून चूसने का अवसर मिलता है और इससे समाज में अशान्ति फैलती है। लड़ाई के समय में और उसके पश्चात् आज तक भी किस प्रकार धनी व्यापारियों ने अपने पैसे के बल से जनता के उपयोग की सभी वस्तुओं पर अधिकार जमाया और किस प्रकार चोर बाजार को जन्म दिया यह आज सभी लोग भली भाँति जानते हैं।

(२) निजी सम्पत्ति की प्रथा से धनी अधिकाधिक धनी और गरीब अधिकाधिक गरीब बनते जाते हैं। धनी लोगों के पास सम्पत्ति बहुत तेजी से बढ़ती है। जो मनुष्य जीवन में अधिक अच्छे पदों पर स्थित होते हैं, उन्हे अधिक वेतन, अधिक भत्ता, बिना किराये के बँगले, नौकर आदि मिलते हैं। वे अपनी पिछली बचत से ब्याज प्राप्त कर सकते हैं, मकान आदि खरीदकर उनका किराया खा सकते हैं और अपनी इकट्ठी की हुई पूँजी से कोई भी व्यवसाय आरम्भ कर सकते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति उन लोगों के पास चली जाती है जिन्हें उसकी बहुत कम आवश्यकता रहती है।

(३) निजी सम्पत्ति की प्रथा से समाज में असमानता उत्पन्न होती है और समाज अमीर और गरीब दो युद्धशील वर्गों में विभाजित हो जाता है।

(४) निजी संपत्ति की प्रथा समानता के विचार से ही नहीं, योग्यता की दृष्टि से भी अनुपयुक्त है। भूमि और संपत्ति के उचित प्रबन्ध के लिए कुशल और योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है; परन्तु इस पूंजीपति-युग में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि पूंजीपतियों के उत्तराधिकारी अयोग्य व्यक्ति हुआ करते हैं। वे बिना परिश्रम के ही अपार संपत्ति प्राप्त कर लेते हैं और इस कारण उस धन का दुरुपयोग—मदिरापान, वेश्यागमन आदि विषय-वासनाओं की तृप्ति में करते हैं। समाज का अपार धन जो योग्य व्यक्तियों के हाथ में होने से देश की उन्नति के काम आ सकता है, इस प्रकार व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।

(५) निजी संपत्ति की प्रथा मनुष्य में मिथ्याभिमान और गर्व की भावना को जन्म देती है। धनी होते ही लोग गरीबों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं।

(६) यह प्रथा समाज में निकम्मे और पराश्रित व्यक्तियों का एक वर्ग उत्पन्न कर देती है। जमीदार, ताल्लुकेदार और दूसरे बड़े-बड़े पूंजीपति बिना किसी प्रकार के परिश्रम के बहुत-सा धन पैदा कर लेते हैं। देश की संपत्ति को बढ़ाने में इन लोगों का किसी प्रकार का भी हाथ नहीं होता। फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

(७) इस प्रथा से मनुष्य के आचरण में अभिमान, असहिष्णुता, अश्रद्धा, बेईमानी और दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्तमान समाज में धन बेईमानी और दगाबाजी से पैदा किया जाता है, ईमानदारी से नहीं।

(८) इस प्रथा से समाज में एक शोषित वर्ग उत्पन्न हो जाता है। राज्य में शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में चली जाती है जो सर्वसाधारण पर अपना प्रभुत्व और एकाधिपत्य स्थापित करने के लिये हर प्रकार का कार्य करने को उद्यत रहते हैं। सम्पत्ति के समुचित नियंत्रण और धन के समान विभाजन के बिना प्रजातंत्र शासन केवल एक ढकोसला है। धन के कारण दरिद्र-मतदाताओं को आसानी से ठगा जा सकता है और इस प्रकार शासन की बागडोर केवल पूंजीपतियों के हाथ में सुरक्षित बनी रहती है।

योग्यता-प्रश्न

१. दंड के भिन्न-भिन्न प्रयोजन कौन से हैं? (यू० पी०, १९३०, १९४७)

२. राज्य का दंड देने का अधिकार किन कारणों पर आश्रित है? (यू० पी०, १९३२)

३. भारत में सामूहिक शिक्षा की समस्या का विवेचन कीजिये। इस समस्या को हल करने के लिये आप कौन-सी युक्तियाँ ठीक समझते हैं?

४. संस्थाओं से आप क्या समझते हैं? वे कौन से भय हैं जिनसे संस्थाओं को बचना चाहिये? उनके अस्तित्व का क्या प्रयोजन है।

५. शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक असफल रही है ? (यू० पी०, १९३८)

६. सम्पत्ति की उत्पत्ति कैसे हुई ? व्यक्तियों को सम्पत्ति पर अधिकार करने की आज्ञा किन कारणों से होनी चाहिये ? (यू० पी०, १९३८)

७. एक प्रजातंत्र शासन चलाने के लिये विस्तृत-रूप में शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, इस कथन की आलोचना कीजिये। (यू० पी०, १९४०)

८. शिक्षा का प्रचार लोक राज्य की स्थापना के लिये आवश्यक है। आलोचना करें। (यू० पी०, १९४१)

९. प्रत्येक राष्ट्र की नींव उसके नवयुवकों की शिक्षा पर खड़ी होती है, समझाइये। (यू० पी०, १९४५)

१०. वह दो संस्थाएँ जिन पर सारे सभ्य समाज की नींव खड़ी है, कुटुम्ब और संपत्ति हैं। समझाइये। (यू० पी०, १९४९)

अध्याय २३

नागरिक आदर्श

नागरिक जीवन में अधिकारों का स्थान

इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में हमने नागरिक जीवन का अर्थ तथा राज्य के संगठन का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह सब कुछ समझने के पश्चात् आवश्यक है कि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वास्तव में नागरिक जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए? हम देख चुके हैं कि समाज का एक आदर्श नागरिक वही है जिसका जीवन अपने कर्तव्यों के उचित पालन तथा अधिकारों के समुचित ज्ञान पर अवलम्बित हो। हम यह देख चुके हैं कि नागरिक जीवन में विचार-स्वतन्त्रता, भाषण-स्वतन्त्रता तथा संगठन-स्वतन्त्रता का क्या महत्त्व है? जिस नागरिक के जीवन में इन स्वतन्त्रताओं को कोई स्थान नहीं मिलता, जो एक ऐसी सरकार के अन्तर्गत रहता है जो नागरिकों को किसी प्रकार के सामाजिक अधिकार प्रदान नहीं करती, जिस राज्य के अन्तर्गत सदा जीवन का भय बना रहता है, जहाँ जनता को जीविका उपार्जन के साधन नहीं मिलते, जहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं होती तथा जहाँ जनता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर व्यक्त नहीं कर सकती, उस देश की जनता एक सुखी तथा उन्नतिशील जीवन व्यतीत नहीं कर सकती।

पिछले महायुद्ध के समय प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने कहा था कि प्रत्येक नागरिक को चार स्वतन्त्रताओं का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए।

(१) Freedom from wants (भूखा मरने के भय से स्वतन्त्रता)।

(२) Freedom from fear (हर प्रकार के जीवन के प्रत्येक भय से स्वतन्त्रता)।

(३) Freedom of conscience (किसी भी धर्म में विश्वास करने की स्वतन्त्रता)।

(४) Freedom of speech (भाषण और विचार की स्वतन्त्रता)।

यदि संसार का संगठन इन चार स्वतन्त्रताओं के आधार पर किया जाय, यदि कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण न करे, यदि साम्राज्यवाद की भावना का संसार से लोप हो जाय, यदि प्रत्येक मनुष्य को उसके आर्थिक अधिकार मिल सकें, तो इस पृथ्वी पर एक स्वर्गीय आनन्द की स्थापना हो सकती है। नागरिकशास्त्र उसी विद्या का नाम है जो हमें इस पृथ्वी पर रहते हुए, हमारे सामाजिक जीवन में उन अच्छाइयों का निर्माण करना

सिखाती है, जिससे सारा ही विश्व, एक निरन्तर बहते हुए पानी के झरने के समान एक आनन्दमय जीवन का अनुभव कर सके। नागरिकता का आधार इसलिए मनुष्य के उन अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा पर निर्भर है जिनके द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास कर सकता है।

परन्तु यहाँ यह भी पूर्णरूप से समझ लेने की आवश्यकता है कि अधिकारों की रक्षा ही नहीं, मनुष्य के जीवन में कर्तव्य पालन की भावना भी उतनी ही या शायद यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी, कि उससे भी अधिक, महत्ता रखती है। एक आदर्श नागरिक को जानना चाहिए कि उसके भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा समुदायों के प्रति क्या कर्तव्य हैं और यदि उसके एक संस्था तथा दूसरी संस्था के प्रति कर्तव्यों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाय तो वह उसका किस प्रकार निवारण करे।

नागरिकता मनुष्य के भिन्न-भिन्न समुदायों के प्रति कर्तव्यों के उचित क्रम-निर्माण पर अवलम्बित है। (Citizenship consists in the right ordering of loyalties)

मनुष्य के जीवन में कितने ही ऐसे अवसर आते हैं जब उसके एक समुदाय और दूसरे समुदाय के प्रति कर्तव्यों में भारी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ हमारा अपने परिवार के प्रति कर्तव्य है कि हम अपने बच्चों का पालन-पोषण करें, उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा दें, इत्यादि। हमारा राष्ट्र के प्रति कर्तव्य है कि यदि देश की स्वतन्त्रता को खतरा हो तो हम तुरन्त ही फौज में भर्ती होकर अपने देश की रक्षा का कार्य अपने कन्धों पर सँभाल लें। प्रश्न उठता है कि इन दो समुदायों के प्रति हमारे कर्तव्यों में जो संघर्ष है, उसे किस प्रकार दूर किया जाय? राष्ट्रीय संकट के समय क्या हमें घर पर रुककर अपने परिवार की सेवा करनी चाहिए या सेना में भर्ती होकर अपने देश की रक्षा करनी चाहिए? इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी ले लीजिए। हमारे घर में कोई बच्चा बीमार है, उसकी सेवा-सुश्रूषा करना हमारा धर्म है, पड़ोस के एक मकान में आग लगी है, एक अजीब कोलाहल तथा कुहराम मचा है। हमें क्या करना चाहिए—रोगी की सेवा अथवा पड़ोसी की आग से रक्षा? मनुष्य के जीवन में न मालूम कितने प्रकार के संघर्ष पैदा होते हैं। नागरिकशास्त्र हमें इन संघर्षों को मिटाने का सही मार्ग बतलाता है। वह कहता है कि एक बड़े हित की साधना के लिए हमें छोटे और संकुचित हित का बलिदान कर देना चाहिए। हिन्दूशास्त्र भी हमें यही शिक्षा देते हैं। मनुस्मृति में एक श्लोक में कहा गया है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

इस श्लोक का अर्थ है कि मनुष्य को अपने कुल के लिए देह को, ग्राम के लिए कुल को, देश के लिए ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी तक को छोड़ देना चाहिए। नागरिकशास्त्र की यही अनुपम शिक्षा है।

मनुष्य-जीवन का शक्ति आदर्श

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य किसलिए अपने अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा या अपने कर्तव्यों की पूर्ति के झमेले में पड़ता है? संसार के अधिकतर मनुष्य कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों की अधिक परवाह करते हैं। वह चाहते हैं कि उनके सभी अधिकार सुरक्षित रहें, और वह स्वयं अपने कर्तव्यों का पालन करें या न करें। परन्तु प्रश्न उठता है कि मनुष्य किसलिए यह अधिकार चाहता है? क्या वह अधिकारों के द्वारा संसार का एक ऐसा व्यक्ति बनना चाहता है जिसकी शक्ति तथा प्रभुता के सामने सारा विश्व थर्राये? क्या वह शक्ति का संचय करके अपने देश के नागरिकों को अपने नीचे दबाना तथा अपनी स्वार्थसिद्धि एवं एक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने की इच्छा से उनका शोषण करना चाहता है? क्या वह अपने देश के नागरिकों के अधिकारों का हनन करके संसार के दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वाधीनता को भी छीनना चाहता है? यदि मनुष्य अपने नागरिक जीवन का यही आदर्श बनाये जिसमें कि साम्राज्यवादी (Imperialist) तथा फासिस्ट (Fascist) लोग ही विश्वास रखते हैं तो वह आदर्श नागरिकशास्त्र द्वारा प्रतिपादित जीवन का नहीं, वरन् एक राक्षसी विद्या के जीवन का आदर्श कहा जा सकता है। इसी शक्ति-सिद्धान्त के कारण संसार में अधिकतर प्रलयकारी युद्ध होते हैं; इसी सिद्धान्त में विश्वास के कारण पिछले दो महायुद्धों में हजारों और लाखों व्यक्तियों ने रणचण्डी के चरणों में अपने मधुर जीवन के पुष्प चढ़ाये। इसी राक्षसी प्रवृत्ति के कारण असंख्य नारियों और अबोध बालकों ने अपने पति और संरक्षकों का बलिदान किया, इसी भावना के आधार पर आज भी सारा विश्व भूख, महामारी तथा बेकारी की आग में झुलस रहा है।

सेवा या कर्तव्य-पालन का सिद्धान्त

एक आदर्श नागरिक को इसलिए शक्ति-सिद्धान्त का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। उसे अपने जीवन का लक्ष्य संसार के दुखी, अपाहिज, भूख से पीड़ित तथा दरिद्रता से त्रस्त जनता की सेवा बनाना चाहिए। सेवा-धर्म की शिक्षा नागरिकशास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा है। यही एक अच्छे नागरिक जीवन का आदर्श है। विश्व के सारे धर्म, हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र, संसार के सब महान् व्यक्ति, हमारे परम पावन अवतार—सब हमें इसी आदर्श की शिक्षा देते हैं। हमारा धर्म है कि हम अपने जीवन में दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा, अपने जीवन का ध्येय बनाएँ। हम अपने अन्दर पाशविक शक्ति का नहीं,

वरन् एक आत्मिक शक्ति का संचार करें। हमारा सारा जीवन सहयोगपूर्ण, संयमी, अनुशासित, प्रेम से ओत-प्रोत, घृणा और स्वार्थपरता से दूर, सेवा और बलिदान की भावना से प्रभावित बने। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में घृणा के स्थान पर प्रेम, संघर्ष के स्थान पर सहयोग, अविश्वास के स्थान पर विश्वास और भेद-भाव के स्थान पर सहिष्णुता का पाठ सीखें। यदि संसार के सारे मनुष्य अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य-पालन की भावना पर अधिक जोर दें तो रक्षा स्वयं ही हो जायगी, परन्तु इन सबसे बढ़कर संसार का सारा समाज एक ऐसे निरन्तर तथा अविच्छिन्न आनन्द का अनुभव कर सकेगा जो केवल स्वर्गीय जीवन में ही मिल सकता है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की भी यही शिक्षा थी। उन्होंने संसार के सभी मनुष्यों को प्रेम, अहिंसा कर्तव्य-पालन तथा एक नैतिक जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिक आदर्श, नागरिकशास्त्र की शिक्षा, संसार के समस्त धर्म तथा हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के उपदेशों में कितनी समानता है। जीवन में कर्तव्य-पालन तथा सेवा की भावना नागरिक जीवन का सबसे उच्च आदर्श है। यही इस शास्त्र की शिक्षा का निचोड़ है।

योग्यता-प्रश्न

१. स्वाधीन भारत के नागरिक का नागरिक आदर्श क्या होना चाहिये ? (यू० पी०, १९५२)

उपसंहार

Hindi Equivalents of Political Terms used in English

Absent Voting	अनुपस्थित मतप्रदान
Absolute	पूर्ण, अनियंत्रित
Absolute Majority	स्वतन्त्र बहुमत
Absolute Monarchy	निरंकुश राजतन्त्र
Adjournment Motion	काम-रोको प्रस्ताव
Advisory Council	परामर्श-परिषद्, सलाहकारी मंडल
Agent Polling	उम्मेदवार का एजेण्ट
Anarchism	आराजकतावाद
Anarchist	अराजक
Anarchy	अराजकता
Arbitrary	स्वेच्छाचारी
Arbitration	मध्यस्थ का निर्णय, पंच निर्णय
Aristocracy	कुलीन-तन्त्र
Assembly	सभा
Assembly Constituent	संविधान सभा
,, ,, Legislative	विधान सभा, धारा सभा
Autocracy	निरंकुश तन्त्र, स्वेच्छाचारी तन्त्र
Autocrat	निरंकुश, स्वेच्छाचारी
Autonomy Provincial	प्रांतीय स्वराज्य
Award	पंच निर्णय; फैसला
Balance of Power	शक्ति-सन्तुलन, शक्ति-साम्य
Ballot	मत-पत्र
Ballot-box	चुनाव पेटी
Benevolent despot	हितैषी स्वेच्छाचारी
Blue-book	सरकारी रिपोर्ट
Bonafide	प्रामाणिक; विश्वसनीय
Bourgeoisie	मध्यम श्रेणी का व्यक्ति
Budget	आय-व्यय अनुमान पत्र, आयव्ययक
Buffer State	उदासीन राज्य
Bureaucracy	नौकरशाही
Bye-election	उपनिर्वाचन

Bye-law	उपनियम
Cabinet Government	मंत्रिमण्डलात्मक सरकार, संसदीय सरकार
Candidature	उम्मेदवारी
Cast a Vote	मत देना, वोट देना
Casting Vote	निर्णायक मत
Catchword	संकेत शब्द
Caucus	गुप्त चुनाव कमेटी
Censure, Vote of	निन्दात्मक प्रस्ताव
Census	जन-गणना
Civil Government	असैनिक सरकार
,, Law	दीवानी कानून, असैनिक कानून
,, Liberty	नागरिक स्वतन्त्रता
Class Representation	श्रेणी-प्रतिनिधित्व
,, Struggle	श्रेणी संघर्ष
Class War	श्रेणी युद्ध
Classification	श्रेणी विभाग
Clause	धारा
Coalition Ministry	सम्मिलित मंत्री-दल
Commonwealth	पंचायती राज्य
Communal award	साम्प्रदायिक निर्णय
,, Electorate	साम्प्रदायिक निर्वाचक संघ
,, Representation	साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व
Communalism	साम्प्रदायवाद
Communism	साम्यवाद
Constituency	निर्वाचन-क्षेत्र
Constituent Assembly	संविधान सभा
Constitution	संविधान
Constitution, Flexible	सुपरिवर्तनशील संविधान
,, ,, Rigid	दुष्परिवर्तनशील संविधान
Constitutional	संविधान सम्बन्धी
Constitutional Law	संवैधानिक कानून
Constitutional Monarchy	संवैधानिक राजतंत्र
Constitutionalism	संविधानवाद
Constructive	रचनात्मक
Consul	एलची

Contract theory	समझौता सिद्धान्त, संविदा सिद्धान्त
Co-opted Member	मिलाये हुए सदस्य
Council of State	राज्य-परिषद्
Coupd' etat	आकस्मिक राज्यपरिवर्तन
Court Criminal	फौजदारी अदालत, दड-न्यायालय
Court Martial	सैनिक न्याय-सभा
Covenant	प्रतिज्ञा-पत्र
Cumulative Voting	एकत्रित मतप्रदान
Customs	आयात-निर्यात कर
De-jure Sovereignty	विधानतः राजसत्ता
Demogogue	सिद्धान्तहीन नेता
Democracy	प्रजातत्र
Despotic	स्वेच्छाचारी
Despotic Government	स्वेच्छाचारी सरकार
Dictator	तानाशाह
Diplomacy	कूटनीति
Diplomat	कूटनीतिज्ञ
Disfranchisement	मताधिकार हरण
Ecclesiastical	धर्म सम्बन्धी विभाग
Election	चुनाव
„ Bye	उपचुनाव
„ Direct	प्रत्यक्ष चुनाव
Election Fever	चुनाव की सरगर्मी
„ Indirect	अप्रत्यक्ष चुनाव
Elector	निर्वाचक
Electoral Campaign	निर्वाचन-युद्ध
„ College	निर्वाचक मंडल
„ List	„ सूची
„ Right	निर्वाचन अधिकार
Electoral Roll	निर्वाचक-सूची
Electorate	निर्वाचक
Embassy	दूतावास
Enfranchisement	मताधिकार-प्रदान
Exchequer	कोष
Exchequer, Chancellor of	राजस्व मन्त्री

Excluded Area	पृथक्क्षेत्र
External Sovereignty	बाह्य राजसत्ता या बाह्य संप्रभुता
Extraordinary Session	असाधारण अधिवेशन
Federal	संघीय
,, Government	संघ-सरकार
,, Court	संघ-न्यायालय
Federalism	संघवाद
Federalist	संघवादी
Federal Law	सघीय कानून, संघीय विधान
Federal State	संघीय राज्य
Federation	संघ
Female Franchise	स्त्री मताधिकार
Feudal System	सामन्त प्रथा
Finance	राजस्व-शासन
Flexibility	परिवर्तनशीलता, लचीलापन
Franchise	मताधिकार
General Election	साधारण निर्वाचन
Government Popular	लोकप्रिय सरकार
,, Presidential	अध्यक्षात्मक सरकार, राष्ट्रपतिक सरकार
,, Unitary	एकात्मक सरकार
Habeas Corpus	शारीरिक स्वाधीनता-पत्र
Impeachment	सार्वजनिक दोषारोपण
Imperialism	साम्राज्यवाद
Imperialist	साम्राज्यवादी
Import	आयात
Initiative	प्रस्तावाधिकार
Interpellation	प्रश्न
Jurisdiction	अधिकार-सीमा
Jurisprudence	कानून-विज्ञान, विधान विज्ञान
Jus Gentium	अन्य जातियों सम्बन्धी कानून
Jus Naturale	प्राकृतिक कानून
Joint Electorate with reservation of seats	सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली
Kinship	जाति सम्बन्ध

Law	कानून, विधान
,, Administrative	शासन सम्बन्धी कानून, शासनीय विधान
,, Constitutional	संवैधानिक कानून
,, Federal	सघ कानून
,, International	अन्तर्राष्ट्रीय कानून
,, Natural	प्राकृतिक नियम
,, Positive	मानवी कानून
,, Private	निजी कानून
,, Public	सार्वजनिक कानून
Legislative Assembly	विधान समा
Legislative Council	विधान परिषद्
Limited Vote Plan	सीमित मत-प्रथा
Mandate	शासनादेश
Matriarchal Theory	मातृप्रधान सिद्धान्त
Monarchical	राजतन्त्रीय
Monarchy	राजतन्त्र
Natural-born citizen	जन्म-जात नागरिक
Naturalized	राजदत्त नागरिक
Naturalisation	नागरिककरण
Nominal Sovereignty	नाम मात्र की राजसत्ता
Ochlocracy	झुड तंत्र
Opening Ceremony	उद्घाटन समारोह
Paramountcy	सर्वोच्चता
Patriarchal State	पितृ-प्रधान राज्य
Patriarchal Theory	पितृ-प्रधान सिद्धान्त
Plutocracy	धनिक तंत्र
Plebiscite	लोकमत संग्रह
Polling Agent	निर्वाचन एजेण्ट
Polling Officer	मत लेनेवाला अफसर
Portfolio	मंत्री का कार्य विभाग
Presidential Government	अध्यक्षात्मक सरकार, राष्ट्रपतिक सरकार,
Prime Minister	प्रधान-मंत्री
Proportional Representation.	आनुपातिक मतप्रदान प्रथा
Quorum	कार्य निर्वाहिक संख्या, गणपूर्ति

Quota	निर्धारित भाग
Republic	लोकतंत्र, गणतंत्र, प्रजातंत्र
Revolution	क्रान्ति
Referendum	जनमत संग्रह
Recall	प्रत्यावर्तन
Secular State	लौकिक राज्य, धर्मनिरपेक्ष राज्य
Socialism	समाजवाद
Sovereignty	राजसत्ता
,, Nominal	नामधारी राजसत्ता
Sovereignty	वास्तविक राजसत्ता
,, De facto	तथ्यतः राजसत्ता
Sovereignty De jure	विधानतः राजसत्ता
,, External	बाह्य राजसत्ता
,, Internal	आंतरिक राजसत्ता
,, Legal	कानूनी, अथवा वैध राजसत्ता
,, Political	राजनीतिक राजसत्ता
Separate Electorate	प्रथम निर्वाचन-प्रणाली
Theocracy	धर्मतंत्र शासन
Titular Executive	धर्मतंत्र शासन
Tyranny	नाममात्र का शासक
Tyrant	अत्याचारी शासन
Universal	सार्वभौम
Universal Suffrage	सर्व मताधिकार
Unwritten Constitution	अलिखित संविधान
Urban Constituency	नगर निर्वाचन-क्षेत्र
Vote of Censure	निन्दात्मक प्रस्ताव
Vote, Single Transferable	एकाकी हस्तान्तरित मत
Voter	मतदाता
Voting by Proxy	प्रतिनिधि द्वारा मतप्रदान
Ways and Means	उपाय और साधन
Weighted Representation	प्रभावयुक्त-प्रतिनिधित्व
Whip of Party	दल उद्‌बोधक
Wirepullers	सूत्रधार
Women Franchise	स्त्री मताधिकार
Written Constitution	लिखित संविधान